
वक्तव्य

गोस्वामी जी के सब ग्रंथों को एकत्र देखने की उत्कंठा हिंदी-प्रेमियों को बहुत दिनों से थी। रामायण के संस्करण तो न जाने कितने निकले, पर और ग्रंथों पर प्रकाशकों की उतनी कृपा न हुई। साधारण जनता के बीच जिस ग्रंथ का उन्होंने अधिक प्रचार देखा, उसी की ओर ध्यान दिया। पर इधर दिन दिन शिक्षित समुदाय हिंदी-कवियों के भावक्षेत्र का पूर्ण अवगाहन करने को उत्सुक हो रहा है। ऐसी दशा में गोस्वामी जी ऐसे सर्वश्रेष्ठ कवि के सब ग्रंथों का शुद्ध उत्तम संस्करण, जिसमें कठिन स्थलों पर टिप्पणियाँ भी हों, परम आवश्यक जान पड़ा।

'रामचरित-मानस' का क्षेपक-रहित शुद्ध संस्करण निकालने का प्रयत्न पहले पहल ग्रियर्सन साहब ने किया। उनके पीछे ना० प्र० सभा ने इस कार्य्य को अपने हाथ में लिया और अनेक पुरानी प्रतियों की सहायता से 'मानस' का सम्पादन किया। कहने की आवश्यकता नहीं, इस ग्रंथावली का सम्पादन भी इसी पद्धति पर हुआ है। इस बार कई और प्राचीन प्रतियाँ हस्तगत हुईं जिनसे पाठ के निर्णय तथा मूल और प्रक्षिप्त के विचार में कुछ अधिक सहारा मिला। जिन पुरानी प्रतियों से प्रधान रूप से सहायता ली गई, वे ये हैं—

(१) राजापुर का हस्तलिखित अयोध्याकांड जो गोस्वामी जी के हाथ का लिखा माना जाता है।

(२) अयोध्या की प्रति (बालकांड) जो गोस्वामी जी के परलोकवास के ११ वर्ष पीछे की लिखी हुई है।

(३) काशिराज की प्रति।

(४) ला० छक्कनलाल का छपाया लीथोवाला संस्करण जो मिरजापूर के प्रसिद्ध रामायणी प० रामगुलाम द्विवेदी की प्रति के आधार पर छपा था।

(५) सदलमिश्र का संस्करण जो वि० सं० १८६७ में कलकत्ते में छपा था।

(६) डेढ़ सौ वर्ष की लिखी एक हस्तलिखित प्रति।

पहले कुछ शब्दों के रूप स्थिर करने के लिये राजापुरवाली प्रति के भीतर छानबीन की गई। सब से अधिक आवश्यकता क्रिया के रूप स्थिर करने की थी। 'गावइ', 'गावै', 'करइ', 'करै' इन दो रूपों में से कौन रूप लिया जाय ? भाषा के इतिहास की दृष्टि से 'गावइ', 'करइ' रूप प्राचीन है। गोस्वामी जी की प्रवृत्ति साधारणतः पुराने रूप रखने की थी, यद्यपि उनका उच्चारण बोलते बोलते उनके समय में ही कुछ बदल गया था, अर्थात् 'अ' 'इ' मिलकर 'ऐ' के रूप में बोले जाने लगे थे। 'करई', 'अनुहरई' आदि अन्त्यानुप्रास उनकी इस प्रवृत्ति का आभास देते हैं, क्योंकि 'करइ' के अंतिम वर्ण को दीर्घ करने से ही 'करई' होता है। पर राजापुर की प्रति में ही 'कहै' और "राखौं" ये चलते रूप भी कहीं कहीं मिलते हैं—जैसे, (क) पुनि धरि धीर कहै नरनाहू। (ख) राखौं सुतहि करौं अनुरोधू। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि तुलसीदास जी की प्रवृत्ति पुराने रूप की ओर अधिक थी, पर इसके लिये उनका कोई कड़ा नियम नहीं था।

इस ग्रंथावली में अयोध्याकांड का पाठ तो नमूने के लिये ज्यों का त्यों राजापुर का रखा गया है, पर और जगह अयोध्यावाली प्रति के अनुसार ऐसे शब्द अपने चलते रूप में ही रखे गए हैं—जैसे करै, चलौं इत्यादि। एक नियम का पता राजापुर की प्रति से [illegible] है। क्रिया के साधारण रूप में करण-कारक का चिह्न जहाँ लुप्त होता है, वहाँ बराबर अंतिम 'ए' पर अनुस्वार मिलता है। यह

अयोध्या के आस-पास बोली जानेवाली शुद्ध अवधी के उच्चारण के भी ठीक अनुकूल है और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी ठीक है—जैसे, पाएँ = पाने से; राखें = रखने से।

पुरानी लिपि में 'ख' का काम 'ष' से लिया जाता था, यह तो पुरानी लिखी पोथी पढ़नेवाले मात्र जानते हैं। इसी प्रकार तालव्य 'श' को दन्त्य 'स' लिखना हिंदी कवियों की बँधी हुई परिपाटी है। पर 'र' के साथ संयुक्त 'श' को गोस्वामी जी ने शुद्ध रूप में ही लिखा है, जैसे, 'श्री' 'श्रवन'।

ऊपर जिन ८ प्रतियों का उल्लेख हुआ है, उनमें प्रथम चार बहुत प्रामाणिक मानी जाती हैं। छक्कनलाल जी की प्रति में शुद्ध पाठ के अतिरिक्त एक और विशेषता यह है कि उसमें बहुत से प्रसंग (विशेषतः 'अरण्य' और 'किष्किंधा' के) जो शेष तीन प्रतियों में हैं, नहीं हैं, अर्थात् क्षेपक माने गए हैं। ऐसे स्थलों पर इस ग्रंथावली में यह किया गया है कि काशिराज और सदल मिश्र दोनों में जो प्रसंग हैं, वे छक्कनलाल में न रहने पर भी रख लिए गए हैं। इंडियन प्रेस से सभा द्वारा सम्पादित जो संस्करण प्रकाशित हुआ था, उसमें ऐसे प्रसंग फुटनोट में डाले गए थे। सदलमिश्र के संबंध में इतना जान लेना ज़रूरी है कि यद्यपि उन्होंने आज से सौ वर्ष पहले रामायण छपाने का प्रशंसनीय कार्य्य किया, पर पंडितों के ढंग पर शब्दों को शुद्ध संस्कृत रूप देकर पाठ बिगाड़ने का रास्ता दिखानेवाले भी वे ही हैं।

इस ग्रन्थावली में तुलसीदास जी के शेष ग्रन्थों का सन्निवेश छक्कनलाल जी के प्रमाण पर किया गया है, क्योंकि रामगुलाम द्विवेदी बड़े प्रसिद्ध भगवद्भक्त और रामायणी थे जिन्होंने गोस्वामी जी के ग्रन्थों की खोज पूरी जाँच के साथ भक्त-परंपरा के बीच की थी। उन्होंने अपने संग्रह में रामायण के अतिरिक्त ग्यारह ग्रन्थ और रखे हैं। अतः दूसरे भाग में वे ही ग्यारह ग्रन्थ लिए गए हैं।

जिनकी लोक-हितकर उदारता से सभा अपने इस चिरभिलषित कार्य्य के सम्पन्न करने में समर्थ हुई, जिनके साहाय्य से सर्व साधारण हिंदीप्रेमियों और रामभक्तों के लिये तुलसी की परम निर्मल भावभूमि में प्रवेश करने का यह सुलभ द्वार खुला, उन विद्यानुरागी प्रजावत्सल अलवर नरेश श्रीमान् महाराज श्री जयसिंह जू देव बहादुर जी० सी० आई० ई० के० सी० एस० आई० को भूरि भूरि धन्यवाद सभा तो दे ही रही है, संपूर्ण हिंदीभाषी जनता भी बराबर देती रहेगी। महाराज की छत्रछाया के नीचे हमारी मातृभाषा को जो आश्रय मिला है, उसे देख उन्नति और समृद्धि की आशा से किसका हृदय पूर्ण न होगा?

इस ग्रन्थावली में गोस्वामी जी के जिस पुनीत चित्र का दर्शन आप कर रहे हैं, वह काशी के उत्साही रईस श्रीयुत रायकृष्णदास जी की कृपा से प्राप्त हुआ है। उनकी इस कृपा के लिये सभा अत्यंत अनुगृहीत है। तुलसीदास जी के दो तीन चित्र अब तक मिले हैं। उनमें यह सब से अधिक प्रामाणिक ठहरता है। यह कल्पित नहीं है, इसका आभास तो उनकी आकृति आदि पर ध्यान देने ही से मिलता है। कल्पित चित्र में शरीर और आकृति जहाँ तक भव्य हो सकती है, बनाने की चेष्टा लक्षित होती है। पर यह चित्र देखने में स्वाभाविक प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि प्रह्लादघाट पर जहाँगीर बादशाह का बनवाया जो चित्र रखा हुआ है, उसके साथ यह बिल्कुल मिलता है। भिन्न भिन्न स्थानों पर के दो चित्रों का इस प्रकार मिलना भी ठीक होने के प्रमाणों में गिना जा सकता है।

प्रस्तावना



जीवन-खंड

(१) आविर्भाव काल

हम्मीर के समय से चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिंदी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिये वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य-काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानंद और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबन्, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबंध-रचना द्वारा प्रेम-पथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन लोक-धर्माश्रित स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत-सम्प्रदाय के

नवीन विकाश का ही अनुयायी था और दूसरा लोकधर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करनेवाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परम्परावाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोक-धर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है; इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिंदू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदास जी ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिंदू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिंदू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया, उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी

अभिव्यञ्जना करनेवाली वाणी का विकाश भी स्वाभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिंदी कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि-काल के कारण हैं सूर-तुलसी; और सूर-तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास जिसके अवलंबन थे राम और कृष्ण। लोक-मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गए, तभी से वह उनके एक एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया। यहाँ तक कि सूरदास तक आते आते भगवान् की लोकरंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अंत में उनकी अखिल जीवन वृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।

इस दिव्यवाणी का यह मंजुघोष घर घर क्या, एक एक हिंदू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिंदू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सब से दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता। ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुःखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। इस भावना का—अँगरेज़ी नाम-करण हो जाने पर भी, सभ्यता के आधुनिक इतिहासों में विशेष स्थान स्थिर हो जाने पर भी—हिंदू हृदय से

बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व" की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व" का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील शक्ति सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सब के हृदय और कंठ में सब दिन के लिये बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनंदोत्सव में जहाँ देखिए, वहाँ राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव-जीवन के महत्व का अनुभव करती है।

हिंदी के राजाश्रित कवि प्रायः अपना और अपने आश्रयदाता का वृत्तांत अपनी पुस्तकों में लिखा करते थे, परंतु गोसाईंजी ने स्वतंत्र होने के कारण ऐसा करने की कोई आवश्यकता न समझी। उन्होंने अपना कुछ भी वृत्तांत नहीं लिखा। कहीं कहीं अपने चरित्र का जो आभास उन्होंने दिया भी है, वह केवल अपनी दीनता दिखलाने के लिये। किसी किसी ग्रन्थ का समय भी उन्होंने लिख दिया है। इसलिये उनका कुछ जीवन-वृत्त जानने के लिये दूसरे ग्रंथों और किंवदंतियों का ही आश्रय लेना पड़ता है। कहते हैं कि उनका सब से

प्रामाणिक वृत्तांत वेणीमाधवदास कृत गोसाईं-चरित्र में है, जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंहसरोज में किया है। परंतु खेद का विषय है कि न तो अब वह ग्रंथ ही कहीं मिलता है और न शिवसिंहसरोजकार ने उसका कुछ सारांश ही अपने ग्रंथ में दिया है। अस्तु, उसकी आशा छोड़नी पड़ती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि कवि वेणीमाधवदास पसका ग्राम के रहनेवाले थे और गोसाईंजी के साथ रहा करते थे।

दूसरा ग्रंथ नाभाजी का "भक्तमाल" है। यह बात प्रसिद्ध है कि नाभाजी से और गोसाईंजी से वृंदावन में भेंट हुई थी। नाभाजी वैरागी थे और तुलसीदासजी थे स्मार्त वैष्णव, खाने पीने में संयम रखनेवाले। इसलिये पहले दोनों में न बनी; पीछे से तुलसीदास का विनीत स्वभाव देख कर नाभाजी बहुत प्रसन्न हुए। यदि वे उनका कुछ वृत्त लिख गए होते तो बहुत सी बातों का ठीक पता चलता। परंतु उन्होंने चरित्र कुछ भी न लिखकर केवल गोसाईंजी की प्रशंसा में यह छप्पय लिख दिया है—

"कलि कुटिलजीव निस्तारहित बालमीकि तुलसी भयो ॥
त्रेता काव्य निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन ॥
अब भक्तन सुख देन बहुरि वपु धरि (लीला) बिस्तारी।
रामचरन-रसमत्त रहत अहनिसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव—"

इस छप्पय से गुसाईं जी के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। भक्तमाल में उसके बनने का कोई समय नहीं दिया है, परन्तु अनुमान होता है कि वह ग्रंथ संवत् १६४२ के पीछे और संवत् १६८० के पहले बना होगा; क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी गिरिधरजी का वर्णन उसमें वर्त्तमान क्रिया में किया गया

है।* गिरिधरजी ने श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती अपने पिता के परमधाम पधारने पर संवत् १६४२ में पाई थी। साथ ही गुसाईं तुलसीदासजी का भी उस समय वर्त्तमान रहना जान पड़ता है। क्योंकि "रामचरन रसमत्त रहत अहनिसि व्रतधारी।" इस पद से गोसाईं जी के जीवनकाल में ही भक्तमाल का बनना सिद्ध होता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि गोसाईं जी का परलोकवास संवत १६८० में हुआ। अतएव भक्तमाल के ऊपर दिए हुए पद से केवल यही सिद्ध होता है कि भक्तमाल के बनने के समय (संवत् १६४२) तुलसीदास जी वर्तमान थे।

तीसरा ग्रंथ भक्तमाल पर प्रियादास जी की टीका है। प्रियादास जी ने संवत् १७६६ † में यह टीका नाभा जी की आज्ञा‡ से बनाई

* श्री वल्लभज के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।

† नाभाजू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो
ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइ कै।
भक्ति विश्वास जाके ताही को प्रकाश कीजै
भीजै रंग हियो लीजै तन लड़ाइ कै॥
संवत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर
फाल्गुन मास वदी सप्तमी बिताइ कै।
नारायनदास सुखरासि भक्तमाल लै कै
प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइ कै॥६२३॥

‡ महा प्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू के
चरन को ध्यान मेरे नाम मुख गाइयै।
ताही समय नाभा जू ने आज्ञा दई लई
धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै॥
कीजिये कवित्त बंद छंद अति प्यारो लगै
जगै जग माहिं कहि बानी विरमाइयै।
जानौं निज मति ये पै सुनो भागवत शुक
द्रुमन प्रवेश कियो ऐसेई कहाइयै॥ ॥

थी। जो चरित्र उन्होंने भक्त महात्माओं के मुख से सुने थे * उन्हें इसमें उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। प्रियादासजी ने गोसाईंजी का चरित्र इस प्रकार लिखा है—

निसा सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।
वधू अति लाज भई रिस सों निकस गई
प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं॥
सुनी जग बात मानों ह्वै गयो प्रभाव वह
पाछे पछिताय तजि काशीपुरी धाए हैं।
कियो तहाँ बास प्रभु सेवा लै प्रकाश कीनो
लीनो दृढ़ भाव नेम रूप के तिसाए हैं॥५००॥
शौच जल शेष पाइ भूतहु विशेष कोऊ
बोल्यो सुख मानि हनुमान जू बताए हैं।
रामायन कथा सो रसायन है कानन को
आवत प्रथम पाछे जात घृणा छाए हैं॥
जाइ पहिचानि संग चले उर आनि आए
वन मध्य जानि धाइ पाइ लपटाए हैं।
करैं सीतकार कहीं सकोगे न टारि मैं तो
जाने रससार रूप धस्यो जैसे गाए हैं॥५०१॥

---

* इनहीं के दास दास प्रियादास जानो
तिन लै बखानी मानो टीका सुखदाई है।
गोवर्धननाथ जू के हाथ मन पस्यो जाको
कस्यो वास वृन्दावन लीला मिलि गाई है॥
मति अनुसार कह्यो लह्यो मुख संतन के
अंत को न पावै जोई गावै हिय आई है।
घट बढ़ि जानि अपराध मेरो छमा कीजै
साधु गुनग्राही यह मानि कै सुनाई है॥६२१॥

माँगि लीजै वर कही दीजै राम भूप रूप
अतिही अनूप नित नैन अभिलाखिए ।
कियो लै सँकेत वाही दिन ही सों लाग्यो
हेत आई सोई समै चेत कवि छवि चाखिए॥
आए रघुनाथ साथ लछुमन चढ़े घोड़े पट
रंग बोरे हरे कैसे मन राखिए ।
पाछे हनुमान आए बोले देखे प्रानप्यारे
नेकु न निहारे मैं तो भले फेरि भाखिए ॥५०२॥

हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयो
कहै मुख राम हत्या डारिए हत्यारे को ।
सुनि अभिराम नाम धाम मैं बुलाइ लियो
दियो लै प्रसाद कियो सुद्ध गायो प्यारे को ।
भई द्विजसभा कहि बोलि कै पठायो आप
कैसे गयो पाप संग लै कै जैये न्यारे को ।
पोथी तुम बाँचो हिये भाव नहिं साँचो अजू
तातें मति काँचो दूरि करै न अँध्यारे को ॥५०३॥

देखी पोथी बाँच नाम महिमा हू कही साँच
ए पै हत्या करै कैसे तरै कहि दीजिए ।
आवै जो प्रतीति कही या के हाथ जेवैं जब
शिव जू के बैल तब पंगति मैं लीजिए ॥
थार मैं प्रसाद दियो चले जहाँ पान कियो
बोले आप नाम के प्रताप-मति भीजिए ।
जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै बखानो अहो
सुनि कै प्रसन्न पायो जैजै धुनि रीझिए ॥५०४॥

आए निसि चोर चोरी करन हरन धन
देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिए हैं ।
जब जब आवै बान साध डरपावै ए तो

अति भडरावै ए पै बली दूरि किए हैं।
भोर आय पूछे अजू साँवरो किसोर कौन
सुनि कर मौन रहे आँसु डारि दिए हैं।
दई सब लुटाइ जानी चौकी रामराई दई
लई उन्ह दिक्षा शिक्षा सुद्ध भए हिए हैं॥५०५॥
कियो तनु विप्र त्याग लागी चली संगतिया
दूर ही तें देखि कियो चरन प्रनाम है।
बोले यों सुहागवती मस्यो पति होहुँ सती
अब तो निकसि गई जाहु सेवो राम है।
बोलि कै कुटुंब कही जी पै भक्ति करो सही
गही तब बात जीव दियो अभिराम है।
भए सब साध व्याधि मेटी लै विमुख ताकी
जाकी बास रहै तौन सूझै श्याम धाम है॥५०६॥
दिल्लीपति बादशाह अहिदी पठाए लैन
ताको सो सुनायो सूनै विप्र ज्यायो जानिए।
देखिबे को चाहैं नीके सुख सो निबाहे आइ
कही बहु विनय गही चले मन आनिए।
पहुँचे नृपति पास आदर प्रकास कियो
दियो उच्च आसन लै बोल्यो मृदु बानिए।
दीजै करामाति जग ख्यात सब मात किए
कही झूठ बात एक राम पहिचानिए॥५०७॥
देखौं राम कैसे कहि कैद किए किए हिए
हूजिए कृपाल हनुमान जू दयाल हो।
ताही समै फैल गए कोटि कोटि कपि नए
नोचै तन खैचैं चीर भयो यों विहाल हो।
फोरैं कोट मारे चोट किए डारैं लोट पोट
लीजै कौन ओट जाइ मानों प्रलय काल हो।

भई तब आँखें दुख सागर को चाखे अब
वेई हमें राखें भाखें वारौं धन माल हो ॥५०८॥
आइ पाइ लिए तुम दिए हम प्रान आवै
आप समझावैं करामाति नेक लीजिए।
लाज दबि गयो नृप तब राखि लियो कह्यो
भयो घर राम जू को वेगि छोड़ि दीजिए।
सुनि तजि दियो और कह्यो लैकै कोट
नयो अबहूँ न रहै कोऊ वामें तन छीजिए।
कासी जाइ वृंदावन आइ मिले नाभा जू सों
सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजिए ॥५०९॥
मदनगोपाल जू को दरसन करि कही
सही राम इष्ट मेरे दृग भाव पागी है।
वैसोई सरूप कियो दियो लै दिखाई रूप
मन अनुरूप छबि देखि नीकी लागी है।
काहू कह्यो कृष्ण अवतारी जू प्रशंसा महा
राम अंश सुनि बोले मति अनुरागी है।
दसरथसुत जानों सुन्दर अनूप मानों
ईसता बताई रति कोटि गुनी जागी है ॥५१०॥

प्रियादासजी की टीका के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने "भक्तकल्पद्रुम" और महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने "भक्तमाल" में गोस्वामीजी के चरित्र लिखे हैं। डाक्टर ग्रिअर्सन ने गोस्वामीजी के विषय में जो नोट इंडियन ऐंटीक्वेरी में छपवाए हैं, उनसे भी कुछ बातों का पता लगता है।

मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेव-नारायणजी ने हिंदी-नवरत्न पर अपने विचार प्रकट करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-संबध में अनेक बातें ऐसी कही हैं जो अब तक की निर्धारित बातों में बहुत उलट फेर कर देती हैं।

इस लेख में गोस्वामी तुलसीदासजी के एक नवीन "चरित" का वृत्तांत लिखा है और उससे उद्धरण भी लिए गए हैं। लेख इस प्रकार है—

"गोस्वामीजी का जीवनचरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम "तुलसीचरित" है। यह बड़ा ही वृहद् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा। इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—"चौ० एक लाख तैंतीस हज़ारा। नौ सै बासठ छंद उदारा"। यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवनचरित-विषयक मुख्य मुख्य वृत्तांत नित्य प्रति के लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुबरदासजी विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह "तुलसीचरित" बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय वृहद् ग्रंथ के 'अवध खंड' में लिखा है कि जब श्रीगोस्वामीजी घर से विरक्त हो कर निकले, तो रास्ते में रघुनाथ नामक एक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामीजी ने उनसे अपना सब वृत्तांत कहा :—

गोस्वामीजी का वचन :—

चौपाई।

काल अतीत यमुन तरनी के। रोदन करत चलेहुँ मुष फीके॥
हिय बिराग तिय अपमित बचना। कंठ मोद बैठी निज रचना॥
खींचत त्याग विराग बटोही। मोह गेह दिसि करसत सोही॥
भिरे जुगल बल बरनि न जाही। स्पंदन वपू खेत वन माही॥
तिनिहुँ दिशा अपथ महि काटी। आठ कोस मिसिरन की पाटी॥
पहुँचि ग्राम तट सुतरु रसाला। बैठेहुँ देखि भूमि सुविसाला॥

पंडित एक नाम रघुनाथा । सकल शास्त्र पाठी गुण गाथा ॥
पूजा करत डरत मैं जाई । दंड प्रनाम कीन्ह सकुचाई ॥
सो मोहि कर चेष्टा सनमाना । वैठि गयऊँ महितल भय माना ॥
वुध पूजा करि मोहि बुलावा । गृह वृत्तांत पूछव मनभावा ॥

* * * *

जुवा गौर शुचि गढ़नि बिचारी । जनु विधि निज कर आपु सँवारी ॥
तुम धिसोक आतुर गति धारी । धर्मशील नहिं चित्त विकारी ॥
देखत तुम्हहिं दूरि लगि प्रानी । अद्भुत सकल परस्पर मानी ॥
तात मात तिय भ्रात तुम्हारे । किमि न तात तुम्ह प्रान-पियारे ॥
कुटुम परोस मित्र कोउ नाँही । किधौं मूढ़ पुर वास सदाही ॥
सन्यपात पकरे सब ग्रामा । चले भागि तुम तजि वह ठामा ॥
तव यात्रा विदेश कर जानी । विदरि हृदय किमि मरे अयानी ॥
चित्त वृत्ति तुव दुख मह ताता । सुनत न जगत व्यक्त सव बाता ॥
मोते अधिक कहत सब लोगा । अजहुँ जुरे देखत तरु योगा ॥
कहाँ तात ससुरारि तुम्हारी । तुम्हहिं धाय नहिं गहे अनारी ॥
जाति पाँति गृह ग्राम तुम्हारा । पिता पीठि का नाम अचारा ॥

दोहा—कहहु तात दस कोस लगि, विप्रन को व्यवहार ।
मै जानत भलि भाँति सब, सत अरु असत विचार ॥
चले अश्रु गद्गद हृदय, सात्विक भयो महान ।
भुवि नख रेख लग्यौं करन, मैं जिमि जड़ अज्ञान ॥

चौपाई ।

दया शील वुधवर रघुराई । तुरत लीन्ह मोहि हृदय लगाई ॥
अश्रु पौंछि बहु दोप देवाई । विसे वीस सुत मम समुदाई ॥
लखौं चिह्न मिश्रन सम तोरा । विसुचि मंजु मम गोत्र किशोरा ॥
जनि रोवसि प्रिय वाल मतीशा । मेटहिं सकल दुसह दुख ईशा ॥
धीरज धरि मैं कथन विचारा । पुनि वुध कीन्ह विविध सतकारा ॥
परशुराम परपिता हमारे । राजापुर सुख भवन सुधारे ॥

प्रथम तीर्थयात्रा महँ आए। चित्रकूट लखि अति सुख पाए ॥
कोटि तीर्थ आदिक मुनि वासा। फिरे सकल प्रमुदित गत आसा ॥
वीर मरुतसुत आश्रम आई। रहे रैनि तहँ अति सुख पाई ॥
परशुराम सोए सुख पाई। तहँ मारुतसुत स्वप्न देखाई ॥
बसहु जाय राजापुर ग्रामा। उत्तर भाग सुभूमि ललामा ॥
तुम्हरे चौथ पीठिका एका। तप समूह मुनि जन्म विवेका ॥
दम्पति तीरथ भ्रमे अनेका। जानि चरित अद्भुत गहि टेका ॥
दम्पति रहे पत्त एक तहँवाँ। गए कामदा शृङ्ग सु जहँवाँ ॥
नाना चमतकार तिन्ह पाई। सीतापुर नृप के ढिग आई ॥
राजापुर निवास हित भाषा। कहे चरित कुछ गुप्त न राखा ॥
तरविनपुर तेहि की नृपधानी। मिश्र परशुरामहिं नृप आनी ॥

दोहा—अति महान विद्वान लखि, पठन शास्त्र षट् जासु ।
वहु सन्माने भूप तहँ, कहि द्विज मूल निवासु ॥
सरयू के उत्तर बसत, मंजु देश सरवार ।
राज मझवली जानिये, कसया ग्राम उदार ॥
राजधानि ते जानिए, क्रोश विंश त्रय भूप ।
जन्मभूमि मम और पुनि, प्रगट्यो वौध स्वरूप ॥

चौपाई ।

वौध स्वरूप पेंड़ ते भारी। उपल रूप महि दीन वलारी ॥
जैनाभास चल्यो मत भारी। रत्ता जीव पूर्ण परिचारी ॥
हेम सुकुल तेहि कुल के पण्डित। क्षत्री धर्म सकल गुण मण्डित ॥
मैं पुन गाना मिश्र कहावा। गणपति भाग यज्ञ मँह पावा ॥
मम विनु महावंश नहि कोई। मैं पुनि ग्रिन सन्तान जो सोई ॥
तिरसठि अब्द देह मम राजा। तिमि सम पत्नि जानि मति भ्राजा ॥
खचित स्वप्नवत लखि मरलोका। तीरथ करन चलेहुँ तजि सोका ॥
चित्रकूट प्रभु आज्ञा पावा। प्रगट स्वप्न वहु विधि दरसावा ॥
भूप मानि मैं चलेहुँ रजाई। राजापुर निवास की ताई ॥

निर्धन बसव राजपुर जाई। वृद्द कलिन्दि तीर सचुपाई॥
नगर गेह सुख मिलै कदापी। बसव न होहि जहाँ परितापी॥
अति आदर करि भूप बसावा। वाममार्ग पथ शुद्ध चलावा॥
स्वाद त्यागि शिव शक्ति उपासी। जिनके प्रगट शम्भु गिरिवासी॥
परशुराम काशी तन त्यागे। राम मन्त्र अति प्रिय अनुरागे॥
शम्भु कर्णगत दीन सुनाई। चढ़ि विमान सुरधाम सिधाई॥
तिनके शंकर मिश्र उदारा। लघु पण्डित प्रसिद्ध संसारा॥

दोहा—परशुराम जू भूप को, दान भूमि नहिं लीन।
शिष्य मारवाडी अमित, धन गृह दीन्ह प्रवीन॥
बचन सिद्धि शंकर मिसिर, नृपति भूमि बहु दीन।
भूप रानि अरु राज नर, भए शिष्य मति लीन॥
शंकर प्रथम विवाह ते, बहु सुत करि उत्पन्न।
द्वै कन्या द्वै सुत सुबुध, निसि दिन ज्ञान प्रसन्न॥

चौपाई।

जोषित मृतक कोन अनु ब्याहा। ताते मोरि साख बुध नाहा॥
तिनके सुत मिश्र द्वै भ्राता। रुद्रनाथ एक नाम जो ख्याता॥
सोउ लघु बुध शिष्यन्ह महँ जाई। लाय द्रब्य पुनि भूमि कमाई॥
रुद्रनाथ के सुत भे चारी। प्रथम पुत्र को नाम मुरारी॥
सो मम पिता सुनिय बुध ज्ञाता। मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता॥
ज्येष्ठ भ्रात मम गणपति नामा। ताते लघु महेस गुण धामा॥
कर्मकाण्ड पण्डित पुनि दोऊ। अति कनिष्ठ मंगल कहि सोऊ॥
तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अञ्च धरि तौलि स्वधामा॥
तुलसिराम कुल गुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि बिचारे॥
हस्त प्रास पण्डित मतिधारी। कह्यो बाल होइहिं ब्रतधारी॥
धन विद्या तप होय महाना। तेजराशि बालक मतिमाना॥
भरतखंड एहि सम एहि काला। नहिं महान कोउ परमति शाला॥
करहिं खचित नृपगन गुरुधाई। बचन सिद्ध खलु रहहिं सदाई॥

अति सुन्दर सरूप सित देहा । बुध मंगल भाग्यस्थल गेहा ॥
ताते यह विदेह सम जाई । अति महान पदवी पुनि पाई ॥
पंचम केतु रुद्र गृह राहू । जतन सहस्र वंश नहि लाहू ॥

दोहा—राजयोग दोउ सुख सुपहि, होंहि अनेक प्रकार ।
अन्दै दया मुनीस कोउ, लियो जन्म वर बार ॥

चौपाई ।

प्रेमहि तुलसि नाम मम राखी । तुलारोह तिय कहि अभिलाषी ॥
मातु भगिनि लघु रही कुमारी । कीन व्याह सुंदरी विचारी ॥
चारि भ्रात द्व भगिनि हमारे । पिता मातु मम सहित निसारे ॥
भ्रात पुत्र कन्या मिलि नाथा । षोडस मनुज रहे एक साथा ॥

*　　*　　*　　*

वानी विद्या भगिनि हमारी । धर्म शील उत्तम गुण धारी ॥

*　　*　　*　　*

दोहा—अति उत्तम कुल भगिनि सब व्याही अति कुशलात ।
हस्त प्रास पंडितन्ह गृह, व्याहे सब मम भ्रात ॥

चौपाई ।

मोर व्याह द्वै प्रथम जो भयऊ । हस्त प्रास भार्गव गृह ठयऊ ॥
भई स्वर्गवासी दोउ नारी । कुलगुरु तुलसि कहेउ व्रतधारी ॥
तृतिय व्याह कंचनपुर माही । सोइ तिय बच विदेश अवगाही ॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई । मात भ्रात परिवार छोड़ाई ॥
कुल गुरु कथन भई सब साँची । सुख धन गिरा अवर सब काँची ॥
सुनहु नाथ कंचनपुर ग्रामा । उपाध्याय लछिमन अस नामा ॥
तिनकी सुता बुद्धिमति एका । धर्मशील गुनपुंज विवेका ॥
कथा-पुराण-श्रवण बलभारी । अति कन्या सुंदरि मति धारी ॥

दोहा—मोह विप्र बहु द्रव्य लै, पितु मिलि करि उत्साह ।
यदपि मातु पितु सों विमुख, भयो तृतिय मम व्याह ॥

*　　*　　*　　*

चौपाई।

निज विवाह प्रथमहि करि जहवाँ। तीन सहस्र मुद्रा लिय तहवाँ॥
षट् सहस्र ले मोहि विवाहे। उपाध्याय कुल पावन चाहे।

ऊपर लिखे हुए पदों का सारार्थ यह है कि सरयू नदी के उत्तर भागस्थ सरवार देश में मधौली से तेइस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामी के प्रपितामह परशुराम मिश्र का जन्मस्थान था और वहीं के वे निवासी थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिये घर से निकले और भ्रमण करते हुए चित्रकुट में पहुँचे। वहाँ हनुमानजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम राजापुर में निवास करो, तुम्हारी चौथी पीढी में एक तपोनिधि मुनि का जन्म होगा। इस आदेश को पाकर वे परशुराम मिश्र सीतापुर में उस प्रांत के राजा के यहाँ गए और उन्होंने हनुमानजा की आज्ञा को यथातथ्य राजा से कहकर राजापुर में निवास करने की इच्छा प्रकट की। राजा इनको अत्यंत श्रेष्ठ विद्वान् जानकर अपने साथ तीखनपुर अपनी राजधानी में ले आए और वहुत सम्मानपूर्वक उन्होंने राजापुर में निवास कराया। तिरसठ वर्ष की अवस्था तक उनके कोई सतान नहीं हुई, इससे वह वहुत खिन्न होकर तीर्थयात्रा को गए तो पुन: चित्रकूट में स्वप्न हुआ और राजापुर लौट आए। उस समय राजा उनसे मिलने आया। तदनतर उन्होंने राजापुर में शिव-शक्ति के उपासकों की आचरण-भ्रष्टता से दुःखित हो राजापुर में रहने की अनिच्छा प्रकट की, परंतु राजा ने इनके मत का अनुयायी होकर वडे सम्मानपूर्वक इनको रक्खा और भूमिदान दिया, परतु इन्होंने ग्रहण नहीं किया। इनके शिष्य मारवाडी वहुत थे, उन्हीं लोगों के द्वारा इनको धन, गृह और भूमि का लाभ हुआ। अंत काल में काशी जाकर इन्होंने शरीर त्याग किया। ये गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेशजी का भाग पाते थे।

इनके पुत्र शंकर मिश्र हुए, जिनको वाक्सिद्धि प्राप्त थी। राजा रानी तथा अन्यान्य राजवर्ग इनके शिष्य हुए और राजा से

इन्हें बहुत भूमि मिली। इन्होंने दो विवाह किए। प्रथम से आठ पुत्र और दो कन्याएँ हुईं; दूसरे विवाह से दो पुत्र हुए (१) संत मिश्र, (२) रुद्रनाथमिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए। सब से बड़े मुरारी मिश्र थे। इन्हीं महाभाग्यशाली महापुरुष के पुत्र गोस्वामीजी हुए।

गोस्वामीजी चार भाई थे (१) गणपति, (२) महेश, (३) तुलाराम, (४) मंगल।

यही तुलाराम तत्त्वाचार्यवर्य भक्तचूड़ामणि गोस्वामीजी हैं। इनके कुलगुरु तुलसीराम ने इनका नाम तुलाराम रक्खा था। गोस्वामीजी के दो बहिनें भी थीं। एक का नाम वाणी और दूसरी का विद्या था।

गोस्वामीजी के तीन विवाह हुए थे। प्रथम स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह हुआ और दूसरी स्त्री के मरने पर तीसरा। यह तीसरा व्याह कंचनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ। इस विवाह में इनके पिता ने छः हज़ार रुपए लिए थे। इसी स्त्री के उपदेश से गोस्वामीजी विरक्त हुए।"

इस ग्रंथ में दी हुई घटनाएँ और किसी ग्रंथ में नहीं मिलतीं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि यह चरित गोस्वामी तुलसीदास जी के शिष्य महात्मा रघुवरदास जी का लिखा है, तो इसमें दी हुई घटनाएँ अवश्य प्रामाणिक होंगी। परंतु इस ग्रंथ का पहला उल्लेख मर्यादा पत्रिका में ही हुआ है तथा अन्य किसी महाशय को इस ग्रंथ के देखने, पढ़ने या जाँचने का अब तक सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इस अवस्था में जो जो बातें उक्त लेख से विदित होती हैं, उनका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। उनके विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

(२) जन्म और कुल

गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म-काल किसी ग्रंथ में लिखा नहीं मिलता। पंडित रामगुलाम द्विवेदी की सुनी-सुनाई बातों के अनुसार उनका जन्म सवत् १५८९ में कहा जाता है। डा० ग्रिअर्सन ने इसे ठीक माना है। पर शिवसिंहसरोज में लिखा है कि वे संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। पहले से गोसाईं जी की आयु ९१ और दूसरे से ९७ वर्ष आती है। अब तक विद्वानों ने गोसाईं जी का जन्म संवत् १५८९ ही माना है।

श्रीयुत इन्द्रदेवनारायणजी इस सम्बंध में लिखते हैं:—"श्रीगोस्वामी की शिष्य-परंपरा की चौथी पुश्त में काशी निवासी विद्वद्वर श्रीशिवलालजी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर संस्कृत भाष्य तथा व्याकरणादि विषय पर भी अनेक ग्रंथ निर्माण किए हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानसमयंक नामक तिलक रचा है। उसमें लिखा है—

दोहा—मन(४) ऊपर शर(५) जानिये, शर(५) पर दीन्हें एक(१)।
तुलसी प्रगटे रामवत, राम जन्म की टेक॥
सुने गुरू ने बीच शर(५), सन्त बीच मन(४०) गान।
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिरान॥

अर्थात् १५५४ सं० में गोस्वामी जी प्रकट हुए और पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु से कथा सुनी। पुनः चालीस वर्ष की अवस्था में सन्तों से भी वही कथा सुनी और उन्होंने सतहत्तरवें वर्ष के बाद अठहत्तरवें वर्ष में रामचरित मानस की रचना आरंभ किया। उनकी अठहत्तर वर्ष की अवस्था संवत् १६३१ में थी और १६८० संवत् में वे परमधाम सिधारे। इस प्रकार १५५४ में ७७ जोड़ने से १६३१ संवत् हुआ। संवत् १५५४ वाँ साल मिलाकर अठहत्तर वर्ष की अवस्था

गोस्वामीजी की थी जब मानस आरंभ हुआ और १२७ वर्ष की दीर्घ आयु भोगकर स्वामी जी परमधाम सिधारे।"

१२७ वर्ष की आयु होना कोई असंभव बात नहीं है। पर यह भी संभव है कि 'मानसमयंक' में जो दोहे हैं, उनका पाठ ठीक न हो। यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा रघुवरदास जी ने अपने तुलसी चरित में गोस्वामी जी के जन्म का कोई संवत् दिया है या नहीं। इस अवस्था में यह बात बड़ी सन्दिग्ध हो जाती है और निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। जो कुछ हम दृढ़ता-पूर्वक अब कहने में समर्थ हैं, वह इतना ही है कि गोस्वामी जी का जन्म विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और वे बड़ी आयु भोगकर परमधाम को सिधारे।

इनके जन्म–स्थान के विषय में भी कहीं कोई लिखा प्रमाण नहीं मिलता। कोई कहता है कि इनका जन्म तारी में हुआ। कुछ लोगों के मुँह से हस्तिनापुर भी इनका जन्म-स्थान सुना जाता है, पर कौन हस्तिनापुर यह पता नहीं। कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर और कोई बाँदा ज़िले में राजापुर को इनका जन्म-स्थान बतलाता है। बहुत से लोग तारी को प्रधानता देते हैं। परंतु पं० रामगुलाम के मत से इनका जन्मस्थान राजापुर ही है। शिवसिंह-सरोज में भी पं० वेणीमाधवदास के आधार पर इसी स्थान को माना है, तथा महात्मा रघुवरदास जी के लेख से भी यही प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त राजापुर में गोस्वामी जी की कुटी, मंदिर आदि हैं। अतः जब तक कोई विरुद्ध प्रमाण न मिले, गोस्वामी जी का जन्म राजापुर में ही मानना चाहिए।

तुलसीदास जी ब्राह्मण थे, इसमें तो किसी को कोई संदेह नहीं। विनय-पत्रिका में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "दियो सुकुल जन्म शरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को"। पर वे कौन ब्राह्मण थे, यह निश्चित होते हुए भी कुछ लोग मतभेद प्रकट करते हैं।

राजा प्रतापसिंह ने भक्त-कल्पद्रुम में इन्हें कान्यकुब्ज लिखा है, पर शिवसिंह-सरोज में इनको सरयूपारी माना है। डाक्टर ग्रिअर्सन पं० रामगुलाम द्विवेदी के आधार पर इन्हें पराशर गोत्र सरयूपारी दूबे लिखते हैं। "तुलसी पराशर गोत दूबे पतिऔजा के" ऐसा प्रसिद्ध भी है। तुलसीचरित में भी ये सरवरिया कहे गए हैं। अतः इनका सरयूपारी होना सिद्ध है।

हिन्दी-नवरत्न में लिखा है कि "इनको सरयूपारीण मानने में दो आपत्तियाँ हैं। एक यह कि पूरा ज़िला बाँदा में और राजापुर के इर्द गिर्द कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है न कि सरवरिया ब्राह्मणों की। सो यदि गोस्वामी जी द्विवेदी थे तो उनका कान्यकुब्ज होना विशेष माननीय है। दूसरे इनका विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था, जिनका कुल सरवरिया ब्राह्मणों में बहुत ऊँचा है और द्विवेदियों का उनसे नीचा। सो पाठकों की कन्या द्विवेदियों के यहाँ नहीं ब्याही जा सकती, क्योंकि कोई भी उच्च वंशवाला मनुष्य अपनी कन्या नीच कुल में नहीं ब्याहता। कनौजियों में पाठकों का घराना द्विवेदियों से नीचा है। अतएव पाठकों की लड़कियों का द्विवेदियों के यहाँ ब्याहा जाना उचित है।"

ये दोनों आपत्तियाँ निराधार हैं। चित्रकूट के आस पास से लेकर बघेलखंड और जबलपुर के आगे तक सरयूपारियों की बस्ती चली गई है। चित्रकूट और राजापुर के आस पास जहाँ देखिए वहाँ गाँव के गाँव सरवरिया ही बसे मिलेंगे। अब रही दूसरी आपत्ति। सरयूपारी का बच्चा बच्चा भी जानता है कि पाठक, चौबे और उपाध्याय सरवरियों की नीची श्रेणी में हैं। कुलीन सरवरिया उनके यहाँ बेटे का ब्याह भी नहीं करते। द्विवेदियों का कुल पाठकों के कुल से बहुत ऊँचा समझा जाता है।

हमारे विचार में तो यह आता है कि महात्मा रघुवरदास जी ने 'तुलसीचरित' में गोस्वामी जी की जो कुल-परंपरा लिखी है, वह

मानने योग्य है। सरवार की रीति नीति का जैसा परिचय 'रामचरित मानस' 'जानकी मंगल' 'पार्वती मंगल' में मिलता है, वह उक्त प्रदेश के साथ उससे अधिक संबंध सूचित करता है जो कुछ दिन अयोध्यावास के कारण कहा जा सकता है। तुलसीचरित से प्रकट होता है तुलसीदास जी के प्रपितामह ही कसया छोड़कर राजापुर में आए। गाना के मिश्र सरयूपारियों में बहुत कुलीन हैं। जिस घराने को सरजूपार छोड़े इतने थोड़े दिन हुए थे, उसको अपना संबंध वहाँ से बनाए रखना कुलीनता के विचार से आवश्यक था। ऐसे घराने अपने मूल-स्थान की रीति भाँति ही नहीं, वहाँ की भाषा भी अपने घर के भीतर की बोल चाल में बनाए रखते हैं। यद्यपि चित्रकूट और राजापुर प्रांत में भी अवधी ही बोली जाती है, पर अयोध्या के आसपास की शुद्ध पूरबी अवधी की अपेक्षा उसमें कुछ पछाहियाँपन है। पूरबी अवधी पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का दिखाई पड़ता है, वैसा बिना उस बोली के व्यावहारिक अभ्यास के नहीं हो सकता। पूरबी बोली की सब से अधिक विशेषता यह है कि उसमें कारक चिह्न-रहित कर्मवाली भूतकालिक सकर्मक क्रिया का रूप भी कर्त्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है।

उत्तम पुरुष एकवचन—"मैं जानेउँ (=मैंने जाना) उ० जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई।

" बहुवचन—"हम जाना" (=हमने जाना) उ० अब मा मरन सत्य हम जाना।

मध्यम पुरुष एकवचन—"तैं जगाएसि" (=तू ने जगाया) उ०—प्रथमहिं कस न जगाएसि आई।

" बहुवचन—"तुम कहेहु या कह्यो" (=तुमने कहा) उ०—देन कहेहु बरदान दुइ।

प्रथम पुरुष एकवचन—"ऊ प्रगटेसि" (=उसने प्रगटा) उ०-प्रगटेसि तुरत रुचिर ऋतुराजा।

" बहुवचन—"वै पठइन" (=उन्होंने पठाया) उ०-देवन ......पठइन, आइ कही तेइ बाता।

पुरुष-भेद के समान लिंगभेद भी कर्त्ता के अनुसार इन रूपों में होगा। जैसे "जानेउँ" का "जानिउँ", "कहेहु" का "कहिहु या कहिउ" उदाहरण—जनमि जगत जस प्रगटिहु मातु पिता कर (=तुमने प्रकट किया)

यदि पूरबी अवधी साहित्य की भाषा होती तो उसके इन प्रयोगों का परिचय पठन-पाठन द्वारा भी कहा जा सकता था। ये पूरबी रूप जायसी की 'पद्मावत' में भी नहीं आए हैं। रामचरित मानस में तो पच्छिमी और पूरबी दोनों अवधी के रूप मिलते हैं। पर 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' शुद्ध पूरबी अवधी में लिखे गए है जो अयोध्या के आस पास गोंडे और बस्ती तक बोली जाती है। कुछ शब्द भी ऐसे आए हैं जो उसी प्रदेश में बोले जाते हैं, जैसे, "कूटि करना" = ठट्ठा करना (करहिं कूटि नारदहिं सुनाई), "सरवॅ करना" कसरत करना (सरवँ करहिं, पायक फहराहीं), 'फुर'=सच; 'राउर'=आपका इत्यादि। और देखिए, सरवार में "दही चिउड़ा" की चाल बहुत है। यह भोज में भी चलता है, संबंधियों के यहाँ भी भेजा जाता है और रास्ते में संबल का काम भी देता है। महाराज जनक के यहाँ से बरात के लिये जो सामान आया, उसमें गोस्वामी जी "दधि चिउरा" का नाम लेना नहीं भूले—"दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहाँरा"।

इन बातों से सिद्ध होता है कि यदि राजापुर ही तुलसीदास जी का जन्म-स्थान था, तो वहाँ उनके घराने को सरयूपार से गए थोड़े ही दिन हुए थे और उस घराने का संबंध सरवार से बना था। राजापुर के संबंध में दो बातों के कारण कुछ संदेह उठते हैं—

(१) राजापुर में जो स्थान है, वह कुटी है और उसमें उनके कुलवाले नहीं रहते। विरक्त हो जाने पर उन्हें अपनी जन्म-भूमि पर कुटी बनाने की क्या आवश्यकता थी?

(२) बाल्यावस्था में वहाँ से वे गुरु से कथा सुनने 'सूकर खेत' कैसे गए जो अयोध्या के ही आस पास है? यह पछाँहवाला सूकर खेत नहीं है। यदि वे दीक्षा-गुरु थे और साधु थे, तब तो लड़कपन ही में उनका साधु होकर निकल जाना ठहरता है और पत्नी के उपदेश की बात कल्पना ही ठहरती है। यदि विद्या-गुरु थे तो वहाँ उतनी दूर उस छोटी अवस्था में जाने का कारण नहीं खुलता। यह हो सकता है कि वे कुल-गुरु रहे हों और तुलसीदास जी के पिता सपरिवार उनके साथ अयोध्या तीर्थ करते हुए वहाँ भी स्नान करने चले गए हों।

गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से कहीं अपने ग्रंथों में अपने माता-पिता का नाम नहीं लिखा है। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का हुलसी। नीचे लिखा यह दोहा इसके प्रमाण में उद्धृत किया जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सों सुत होय॥

इस दोहे की दूसरे पंक्ति रहीम खानखाना की बनाई कही जाती है। लोगों का कथन है कि इसमें "हुलसी" शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, इनकी माता का नाम भी हुलसी था। यह कथन केवल अनुमान है। इसकी पुष्टि और कहीं से नहीं होती। "तुलसी चरित" में स्पष्ट लिखा है कि तुलसीदास ने स्वयं कहा है कि—

... ...। परसुराम परपिता हमारे॥
तिनके शंकर मिश्र उदारा। लघुपंडित प्रसिद्ध संसारा॥
शंकर प्रथम विवाह ते बसु सुत करि उत्पन्न।
द्वै कन्या द्वै सुत सुबुध, निशि दिन ज्ञान प्रसन्न॥
तिनके संत मिश्र द्वै भ्राता। रुद्रनाथ एक नाम जो ख्याता।
रुद्रनाथ के सुत भे चारी। प्रथम पुत्र को नाम मुरारी॥
सो मम पिता सुनिय बुध भ्राता। मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता।

यदपि मातु पितु सों विमुख, भयो तृतिय मम व्याह ॥

"जनक जननि तज्यो जनमि" में 'जनमि' का अर्थ जन्मते ही नहीं बल्कि 'जिन्होंने जन्म दिया' यह अर्थ लेना चाहिए।

कृष्णोपासक वैष्णवों में "दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता" के आधार पर यह बात चल पड़ी है कि रास पंचाध्यायीवाले नंददास तुलसीदास जी के भाई थे। वैजनाथ दास ने गुरुभाई लिखा है। पर नंददास जी गोकुलस्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। गोस्वामी तुलसीदास जी के गुरु रामभक्त थे। अतः ये दोनों बातें बे सिर पैर की हैं। जिनका उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्त्ता में है, वे दूसरे तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे।

(३) विवाह और वैराग्य

यह प्रसिद्ध है कि इनका विवाह दीनबधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे तारक नामक एक पुत्र भी हुआ था, जो बचपन ही में मर गया। परतु तुलसीचरित में लिखा है कि इनके तीन विवाह हुए थे। तीसरा विवाह कंचनपुर ग्राम के उपाध्याय लछमन की कन्या बुद्धिमती से हुआ था। इसी के उपदेश से गोस्वामी जी विरक्त हुए थे। कहते हैं कि गोस्वामी जी इस स्त्री पर बहुत आसक्त थे। एक दिन स्त्री बिना कहे मायके चली गई। गोसाईं जी से पत्नी-वियोग न सहा गया। वहाँ जाकर वे स्त्री से मिले। स्त्री ने लजाकर ये दोहे कहे—

"लाज न लागत आपु को दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ ॥
अस्थि-चरम-मय देह मम ता में जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होत न तौ भवभीति" ॥

यह बात गोसाईंजी को ऐसी लगी कि वे वहाँ से सीधे काशी चले आए और विरक्त हो गए। स्त्री ने बहुत कुछ विनती की और भोजन करने को कहा, परतु उन्होंने एक न सुनी। अयोध्या और

काशी में तो गोसाईंजी प्रायः रहा ही करते थे, परंतु मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, पुरुषोत्तमपुरी (जगन्नाथजी) आदि तीर्थस्थानों में भी वे प्रायः घूमा करते थे।

घर छोड़ने के पीछे एक वार स्त्री ने यह दोहा गोसाईंजी को लिख भेजा—

कटि की खीनी कनक सी रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटे की डर नहीं अनत कटे डर होइ॥

इसके उत्तर में गोसाईंजी ने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेमरस पत्नी के उपदेस॥

बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्रकूट से लौटते समय अनजान में अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गई थी। वह विना पहचाने हुए ही उनके अतिथि-सत्कार में लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो चार बातें होने पर उसने पहचाना कि ये तो मेरे पति हैं। उसने इस बात को गुप्त रखा और उनके चरण धोना चाहा: पर उन्होंने धोने न दिया। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ला देने को कहा; परं गोसाईंजी ने कहा कि यह सब मेरे झोले में साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहती तो रामभजन और पति की सेवा दोनों साथ साथ करके जन्म सुधारती। रात भर बहुत कुछ आगा-पीछा सोच विचार कर उसने सवेरे अपने को गोसाईंजी के सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनाई। गोसाईंजी ने उसको साथ लेना स्वीकार न किया। तब उसने कहा—

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥*

---

* यह दोहा दोहावली में इस प्रकार है—

यह सुनते ही गोसाईं जी ने अपने झोले की वस्तुएँ ब्राह्मणों को बाँट दीं।

कुछ लोग यह भी अनुमान करते हैं कि तुलसीदासजी का विवाह ही नहीं हुआ था; क्योंकि उन्होंने विनयपत्रिका में लिखा है—"ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चाहत हौं।"

परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका विवाह हुआ ही नहीं था। इस कथन का अभिप्राय तो यही है कि अब मुझे किसी के यहाँ विवाह आदि नहीं करना है। विवाह की कथा पहले पहल प्रियादासजी ने "भक्तमाल" की टीका में लिखी है। तभी से गोस्वामीजी के प्रत्येक जीवन चरित्र में इसका उल्लेख होता आया है। प्रियादासजी गोस्वामीजी के थोड़े ही पीछे हुए हैं; अतः विवाहवाली बात माननी पड़ती है।

(४) गुरु-परंपरा

तुलसीदास जी रामायण में लिखते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु बुधि अनुसारा।
भाषा बंध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध अस होई।

परंतु गुरु का नाम उन्होंने कहीं नहीं दिया है। रामायण के आदि में मंगलाचरण में यह सोरठा लिखा है—

"बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥

इसी "नर रूप हरि" से लोगों ने निकाला है कि नरहरिदास इनके गुरु थे। नरहरिदास रामानंद के बारह शिष्यों में से थे, परंतु

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै विमल विवेक बिराग॥२४४॥

एक सूची इनकी गुरुपरंपरा की डाक्टर ग्रिअर्सन को मिली है जो नीचे दी जाती है। उक्त डाक्टर साहब को एक सूची पटने से भी मिली है जो लगभग इसीसे मिलती है। अंतर केवल इतना ही है कि रामानुज स्वामी तक परंपरा नहीं दी है और कहीं कहीं नामों में कुछ अंतर है तथा कोई कोई नाम नहीं भी हैं, जैसे नं० १३, १४ शठकोपाचार्य और कूरेशाचार्य का नाम नहीं है, नं० १७ श्रीवाकाचार्य के स्थान पर श्रीमद्यतीन्द्राचार्य है, नं० २३ श्रीरामेश्वरानंद के स्थान पर श्रीराम मिश्र, नं० ३१ श्रीशय्यानंद का नाम नहीं है, नं० ३७ श्रीगरीवानंद के स्थान पर श्रीगरीबदास है।

१ श्रीमन्नारायण।	२ श्रीलक्ष्मी।	३ श्रीधरमुनि।
४ श्रीसेनापति मुनि।	५ श्रीकारिसूनु मुनि	६ श्रीसैन्यनाथ मुनि।
७ श्रीनाथ मुनि।	८ श्रीपुण्डरीक।	९ श्रीराम मिश्र।
१० श्रीपारांकुश।	११ श्रीयामुनाचार्य।	१२ श्रीरामानुज स्वामी
१३*श्रीशठकोपाचार्य।	१४ श्रीकूरेशाचार्य।	१५ श्रीलोकाचार्य।
१६ श्रीपराशराचार्य।	१७ श्रीवाकाचार्य।	१८ श्रीलोकार्थलोकाचार्य
१९ श्रीदेवाधिपाचार्य।	२० श्रीशैलेशाचार्य।	२१ श्रीपुरुषोत्तमाचार्य।
२२ श्रीगंगाधरानंद।	२३ श्रीरामेश्वरानंद।	२४ श्रीद्वारानंद।
२५ श्रीदेवानंद।	२६ श्रीश्यामानंद।	२७ श्रीश्रुतानंद।
२८ श्रीनित्यानंद।	२९ श्रीपूर्णानंद।	३० श्रीहर्यानंद।
३१ श्रीशय्यानंद।	३२ श्रीहरिवर्यानंद।	३३ श्रीराघवानंद।
३४ श्रीरामानंद।	३५ श्रीसुरसुरानंद।	३६ श्रीमाधवानंद॥
३७ श्रीगरीवानंद।	३८ श्रीलक्ष्मीदासजी।	३९ श्रीगोपालदासजी।
४० श्रीनरहरिदासजी।	४१ श्रीतुलसीदास जी।	

स्वामी रामानंद जी का समय संवत् १४५० के लगभग माना जाता है। इस हिसाब से नरहरिदासजी का सोलहवीं शताब्दी में

* रामानुज सम्प्रदाय के ग्रंथों से स्पष्ट है कि शठकोपाचार्य रामानुज से पहले हुए हैं; और यहाँ पीछे लिखा है, इसलिये यह सूची ठीक नहीं।

होना संभव है। पर यह सब अनुमान केवल "नरहरि" शब्द पर है जो रामायण के आदि में आया है। तुलसीचरित में इसके संबंध में लिखा है कि गोस्वामी जी के गुरु रामदास जी थे।

चौपाई।

तब गुरु रामदास पहचानी। राम यज्ञ विधि श्रुति मत ठानी॥
द्वादस दिन फलहार कराई। दिये मौनव्रत मेरी ताई॥
राम बीज जुत मन्त्र जपावा। कष्ट साध्य सब नियम करावा॥
बीज मंत्र तुलसी के याना। लिखि त्रिकाल ध्यावत हित ज्ञाना॥

इन्हीं श्री रामदास से गोस्वामी जी ने विद्या भी प्राप्त की।

चौपाई।

पुनि भारती यज्ञ मम हेता। कियो परम गुरुदेव सचेता॥
पढ़ि मुनि पाणिनीय को ग्रंथा। वसु अध्याय शब्द कर पंथा॥
दीक्षित ग्रंथ समग्र विचारी। पढ़े कृपा गुरु शेखर भारी॥
कौस्तुभादि मह भाष्य विचारा। * * * *
बरष एक मह शब्दहिं जोई। पुनि षटशास्त्र वर्ष महँ गोई॥
सकल पुरान काव्य अवलोकी। तीन वर्ष महँ भयो विशोकी॥

अनुमान ही अनुमान की अपेक्षा इस स्पष्ट कथन को मानना उचित जान पड़ता है।

(५) पर्य्यटन

कहते हैं कि एक समय गोसाईं जी भृगु-आश्रम, हंसनगर और परसिया* होते, गायघाट† के राजा गम्भीरदेव का आतिथ्य सत्कार स्वीकार करते, ब्रह्मपुर‡ में ब्रह्मेश्वरनाथ महादेव के दर्शन कर के

* भृगु-आश्रम, हंसनगर और परसिया ज़िला बलिया में हैं।

† गायघाट में अब कोई राजधानी नहीं है। गायघाट का राजवंश जो हैहबंशी क्षत्रिय है, अब हल्दी ज़िला बलिया में रहता है।

‡ ब्रह्मपुर ज़िला बलिया में है। यहाँ शिवरात्रि पर बड़ा मेला होता है।

कांत * नाम के गाँव में आए। वहाँ उन्हें भोजन का कोई पदार्थ न मिला और वहाँ के लोगों को राक्षसी भाव में लिप्त देखकर वे आगे बढ़े। थोड़ा आगे जाकर उन्हें उसी गाँव का रहनेवाला सावँरू † अहीर का लड़का मँगरू अहीर मिला। उसने वहाँ एक गोशाला बना रक्खी थी जहाँ वह साधु महात्माओं का आतिथ्य सत्कार करता था। उसने बड़े आदर के साथ गोसाईं जी को बुलाया और थोड़ा दूध दिया, जिसका खोआ बनाकर गोसाईं जी ने खाया। गोसाईं जी ने मँगरू से कहा कि कुछ वर माँगो। मँगरू ने प्रार्थना की कि "महाराज, एक तो मेरा दृढ़ विश्वास प्रभु के चरणारविन्द में हो और दूसरे मेरा वंश बढ़े"। गोसाईं जी ने कहा कि "जो तुम और तुम्हारे वंशवाले चोरी न करेंगे और किसी को दुःख न देंगे तो ऐसा ही होगा"। कहते हैं कि यह आशीर्वाद फलीभूत हुआ। यह बात बलिया और शाहाबाद ज़िले में अब तक प्रसिद्ध है और उसके वंशवाले अब तक वर्त्तमान हैं, जिनका आतिथ्य-सत्कार प्रसिद्ध है और जिनके वंश में अब तक कोई चोरी नहीं करता, यद्यपि उस ज़िले के अहीर चोरी में प्रसिद्ध हैं।

वहाँ से गोसाईं जी बेलापतौत में आए। वहाँ गोविन्द मिश्र नामक एक शाकद्वीपी ब्राह्मण और रघुनाथसिंह नामक क्षत्रिय से भेंट हुई। उन लोगों ने बड़े आदर से गोसाईंजी को अपने यहाँ ठहराया। गोसाईं जी ने उस स्थान का नाम बेलापतौत से बदलकर रघुनाथपुर रक्खा, जिसमें एक तो यह रघुनाथसिंह का स्मारक हो, दूसरे इसी बहाने से लाखों मनुष्य भगवान् का नाम लें। यह स्थान रघुनाथपुर के नाम से अब तक प्रसिद्ध है और ब्रह्मपुर से एक कोस पर है। यहाँ पर गोसाईं जी का चौरा अब तक है। इसी के पास एक गाँव

---

* यह भी ज़िला बलिया में है। लोग प्रायः इसको कांत ब्रह्मपुर कहते हैं।

† सावँरू नाम के दो अहीरों का वर्णन लोरिक के गीतों में है।

कैथी है। कहते हैं कि वहाँ के प्रधान जोरावरसिंह ने भी गोसाइँ जी का आतिथ्य किया था और वे इनके शिष्य हुए थे।

(६) वासस्थान ✓

यद्यपि पहले गोसाईंजी अयोध्या में आकर रहे थे, और चित्र-कूट में भी प्रायः रहना उनकी कविता से पाया जाता है, परंतु उनका अधिक निवास काशी में ही रहा और अंत में उन्हें काशी-वास हुआ। काशी में गोसाईंजी के चार स्थान प्रसिद्ध हैं—

१—अस्सी पर-तुलसीदासजी का घाट प्रसिद्ध है। इस स्थान पर गोसाईंजी के स्थापित हनुमानजी हैं और उनके मंदिर के बाहर बीसा यन्त्र लिखा है जो पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है। यहाँ पर विशेष करके गोसाईंजी रहते थे और अंत समय में भी यहीं थे।

२—गोपालमंदिर में। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, जो तुलसीदासजी की बैठक है। यह सदा बंद रहती है। झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं। केवल श्रावण सु० ७ को खुलती है और लोग जाकर पूजा आदि करते हैं। यहाँ बैठकर यदि सब "विनयपत्रिका" नहीं तो उसका कुछ अंश उन्होंने अवश्य लिखा है, क्योंकि यह स्थान बिंदुमाधव जी के निकट है और पंचगंगा, बिंदुमाधव का वर्णन गोसाईंजी ने विनयपत्रिका में पूरा पूरा किया है। बिंदुमाधवजी के अंग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है, वह पुराने बिंदुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलता है।

३—प्रह्लादघाट पर यह स्थान उन्हीं गंगाराम ज्योतिषी का है, जो गोस्वामीजी के मित्र प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, चोरोंवाली घटना यहीं हुई थी।

४—संकट-मोचन हनुमान। यह हनुमानजी नगवा के पास

अस्सी के नाले पर गोसाईंजी के स्थापित हैं। कहते हैं कि प्रह्लाद-घाट के ज्यो० गंगारामजी ने राजा के यहाँ से जो द्रव्य पाया था, उसमें से १२ हज़ार गोसाईंजी की भेंट बहुत आग्रह करके किया। गोसाईंजी ने उससे बारह मूर्त्तियाँ श्रीहनुमानजी की स्थापित की थीं, जिन में से एक यह भी है।

१—हनुमान-फाटक, २—गोपालमंदिर, ३—अस्सी। पहला निवास-स्थान हनुमान-फाटक है। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमंदिर आए। वहाँ से भी वल्लभकुलवाले गोसाइयों से विरोध हो जाने के कारण उठकर अस्सी आए और मरण पर्यंत वहीं रहे।

अस्सी पर आपने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ की। सब से पुरानी रामलीला अस्सी ही की है। आज तक अस्सी के दक्षिण ओर कुछ दूर पर जो तुलसीदासजी की रामलीला की लंका थी, उस स्थान का नाम लंका है।

(७) रामलीला और कृष्णलीला

यद्यपि जनश्रुति ऐसी है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब काशी में चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाईं जी के पहले से होती थी, परंतु वर्तमान शैली की रामलीला, गोसाईं जी की रामायण गाकर, गोसाईं जी के ही समय से आरम्भ हुई है। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और गोसाईं जी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और लीलाओं से एक बात की विलक्षणता यह है कि और लीलाओं में जो खर-दूषण की सेना निकलती है, उसमें राक्षस लोग विमान पर निकाले जाते हैं; पर यहाँ पर राक्षस लोग, जैसा कि रामायण में लिखा है, भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इसकी लंका अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है।

रामलीला के अतिरिक्त गोसाईं जी कृष्ण-लीला भी करते थे।

अब तक उनके घाट पर कार्तिक कृष्ण ५ को "कालियदमन" लीला बहुत सुंदर रीति से होती है।

(८) मित्र और स्नेही

टोडर नाम के एक बडे ज़मींदार काशी में थे, जिन्हें गोसाइयों ने मार डाला था। इनके पास पाँच गाँव थे जो काशी के एक सिरे तक फैले हैं। इनके नाम भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा हैं। भदैनी अब काशिराज के पास है और इसी में अस्सीघाट है। नदेसर में अब तक सरकारी दीवानी कचहरी थी। शिवपुर पञ्चकोशी में है। यहाँ पाँचों पाण्डवों का मदिर और द्रौपदीकुण्ड है। इस द्रौपदी कुण्ड का जीर्णोद्धार राजा टोडरमल्ल ने कराया था। छीतूपुर भदैनी से और पश्चिम है। लहरतारा काशी के कटूनमेंट स्टेशन के पास है। इसी लहरतारा की झील में कबीर जी को बहता हुआ "नीमा" ने पाया था। यहाँ कबीर जी की एक मढ़ी बनी है। टोडर के मरने पर उनके पौत्र कँधई और बेटे आनन्दराम में झगड़ा हुआ था। उसमें गोसाइँ जी पंच हुए थे, और जो पंचायती फैसला उन्होंने लिखा था, वह ११ पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। ११वीं पीढो में पृथ्वीपालसिंह ने उसको महाराज काशिराज को दे दिया जो अब काशिराज के यहाँ है। टोडर के वंशज अब तक अस्सी पर हैं। पंचनामे की नक़ल आगे दी जाती है।

इन टोडर के मरने पर कहते हैं कि गोसाइँ जी ने ये दोहे कहे थे—

चार गाँव को ठाकुरो* मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥

---

* महतो चारों गाँव को—पाठान्तर।

रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच ।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच ॥

डाकर ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि यह टोडर अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री राजा टोडरमल थे, और उनके जन्म स्थान लाहरपुर (अवध) को वे लहरतारा अनुमान करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। राजा टोडरमल टंडन खत्री थे, जिसके प्रमाण में शिवपुर के द्रौपदीकुण्ड का शिलालेख वर्तमान है *। इस टोडर के वंशज क्षत्रिय हैं। दूसरे यह कभी संभव नहीं है कि राजा टोडरमल ऐसे भारी मन्त्री का नाम एक नगर का काज़ी ऐसी साधारण रीति पर लिखे कि "आनन्दराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर दर हुजूर आमदः" इत्यादि । तीसरे राजा टोडरमल का कोई चिह्न काशी में वर्त्तमान नहीं है। जान पड़ता है कि बंगाल पर चढ़ाई के समय राजा टोडरमल ने द्रौपदी कुण्ड का जीर्णोद्धार कराया हो। निदान यह निश्चय है कि यह टोडर राजा टोडरमल नहीं हैं।

---

* शिवपुर के शिलालेख की प्रतिलिपि ।
प्रत्यर्थिक्षितिपालकालनमु.........ने दृतिका ।
मुद्राङ्कङ्करकटप्रतापनपनप्रोद्भासिताशामुखे
क्षोणीशेऽकबरे प्रशासति महीं तस्मिन् नृपालावलि
स्फूर्जन्मौलिमरीचिवीचिरुचिरोदञ्चत पादाम्भोरुहे ॥ १ ॥
तद्राज्यैकधुरन्धरस्य वसुधा साम्राज्यदीक्षागुरो.
श्रीमट्टण्डनवंशमण्डनमणेः श्रीटोडरक्ष्मापतेः ।
धर्मोधैकविधौ समाहितमतेरादेशतोऽचीकर
द्वापीपाण्डवमण्डपे ..वनो गोविन्ददासः सुधीः ॥ २ ॥
ऋतुनिगमरसात्मासम्मिते १६४६ वत्सरेशे
सुकृतिकृतिहितैषी टोडरक्षौणिपतेः ।
विहितविविधपूतोऽचीकरच्चारुवापीं
विमलसलिलसारां बद्धसोपानपङ्क्तिम् ॥ ३ ॥

राजा टोडरमल के दो लड़कों के नाम धरु रम्रन और गोवर्धन धारी रम्रन थे और इस टोडर के लड़कों के नाम आनन्दराम और रामभद्र थे। इनमें से रामभद्र संवत् १६५८ के पहले मर चुका था। परन्तु राजा टोडरमल के दोनों लड़के उनके पीछे तक जीते रहे। इससे भी यही निकलता है कि ये दोनों टोडर दो भिन्न पुरुष थे।

पंचनामे की प्रतिलिपि।

श्री जानकीवल्लभो विजयते।

द्विश्शरं नाभिसंधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहि धरमु न सत्य समान।
रामु तजो जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥२॥
धर्म्मो जयति नाधर्म्मस्सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥३॥

फारसी न जाननेवाले लोगों के लिये हिंदी में प्रतिलिपि दी जाती है—

अल्लाहो अकबर

चूँ अनंदराम बिन टोडर बिन देओराय व कन्हई बिन रामभद्र बिन तोडर मज़कूर

दर हुजूर आमदः क़रार दादन कि दर मवाज़िए मतरूकः कि तफ़सीले आँ दर हिंदवी मज़कूर अस्त

बिल् मुनासफः बतराजीए जानिबैन क़रार दादेम व यक सद व पिंजाह बिघा ज़मीन ज़्यादः किस्मत मुनासिफः खुद

दर मौज़े मदैनी अनंदराम मज़कूर व कन्हई बिन रामभद्र मज़कूर तजवीज़ नमूदः

बरीं मानी राज़ीगस्तः अतराफ़ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबर आँ मुहर करदः शुद

श्रीपरमेश्वर

संवत् १६६६ समये कुआर सुदि तेरसी वार सुभ दीने लिषीतं पत्र अनंदराम तथा कन्हई के अंश विभाग पुर्वमु आगें जे आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसीलु अंश टोडरमलु के माह जे विभाग पडुहोत रा...

अंश अनंदराम	अंश कन्हई
मौजे भदेनी मह अंश पाच तेहि मह अंश दुइ, अनन्दराम, तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा नयपुरा अंश, टोडरमलुक हील हुज्जती नास्ती लिखातं अनंदराम जे ऊपर लिखा से सही।	मौजे भदैनी मह अंश पाँच तेहि मह तीनि अंश कन्हई तथा मौजे शिवपुरा तथा नदेसरी अंश टोडरमलुक हील हुज्जती नास्ती, लीषीतं कन्हई जे ऊपर लिषा से सही।

साछी रायराम रामदत्त सुत	साछी रामसिंह उद्धव सुत
साछी रामसेनी उद्धव सुत	साछी जादोराय गहरराय सुत
साछी उदेयकरन जगतराय सुत	साछी जगदीस राय महोदधी सुत
साछी जमुनी भान परमानंद सुत	साखी चक्रपानी शीवा सुत
साछी जानकीराम श्रीकांत सुत	साखी मथुरा पीठा सुत
साखी कवलराम वासुदेव सुत	साखी काशीदास वासुदेव सुत
साखी चंद्रभान केसौदास सुत	दसखत मथुरा।
साछी पांडे हरीवलभ पुरुषोत्तम सुत	साखी खरगभान गोसाईंदास सुत
साखी भावश्रो केसौदास सुत	साखी रामदेव बीसभर सुत
साखी जदुराम नरहरि सुत	साखी श्रीकांत पांड़े राजचक्र सुत
साखी अयोध्या लछी सुत	साछी विठलदास हरिहर सुत
साखी सवल भीष्म सुत	साछी हीरा दसरथ सुत
साछी रामचंद्र वासुदीव सुत	साछी लोहग कीस्ना सुत
साखी पितंबर दास वधीपूरन सुत	साखी नजराम शीतल सुत

साखी रामराय गरीबराय	साखी कृष्णदत्त भगवन् सुत
मकदूरी करन सुत	साखी विनरावन जय सुत
	साखी धनीराम मधुराय सुत
(शहीद ब माफिह जलाल मकबूली बख़तही)	(शहीद ब माफिहताहिर इवन खाजे दौलते कानूनगोय)
मुहर सादुल्लाह विन	... .
किस्मत अनंदराम	किस्मत कन्हई
क़रिया क़रिया	क़रिया क़रिया
मदैनी दो हिस्सः लहरतारा दरोबिस्त क़रिया	मदेनी सेह हिस्सः शिवपुर दरोबिस्त
नैपुरा हिस्से टोडर तमाम	क़रिया
करिया	नदेसर हिस्से टोडर तमाम
चितुपुरा खुर्द हिस्सै टोडर तमाम	अन्हरुल्ला (अस्पष्ट)

अब्दुर्रहीम खानखाना

कहते हैं कि अकबर के प्रसिद्ध वज़ीर नवाब खानखाना और तुलसीदासजी में बड़ा स्नेह था। एक ग़रीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से कन्या का विवाह न कर सकता था। वह गोस्वामी जी के पास आया। उन्होंने एक चिट पर दोहे की यह पंक्ति लिखकर दी और ख़ानख़ाना के पास ले जाने को कहा—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय।

ख़ानख़ाना ने उसे बहुत कुछ धन देकर उसी के हाथ यह उत्तर भेजा—

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

महाराज मानसिंह

आमेर के महाराज मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह गोस्वामीजी के पास प्रायः आते थे। एक दिन किसी ने गोस्वामीजी

से पूछा "महाराज! पहले तो आप के पास कोई नहीं आता था, अब इतने बड़े बड़े लोग आया करते हैं।" उन्होंने कहा—

लहै न फूटी कौड़ि हूँ, को चाहै कोई काज।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीबनिवाज॥
घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु ये अब राम सहाय॥

(६) चमत्कार ✓

रामचन्द्र जी के दर्शन

गोसाईं जी शौच के लिये नित्य गङ्गा पार जाया करते थे और लौटते समय लोटे का बचा हुआ जल रास्ते में पड़ते हुए आम के एक पेड़ की जड़ में डाल देते थे। उस पेड़ पर एक प्रेत रहता था। एक दिन वह उस जल से तृप्त होकर गोसाईं जी के सामने आया और उसने कहा कि कुछ माँगो। गोसाईं जी ने कहा कि हमें श्रीराम-चन्द्रजी के दर्शन के सिवा और कुछ इच्छा नहीं है। प्रेत ने कहा इतनी शक्ति तो मुझे नहीं है, पर मैं तुम्हें रास्ता बतला देता हूँ। अमुक मंदिर में रामायण की कथा होती है। वहाँ एक बहुत ही मैला कुचैला कोढ़ी नित्य कथा सुनने आता है; सब से पहले आता है और सब से पीछे जाता है। वे साक्षात् हनुमानजी हैं, उन्हीं का चरण पकड़कर बिनती करो। उनके जी में आ जायगा तो दर्शन करा देंगे। गोसाईं जी ने ऐसा ही किया और हनुमान जी को पहचानकर अकेले में उनका पैर पकड़ लिया। उन्होंने लाख जी बचाना चाहा, पर गोसाईं जी ने न छोड़ा। अन्त में हनुमान जी ने आज्ञा दी कि "जाओ, चित्रकूट में दर्शन होगा"। गोसाईं जी चित्रकूट आकर रहे। एक दिन वे वन में घूम रहे थे कि एक हरिण के पीछे दो सुन्दर राजकुमार एक श्याम और एक गौर धनुष बाण लिए घोड़ा दौड़ाए जाते दिखलाई दिए। गोसाईं जी रूप देख

मोहित तो हो गए, पर यह न जान सके कि यही श्रीराम-लक्ष्मण हैं। इतने में हनुमान जी ने आकर पूछा "कुछ देखा ?" गोसाईं जी ने कहा "हाँ, दो सुंदर राजकुमार घोड़े पर गए हैं"। हनुमान जी ने कहा "वही राम-लक्ष्मण थे"। गोसाईं जी ने उसी मन-मोहनी मूर्ति का ध्यान चित्त में रख लिया।

यह कथा प्रियादास जी ने लिखी है और यही "भक्त कल्पद्रुम" में भी है। परंतु डाक्टर ग्रिअर्सन इसको दूसरे ही प्रकार से लिखते हैं। वे लिखते हैं कि गोसाईं जी चित्रकूट में एक दिन बस्ती के बाहर घूम रहे थे कि उन्होंने वहाँ रामलीला होती हुई देखी। प्रसङ्ग यह था कि लङ्का जीतकर, राज्य विभीषण को देकर, सीता, लक्ष्मण और हनुमान जी के साथ भगवान् अयोध्या को लौट रहे हैं। लीला समाप्त होने पर वे लौटे। रास्ते में ब्राह्मण के रूप में हनुमान जी मिले। गोसाईं जी ने कहा "यहाँ बड़ी अच्छी लीला होती है"। ब्राह्मण ने कहा "कुछ पागल हो गए हो, आजकल रामलीला कहाँ ? रामलीला तो आश्विन-कार्तिक में होती है"। गोसाईं जी ने चिढ़ कर कहा—"हमने अभी देखी है, चलो तुम्हें भी दिखा दें"। यह कह कर वे ब्राह्मण को लेकर रामलीला के स्थान पर आए। वहाँ कुछ भी न था। लोगों से पूछा तो लोगों ने कहा "आज कल रामलीला कहाँ ?" तब गोसाईं जी को हनुमान जी की बात स्मरण आई और वे बहुत उदास होकर लौट आए, कुछ खाया पीया नहीं, रोते रोते सो गए। स्वप्न में हनुमान जी ने कहा-"तुलसी, पछताओ मत, इस कलियुग में प्रत्यक्ष दर्शन किसी को नहीं होते, तुम बड़े भाग्यवान् हो जो तुम्हें दर्शन हुए। सोच छोड़ो, उठो और उनकी सेवा करो"। तुलसीदास जी का चित्त शान्त हुआ। वे काशी में आकर भगवत्-सेवा में समय बिताने लगे। कहते हैं कि इसी समय रास्ते में इन से अपनी स्त्री से भेंट हुई थी।

तुलसीदासजी पहले ही से हनुमान जी के उपासक थे। बहुत

से लोग कहते हैं कि बालकाण्ड में जो लिखा है कि 'करउँ कथा हरि पद धरि सीसा' यहाँ हरि का अर्थ वानर—हनुमान जी है।

कहावत है कि गोसाईंजी रामायण बनाते बनाते जब बालकांड के २६४ वें सोरठे तक पहुँचे, तब "बूड़ सो सकल समाज" इतना लिख कर उनकी कलम रुक गई कि समाज में विश्वामित्र, राम, लक्ष्मण भी हैं। ये लोग भी डूब गए; यह अनर्थ हो गया। इस पर हनुमान जी की आकाशवाणी हुई कि रुको मत, आगे लिखो कि, 'चढ़े जो प्रथ-महिं मोहबस'। दूसरी यह कथा भी बहुत प्रसिद्ध है कि युद्ध में हनुमान को अंतरंग भक्त जान लक्ष्मण-शक्ति के प्रसङ्ग में राम ने हनुमान से कहा कि मैं वाल्मीकि के लिखे अनुसार चलता हूँ। इस को सुन हनुमान ने एक रामायण अपने नखों से शिलाओं पर लिख कर सही के लिये श्रीराम के पास उपस्थित की। श्रीराम ने देखकर कहा—ग्रन्थ अच्छा बना है, परंतु मैं वाल्मीकि-रामायण पर सही कर चुका हूँ। सो तुम वाल्मीकि से सही कराओ। हनुमान जी ने उसे वाल्मीकि को दिखाया। वाल्मीकि ने उस उत्तम ग्रन्थ को देखकर विचारा कि इसका प्रचार होने से मेरी रामायण नष्ट हो जायगी; इसलिये वे हनुमान जी की स्तुति करने लगे। हनुमान जी प्रसन्न होकर बोले कि वर माँगिए। वाल्मीकि ने कहा कि इस अपने ग्रंथ को समुद्र में डुबा दीजिए। हनुमान जी ने कहा कि मैं इसको तो समुद्र में डुबा देता हूँ; परंतु कलि में एक तुलसी नाम के ब्राह्मण की जिह्वा पर बैठकर भाषा रामायण कहूँगा, जिसके प्रचार से तुम्हारी रामायण नष्ट-प्राय हो जायगी।

चोरों को शिक्षा

एक दिन चोर तुलसीदास जी के यहाँ चोरी करने गए तो देखा कि एक श्याम सुंदर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहा है। चोर लौट गए। दूसरे दिन वे फिर आए और उन्होंने फिर उसी पहरेदार

को देखा। तब उन्हों ने सवेरे गोसाइँ जी से पूछा कि "आपके यहाँ श्याम सुंदर बालक कौन पहरा देता है?" गोसाइँ जी समझ गए कि मेरे कारण प्रभु को कष्ट उठाना पड़ता है। बस जो कुछ उनके पास था, सब उन्होंने लुटा दिया। चोर भी इस घटना से गोसाइँ जी के चेले हो गए।

डाक्टर ग्रिअर्सन ने एक कहानी और भी चोरों की लिखी है। वे लिखते हैं कि एक दिन काशी में कहीं से लौटते हुए गोसाइँ जी को रात हो गई। रात अँधेरी थी, चोरों ने घेरा। उन्होंने हनुमान जी का स्मरण कर ज्यों ही यह दोहा पढ़ा—

बासर ढासनिके ढका, रजनी चहुँदिसि चोर।
दलत दयानिधि देखिए कपि केसरी किसोर॥

कि हनुमान् जी प्रकट हो गए और चोर भाग गए।

मुर्दा जिलाना

कोई ब्राह्मण मर गया था और उसकी स्त्री सती होने जा रही थी। रास्ते में गोस्वामीजी को देख उसने प्रणाम किया। उनके मुँह से निकला 'सौभाग्यवती हो'। लोगों ने कहा "महाराज! इसका पति तो मर गया है। यह सती होने जा रही है"। गोस्वामीजी ने कहा-जब तक मैं न आऊँ तब तक इसे न जलाना। यह कहकर वे गंगा स्नान करने गए और वहाँ तीन दिन तक भगवान की स्तुति करते रहे। मुर्दा जी उठा।

यह कथा प्रियादास जी ने भी लिखी है।

बादशाह की क़ैद

मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और कहा कि "कुछ करामात दिखलाइए"। इन्होंने कहा कि "मैं सिवाय रामनाम के और कोई करामात नहीं जानता"। बादशाह ने इन्हें क़ैद कर लिया और कहा कि "जब तक करामात

। दिखाओगे छूटने न पाओगे"। तुलसीदासजी ने हनुमानजी की स्तुति की। हनुमानजी ने बंदरों की सेना से कोट को विध्वंस कराना आरंभ किया, और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि 'अब मेरी रक्षा कीजिए'। तब फिर गोसाईंजी ने हनुमानजी से प्रार्थना की और बंदरों का उपद्रव कम हुआ। गोसाईंजी ने कहा कि अब इसमें हनुमानजी का वास हो गया, इसलिये इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ। बादशाह ने ऐसा ही किया।

प्रियादासजी ने भी यह कथा लिखी है और कहा है कि अब तक कोई इसमें नहीं रहता। जान पड़ता है कि दिल्ली के नए किले के बनने पर पुराने क़िले में बंदरों का डेरा डालना और कोट को तहस नहस कर देना देखकर ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी संभव है कि जहाँगीर ने इन्हें बुलाया हो और कुछ दिनों क़ैद रक्खा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० में हुई और बादशाह शाहजहाँ संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा। उसीने नई दिल्ली (शाहजहाँबाद) बसाई और क़िला बनवाया। बैजनाथदास ने लिखा है कि जहाँगीर ने अपने बेटे शाहजहाँ के नाम से नगर बसाया; परंतु ऐसा नहीं है। नई दिल्ली को शाहजहाँ ने ही बनवाया था।

जो पद स्तुति के तुलसीदासजी ने इस समय बनाए थे वे ये हैं—

कानन भूधर वारि बयारि दवा बिष ज्वाल महा अरि घेरे।
संकट कोटि परो तुलसी तहँ मातु पिता सुत बंधु न नेरे॥
राखहिं राम कृपा करि कै हनुमान से पायक हैं जिन केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे॥

तोहि न ऐसी बूझिए हनुमान हठीले।
साहेब काहु न राम से तुम से न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सुत मेढुक लीले।

कैथी है। कहते हैं कि वहाँ के प्रधान जोरावरसिंह ने भी गोसाइं जी का आतिथ्य किया था और वे इनके शिष्य हुए थे।

(६) वासस्थान

यद्यपि पहले गोसाईंजी अयोध्या में आकर रहे थे, और चित्रकूट में भी प्रायः रहना उनकी कविता से पाया जाता है, परंतु उनका अधिक निवास काशी में ही रहा और अंत में उन्हें काशी-वास हुआ। काशी में गोसाईंजी के चार स्थान प्रसिद्ध हैं—

१—अस्सी पर-तुलसीदासजी का घाट प्रसिद्ध है। इस स्थान पर गोसाईंजी के स्थापित हनुमानजी हैं और उनके मंदिर के बाहर बीसा यन्त्र लिखा है जा पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है। यहाँ पर विशेष करके गोसाईंजी रहते थे और अंत समय में भी यहीं थे।

२—गोपालमंदिर में। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, जो तुलसीदासजी की बैठक है। यह सदा बंद रहती है। झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं। केवल श्रावण सु० ७ को खुलती है और लोग जाकर पूजा आदि करते हैं। यहाँ बैठकर यदि सब "विनयपत्रिका" नहीं तो उसका कुछ अंश उन्होंने अवश्य लिखा है, क्योंकि यह स्थान बिंदुमाधव जी के निकट है और पंचगंगा, बिंदुमाधव का वर्णन गोसाईंजी ने विनयपत्रिका में पूरा पूरा किया है। बिंदुमाधवजी के अग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है, वह पुराने बिंदुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ है, अविकल मिलता है।

३—प्रह्लादघाट पर यह स्थान उन्हीं गगाराम ज्योतिषी का है, जो गोस्वामीजी के मित्र प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, चोरोंवाली घटना यहीं हुई थी।

४—संकट-मोचन हनुमान। यह हनुमानजी नगवा के पास

अस्सी के नाले पर गोसाईंजी के स्थापित हैं। कहते हैं कि प्रह्लाद-घाट के ज्यो० गंगारामजी ने राजा के यहाँ से जो द्रव्य पाया था, उसमें से १२ हज़ार गोसाईंजी की भेंट बहुत आग्रह करके किया। गोसाईंजी ने उससे बारह मूर्त्तियाँ श्रीहनुमानजी की स्थापित की थीं, जिन में से एक यह भी है।

१—हनुमान-फाटक, २—गोपालमंदिर, ३—अस्सी। पहला निवास-स्थान हनुमान-फाटक है। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमंदिर आए। वहाँ से भी वल्लभकुलवाले गोसाइयों से विरोध हो जाने के कारण उठकर अस्सी आए और मरण पर्यंत वहीं रहे।

अस्सी पर आपने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ की। सब से पुरानी रामलीला अस्सी ही की है। आज तक अस्सी के दक्षिण ओर कुछ दूर पर जो तुलसीदासजी की रामलीला की लंका थी, उस स्थान का नाम लंका है।

(७) रामलीला और कृष्णलीला

यद्यपि जनश्रुति ऐसी है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब काशी में चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाईं जी के पहले से होती थी, परंतु वर्तमान शैली की रामलीला, गोसाईं जी की रामायण गाकर, गोसाईं जी के ही समय से आरम्भ हुई है। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और गोसाईं जी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और लीलाओं से एक बात की विलक्षणता यह है कि और लीलाओं में जो खर-दूषण की सेना निकलती है, उसमें राक्षस लोग विमान पर निकाले जाते हैं; पर यहाँ पर राक्षस लोग, जैसा कि रामायण में लिखा है, भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इसकी लंका अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है।

रामलीला के अतिरिक्त गोसाईं जी कृष्ण-लीला भी करते थे।

अब तक उनके घाट पर कार्तिक कृष्ण ५ को "कालियदमन" लीला बहुत सुंदर रीति से होती है।

(८) मित्र और स्नेही

टोडर नाम के एक बड़े ज़मींदार काशी में थे, जिन्हें गोसाइयों ने मार डाला था। इनके पास पाँच गाँव थे जो काशी के एक सिरे तक फैले हैं। इनके नाम भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा हैं। भदैनी अब काशिराज के पास है और इसी में अस्सीघाट है। नदेसर में अब तक सरकारी दीवानी कचहरी थी। शिवपुर पञ्चकोशी में है। यहाँ पाँचों पाण्डवों का मंदिर और द्रौपदीकुण्ड है। इस द्रौपदी-कुण्ड का जीर्णोद्धार राजा टोडरमल्ल ने कराया था। छीतूपुर भदैनी से और पश्चिम है। लहरतारा काशी के कंटूनमेंट स्टेशन के पास है। इसी लहरतारा की झील में कबीर जी को बहता हुआ "नीमा" ने पाया था। यहाँ कबीर जी की एक मढ़ी बनी है। टोडर के मरने पर उनके पौत्र कँधई और बेटे आनन्दराम में झगड़ा हुआ था। उसमें गोसाईं जी पंच हुए थे, और जो पंचायती फैसला उन्होंने लिखा था, वह ११ पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। ११वीं पीढ़ी में पृथ्वीपालसिंह ने उसको महाराज काशिराज को दे दिया जो अब काशिराज के यहाँ है। टोडर के वंशज अब तक अस्सी पर हैं। पंचनामे की नक़ल आगे दी जाती है।

इन टोडर के मरने पर कहते हैं कि गोसाईं जी ने ये दोहे कहे थे—

चार गाँव को ठाकुरो* मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥

---

* महतो चारों गाँव को—पाठान्तर।

रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच ।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच ॥

डाक्टर ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि यह टोडर अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री राजा टोडरमल थे, और उनके जन्म स्थान लाहरपुर (अवध) को वे लहरतारा अनुमान करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। राजा टोडरमल टंडन खत्री थे, जिसके प्रमाण में शिवपुर के द्रौपदीकुण्ड का शिलालेख वर्तमान है*। इस टोडर के वंशज क्षत्रिय हैं। दूसरे यह कभी संभव नहीं है कि राजा टोडरमल ऐसे भारी मन्त्री का नाम एक नगर का काजी ऐसी साधारण रीति पर लिखे कि "आनन्दराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर दर हुजूर आमदः" इत्यादि । तीसरे राजा टोडरमल का कोई चिह्न काशी में वर्त्तमान नहीं है। जान पड़ता है कि बंगाल पर चढ़ाई के समय राजा टोडरमल ने द्रौपदी कुण्ड का जीर्णोद्धार कराया हो। निदान यह निश्चय है कि यह टोडर राजा टोडरमल नहीं हैं।

---

* शिवपुर के शिलालेख की प्रतिलिपि ।

प्रत्यर्थिक्षितिपालकालनमु.........ने दुतिका ।
मुद्राङ्कस्फुटप्रतापतपनप्रोद्भासिताशामुखे
क्षोणीशेऽकबरे प्रशासति महीं तस्मिन् नृपालावलि
स्फूर्जन्मौलिमरीचिवीचिरुचिरोदञ्चत पादाम्भोरुहे ॥ १ ॥
तद्राज्यैकधुरन्धरस्य वसुधा साम्राज्यदीक्षागुरोः
श्रीमट्टण्डनवंशमण्डणमणेः श्रीटोडरक्ष्मापते. ।
धर्मार्थैकविधौ समाहितमतेरादेशतोऽचीकर
द्वापीपाण्डवमण्डपे...वनो गोविन्ददासः सुधीः ॥ २ ॥
ऋतुनिगमरसात्मासम्मिते १६४६ वत्सरेशे
सुकृतिकृतिहितैषी टोडरक्षौणिपतेः ।
विहितविविधपूतोऽचीकरच्चारुवापीं
विमलसलिलसारां बद्धसोपानपङ्क्तिम् ॥ ३ ॥

राजा टोडरमल्ल के दो लड़कों के नाम धरु टण्डन और गोवर्धन-धारी टण्डन थे और इस टोडर के लड़कों के नाम आनन्दराम और रामभद्र थे। इनमें से रामभद्र संवत् १६५६ के पहले मर चुका था। परन्तु राजा टोडरमल्ल के दोनों लड़के उनके पीछे तक जीते रहे। इससे भी यही निकलता है कि ये दोनों टोडर दो भिन्न पुरुष थे।

पंचनामे की प्रतिलिपि।

श्री जानकीवल्लभो विजयते।

द्विश्शरं नाभिसंधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहि धरमु न सत्य समान।
रामु तजो जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥२॥
धर्म्मो जयति नाधर्म्मस्सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥३॥

फारसी न जाननेवाले लोगों के लिये हिंदी में प्रतिलिपि दी जाती है—

अल्लाहो अकबर

चूँ अनंदराम बिन टोडर बिन देओराय व कन्हई बिन रामभद्र बिन तोडर मज़कूर

दर हुजूर आमदः क़रार दादन कि दर मवाज़िए मतरूकः कि तफ़सीले आँ दर हिंदवी मज़कूर अस्त

बिल् मुनासफः बतराजीए जानिबैन क़रार दादेम व यक सद व पिंजाह बिघा जमीन ज़्यादः किस्मत मुनासिफः खुद

दर मौज़े भदैनी अनंदराम मज़कूर व कन्हई बिन रामभद्र मज़कूर तजवीज़ नमूदः

बरीं मानी राज़ीग़स्तः अतराफ़ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबर आँ मुहर करदः शुद

श्रीपरमेश्वर

संवत् १६६६ समये कुआर सुदि तेरसी वार सुभ दीने लिषीतं पत्र अनंदराम तथा कन्हई के अंश बिभाग पुर्वसु आगें जे आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसीलु अंश टोडरमलु के माह जे विभाग पदुहोत रा...

अंश अनंदराम	अंश कन्हई
मौजे भदेनी मह अंश पाच तेहि मह अंश दुइ, अनन्दराम, तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा नयपुरा अंश, टोडरमलुक हील हुज्जती नास्ती लिखातं अनंदराम जे ऊपर लिखा से सही।	मौजे भदैनी मह अंश पाँच तेहि मह तीनि अंश कन्हई तथा मौजे शिवपुरा तथा नदेसरी अंश टोडर-मलुक हील हुज्जती नास्ती, लीषीतं कन्हई जे ऊपर लिषा से सही।
साछी रायराम रामदत्त सुत	साछी रामसिंह उद्धव सुत
साछी रामसेनी उद्धव सुत	साछी जादोराय गहरराय सुत
साछी उदेयकरन जगतराय सुत	साछी जगदीस राय महोदधी सुत
साछी जमुनी भान परमानंद सुत	साखी चक्रपानी शीवा सुत
साछी जानकीराम श्रीकांत सुत	साखी मथुरा पीठा सुत
साखी कवलराम वासुदेव सुत	साखी काशीदास वासुदेव सुत
साखी चंद्रभान केसौदास सुत	दसखत मथुरा।
साछी पांडे हरीवलभ पुरुषोत्तमसुत	साखी खरगभान गोसाइंदास सुत
साखी भावश्रो केसौदास सुत	साखी रामदेव बीसभर सुत
साखी जदुराम नरहरि सुत	साखी श्रीकांत पांड़े राजचक्र सुत
साखी अयोध्या लछी सुत	साछी विठलदास हरिहर सुत
साखी सबल भीष्म सुत	साछी हीरा दसरथ सुत
साछी रामचंद्र वासुदीव सुत	साछी लोहग कीस्ना सुत
साखी पितंबर दास वधीपूरन सुत	साखी नजराम शीतल सुत

साखी रामराय गरीबराय	साखी कृष्णदत्त भगवन् सुत
मकदूरी करन सुत	साखी बिनरावन जय सुत
	साखी धनीराम मधुराय सुत
(शहीद ब माफिह जलाल मकबूली बख़तही)	(शहीद ब माफिहताहिर इबन खाजे दौलते कानूनगोय)
मुहर सादुल्लाह बिन	... .
किस्मत अनंदराम	किस्मत कन्हई
क़रिया क़रिया	क़रिया क़रिया
मदैनी दो हिस्सः लहरतारा दरोबिस्त क़रिया	मदेनी सेह हिस्सः शिवपुर दरोबिस्त
नैपुरा हिस्से टोडर तमाम	क़रिया
करिया	नदेसर हिस्सै टोडर तमाम
चितूपुरा खुर्द हिस्सै टोडर तमाम	अन्दरुल्ला (अस्पष्ट)

अब्दुर्रहीम खानखाना

कहते हैं कि अकबर के प्रसिद्ध वज़ीर नवाब खानखाना और तुलसीदासजी में बड़ा स्नेह था। एक ग़रीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से कन्या का विवाह न कर सकता था। वह गोस्वामी जी के पास आया। उन्होंने एक चिट पर दोहे की यह पंक्ति लिखकर दी और ख़ानख़ाना के पास ले जाने को कहा—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय।

ख़ानख़ाना ने उसे बहुत कुछ धन देकर उसी के हाथ यह उत्तर भेजा—

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

महाराज मानसिंह

आमेर के महाराज मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह गोस्वामीजी के पास प्रायः आते थे। एक दिन किसी ने गोस्वामीजी

से पूछा "महाराज! पहले तो आप के पास कोई नहीं आता था, अब इतने बड़े बड़े लोग आया करते हैं।" उन्होंने कहा—

लहै न फूटी कौड़ि हूँ, को चाहै कोई काज।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीबनिवाज॥
घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु ये अब राम सहाय॥

(९) चमत्कार ✓

रामचन्द्र जी के दर्शन

गोसाईं जी शौच के लिये नित्य गङ्गा पार जाया करते थे और लौटते समय लोटे का बचा हुआ जल रास्ते में पड़ते हुए आम के एक पेड़ की जड़ में डाल देते थे। उस पेड़ पर एक प्रेत रहता था। एक दिन वह उस जल से तृप्त होकर गोसाईं जी के सामने आया और उसने कहा कि कुछ माँगो। गोसाईं जी ने कहा कि हमें श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन के सिवा और कुछ इच्छा नहीं है। प्रेत ने कहा इतनी शक्ति तो मुझे नहीं है, पर मैं तुम्हें रास्ता बतला देता हूँ। अमुक मंदिर में रामायण की कथा होती है। वहाँ एक बहुत ही मैला कुचैला कोढ़ी नित्य कथा सुनने आता है; सब से पहले आता है और सब से पीछे जाता है। वे साक्षात् हनुमानजी हैं, उन्ही का चरण पकड़कर बिनती करो। उनके जी में आ जायगा तो दर्शन करा देंगे। गोसाईं जी ने ऐसा ही किया और हनुमान जी को पहचानकर अकेले में उनका पैर पकड़ लिया। उन्होंने लाख जी बचाना चाहा, पर गोसाईं जी ने न छोड़ा। अन्त में हनुमान जी ने आज्ञा दी कि "जाओ, चित्रकूट में दर्शन होगा"। गोसाईं जी चित्रकूट आकर रहे। एक दिन वे वन में घूम रहे थे कि एक हरिण के पीछे दो सुन्दर राजकुमार एक श्याम और एक गौर धनुष बाण लिए घोड़ा दौड़ाए जाते दिखलाई दिए। गोसाईं जी रूप देख

मोहित तो हो गए, पर यह न जान सके कि यही श्रीराम-लक्ष्मण हैं। इतने में हनुमान जी ने आकर पूछा "कुछ देखा?" गोसाईं जी ने कहा "हाँ, दो सुंदर राजकुमार घोड़े पर गए हैं"। हनुमान जी ने कहा "वही राम-लक्ष्मण थे"। गोसाईं जी ने उसी मन-मोहनी मूर्ति का ध्यान चित्त में रख लिया।

यह कथा प्रियादास जी ने लिखी है और यही "भक्त कल्पद्रुम" में भी है। परन्तु डाक्टर ग्रिअर्सन इसको दूसरे ही प्रकार से लिखते हैं। वे लिखते हैं कि गोसाईं जी चित्रकूट में एक दिन बस्ती के बाहर घूम रहे थे कि उन्होंने वहाँ रामलीला होती हुई देखी। प्रसङ्ग यह था कि लङ्का जीतकर, राज्य विभीषण को देकर, सीता, लक्ष्मण और हनुमान जी के साथ भगवान् अयोध्या को लौट रहे हैं। लीला समाप्त होने पर वे लौटे। रास्ते में ब्राह्मण के रूप में हनुमान जी मिले। गोसाईं जी ने कहा "यहाँ बड़ी अच्छी लीला होती है"। ब्राह्मण ने कहा "कुछ पागल हो गए हो, आजकल रामलीला कहाँ? रामलीला तो आश्विन-कार्तिक में होती है"। गोसाईं जी ने चिढ़ कर कहा—"हमने अभी देखी है, चलो तुम्हें भी दिखा दें"। यह कह कर वे ब्राह्मण को लेकर रामलीला के स्थान पर आए। वहाँ कुछ भी न था। लोगों से पूछा तो लोगों ने कहा "आज कल रामलीला कहाँ?" तब गोसाईं जी को हनुमान जी की बात स्मरण आई और वे बहुत उदास होकर लौट आए, कुछ खाया पीया नहीं, रोते रोते सो गए। स्वप्न में हनुमान जी ने कहा—"तुलसी, पछताओ मत, इस कलियुग में प्रत्यक्ष दर्शन किसी को नहीं होते, तुम बड़े भाग्यवान् हो जो तुम्हें दर्शन हुए। सोच छोडो, उठो और उनकी सेवा करो"। तुलसीदास जी का चित्त शान्त हुआ। वे काशी में आकर भगवत्-सेवा में समय बिताने लगे। कहते हैं कि इसी समय रास्ते में इन से अपनी स्त्री से भेंट हुई थी।

तुलसीदासजी पहले ही से हनुमान जी के उपासक थे। बहुत

से लोग कहते हैं कि बालकाण्ड में जो लिखा है कि 'करउँ कथा हरि पद धरि सीसा' यहाँ हरि का अर्थ बानर—हनुमान जी है ।

कहावत है कि गोसाईंजी रामायण बनाते बनाते जब बालकांड के २६४ वें सोरठे तक पहुँचे, तब "बूड़ सो सकल समाज" इतना लिख कर उनकी कलम रुक गई कि समाज में विश्वामित्र, राम, लक्ष्मण भी हैं। ये लोग भी डूब गए; यह अनर्थ हो गया। इस पर हनुमान जी की आकाशवाणी हुई कि रुको मत, आगे लिखो कि, 'चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस'। दूसरी यह कथा भी बहुत प्रसिद्ध है कि युद्ध में हनुमान को अंतरंग भक्त जान लक्ष्मण-शक्ति के प्रसङ्ग में राम ने हनुमान से कहा कि मैं वाल्मीकि के लिखे अनुसार चलता हूँ। इस को सुन हनुमान ने एक रामायण अपने नखों से शिलाओं पर लिख कर सही के लिये श्रीराम के पास उपस्थित की। श्रीराम ने देखकर कहा—ग्रन्थ अच्छा बना है, परन्तु मैं वाल्मीकि-रामायण पर सही कर चुका हूँ। सो तुम वाल्मीकि से सही कराओ। हनुमान जी ने उसे वाल्मीकि को दिखाया। वाल्मीकि ने उस उत्तम ग्रन्थ को देखकर विचारा कि इसका प्रचार होने से मेरी रामायण नष्ट हो जायगी; इसलिये वे हनुमान जी की स्तुति करने लगे। हनुमान जी प्रसन्न होकर बोले कि वर माँगिए। वाल्मीकि ने कहा कि इस अपने ग्रंथ को समुद्र में डुबा दीजिए। हनुमान जी ने कहा कि मैं इसको तो समुद्र में डुबा देता हूँ; परंतु कलि में एक तुलसी नाम के ब्राह्मण की जिह्वा पर बैठकर भाषा रामायण कहूँगा, जिसके प्रचार से तुम्हारी रामायण नष्ट-प्राय हो जायगी।

चोरों को शिक्षा

एक दिन चोर तुलसीदास जी के यहाँ चोरी करने गए तो देखा कि एक श्याम सुंदर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहा है। चोर लौट गए। दूसरे दिन वे फिर आए और उन्होंने फिर उसी पहरेदार

को देखा। तब उन्हों ने सवेरे गोसाईं जी से पूछा कि "आपके यहाँ श्याम सुंदर बालक कौन पहरा देता है?" गोसाईं जी समझ गए कि मेरे कारण प्रभु को कष्ट उठाना पड़ता है। बस जो कुछ उनके पास था, सब उन्होंने लुटा दिया। चोर भी इस घटना से गोसाईं जी के चेले हो गए।

डाक्टर ग्रिअर्सन ने एक कहानी और भी चोरों को लिखी है। वे लिखते हैं कि एक दिन काशी में कहीं से लौटते हुए गोसाईं जी को रात हो गई। रात अँधेरी थी, चोरों ने घेरा। उन्होंने हनुमान जी का स्मरण कर ज्यों ही यह दोहा पढ़ा—

बासर ढासनिके ढका, रजनी चहुँदिसि चोर।
दलत दयानिधि देखिए कपि केसरी किसोर॥

कि हनुमान् जी प्रकट हो गए और चोर भाग गए।

मुर्दा जिलाना

कोई ब्राह्मण मर गया था और उसकी स्त्री सती होने जा रही थी। रास्ते में गोस्वामीजी को देख उसने प्रणाम किया। उनके मुँह से निकला 'सौभाग्यवती हो'। लोगों ने कहा "महाराज! इसका पति तो मर गया है। यह सती होने जा रही है"। गोस्वामीजी ने कहा—जब तक मैं न आऊँ तब तक इसे न जलाना। यह कहकर वे गंगा स्नान करने गए और वहाँ तीन दिन तक भगवान की स्तुति करते रहे। मुर्दा जी उठा।

यह कथा प्रियादास जी ने भी लिखी है।

बादशाह की क़ैद

मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और कहा कि "कुछ करामात दिखलाइए"। इन्होंने कहा कि "मैं सिवाय रामनाम के और कोई करामात नहीं जानता"। बादशाह ने इन्हें क़ैद कर लिया और कहा कि "जब तक करामात

न दिखाओगे छूटने न पाओगे"। तुलसीदासजी ने हनुमानजी की स्तुति की। हनुमानजी ने बंदरों की सेना से कोट को विध्वंस कराना आरंभ किया, और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि 'अब मेरी रक्षा कीजिए'। तब फिर गोसाईं जी ने हनुमानजी से प्रार्थना की और बंदरों का उपद्रव कम हुआ। गोसाईंजी ने कहा कि अब इसमें हनुमानजी का वास हो गया, इसलिये इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ। बादशाह ने ऐसा ही किया।

प्रियादासजी ने भी यह कथा लिखी है और कहा है कि अब तक कोई इसमें नहीं रहता। जान पड़ता है कि दिल्ली के नए किले के बनने पर पुराने क़िले में बंदरों का डेरा डालना और कोट को तहस नहस कर देना देखकर ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी संभव है कि जहाँगीर ने इन्हें बुलाया हो और कुछ दिनों कैद रक्खा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० में हुई और बादशाह शाहजहाँ संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा। उसीने नई दिल्ली (शाहजहाँबाद) बसाई और क़िला बनवाया। बैजनाथदास ने लिखा है कि जहाँगीर ने अपने बेटे शाहजहाँ के नाम से नगर बसाया; परंतु ऐसा नहीं है। नई दिल्ली को शाहजहाँ ने ही बनवाया था।

जो पद स्तुति के तुलसीदासजी ने इस समय बनाए थे वे ये हैं—

कानन भूधर बारि बयारि दवा बिष ज्वाल महा अरि घेरे।
संकट कोटि परो तुलसी तहँ मातु पिता सुत बंधु न नेरे॥
राखहिं राम कृपा करि कै हनुमान से पायक हैं जिन केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे॥

तोहि न ऐसी बूझिए हनुमान हठीले।
साहेब काहु न राम से तुम से न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सुत मेंढुक लीले।

जानत हूँ कलि तेरेऊ मनो गुनगन कीले ॥
हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले ।
सो बल गयो कि भए अब कछु गर्वगहीले ॥
सेवक को परदा फटै तूँ समरथसीले ।
अधिक आपु तें आपु तें सनमान सहीले ॥
साँसति तुलसीदास की देखि सुजस तुँही ले ।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम-रँगीले ॥
समरथ सुअन समीर के रघुवीर पियारे ।
मो पर कीबी तोहि जो करि लेहि भियारे ॥
तेरी महिमा ते चलै चिंचिनी चियारे ।
अँधियारे मेरी वार को त्रिभुवन उँजियारे ॥
केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे ।
केहि अघ औगुन आपनो करि डारि दिया रे ॥
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे ।
जो तो सो होतो फिरो मेरे हेत हिया रे ॥
तौ क्यों वदन दिखावतो कहि बचन इया रे ।
तेरे बल बलि आज लौं जग जानि जिया रे ॥
तो सों ज्ञाननिधान को सर्वज्ञ विया रे ।
हौं समुझत साईं द्रोह की गति छार छिया रे ॥
तेरे स्वामी राम सो स्वामिनी सिया रे ।
तहँ तुलसी कहै कौन को ताको तकिया रे ॥

उपद्रव-शांति के लिये जो पद बनाए थे, वे ये हैं—

अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी ।
इनको बिलगु न मानिये बोलहिं न विचारी ॥
लोक रीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी ।
अति बरषे अनबरपेहु देहिं दैवहिं गारी ॥
ना कहि आये नाथ सों भई साँसति भारी ।

करि आये कीबी छमा निज ओर निहारी ॥
समय साँकरे सुमिरिये समरथ हितकारी ॥
सो सब विधि दाया करै अपराध बिसारी ॥
बिगरी सेवक की सदा साहेबहि सुधारी ।
तुलसी पै तेरी कृपा निरुपाधि निहारी ॥
कटु कहिये गाढ़े पड़े सुनि समुझि सुसाईं ।
करहिं अनभलेहु को भलो आपनी भलाई ॥
समरथ सभी जो पाइए सुनि पीर पराई ।
ताहि तक्यो सब ज्यों नदी बारिधि न बोलाई ॥
अपने अपने को भलो चहै लोग लोगाई ।
भावै जो जेहि भजै सो सुभ असुभ सगाई ॥
बाँह बोल दै थापिये जेहि निज बरियाई ।
बिनु सेवा सो पालिये सेवक की नाईं ॥
चूक चपलता मेरई तूँ बड़ो बड़ाई ।
हौं तौ आदरे ढीठ हौं अति नीच निचाई ॥
बंदि छोर बिरदावली निगमागम गाई ।
नीको तुलसीदास को तेरिये निकाई ॥

मंगल मूरति मारुत-नंदन । सकल अमंगल-मूल निकंदन ॥
पवन-तनय संतन-हितकारी । हृदय बिराजत अवधविहारी ॥
मातु पिता गुरु गनपति सारद । सिवा समेत संभु सुक नारद ॥
चरन बँदि बिनवौं सब साहू । देहु रामपद भक्ति निबाहू ॥
बँदउँ राम लखन वैदेही । जे तुलसी के परम सनेही ॥

कृष्णमूर्ति का राममूर्ति हो जाना

दिल्ली से गोसाईं जी वृंदावन गए। वहाँ वे एक मंदिर में दर्शन को गए। श्रीकृष्णमूर्ति का दर्शन करके यह दोहा उन्होंने कहा—

"का बरनउँ छवि आज की भले बिराजेउ नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै (जब) धनुष बान लेउ हाथ ॥"

कहते हैं कि जब भगवान् ने वहाँ श्री रामचंद्रजी के स्वरूप में दर्शन दिए, तब तुलसीदासजी ने दडवत किया। इस कथा को प्रियादासजी ने भी लिखा है; पर इसमें एक संदेह होता है। जिन गोसाईं जी ने कृष्णगीतावली बनाई, सैकड़ों स्थानों पर अपने विनय के पदों में कृष्णगुणानुवाद दिया और जो स्वयं कृष्णलीला (नागदमन लीला) कराते थे, वे ऐसा भेद-भाव क्यों प्रकट करेंगे? संभव है, गोसाइयों ने इनकी अनन्यता पर आक्षेप किया हो।

हत्या छुड़ाना

प्रियादासजी ने एक ब्राह्मण की हत्या छुड़ाने की कथा लिखी है जिसका वर्णन "विनयपत्रिका" के प्रसग में देखो।

(१०) पंडितों से शास्त्रार्थ

बैजनाथदास ने लिखा है कि शंकरमतानुयायी श्रीमधुसूदन सरस्वती ने वाद में प्रसन्न होकर यह श्लोक इनकी प्रशंसा में बनाया—

"आनन्दकानने कश्चिज्जंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता॥"

पंडित महादेवप्रसाद ने भी भक्तिविलास में लिखा है कि "एक पडित दिग्विजय की इच्छा से काशी में आया था, परंतु गोसाईं जी का प्रताप देखकर उसने हार मान ली और यह श्लोक बनाया—

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता॥"

गोपालदासजी ने भी यही पाठ "रामायण-माहात्म्य" में दिया है और लिखा है कि पहले रामायण का आदर काशी के पंडितों ने नहीं किया। उन्होंने कहा कि यदि इसको आनन्दकानन ब्रह्मचारी मानें तो हम लोग भी मानेंगे। ब्रह्मचारी ने रामायण की बड़ी प्रशंसा की और यह ऊपर का श्लोक लिख दिया। काशिराज महाराज

ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तुलसी जंगम तरु लसै आनँदकानन खेत।
कविता जाकी मंजरी राम-भ्रमर-रस लेत॥"

(११) नाभाजी से भेंट

" भक्तमाल " के कर्ता नाभाजी इनसे मिलने काशी आए। उस समय गोसाईं जी ध्यान में थे, नाभाजी से कुछ बातचीत न कर सके। नाभाजी उसी दिन वृन्दावन चले गए। गोसाईं जी ने जब यह सुना, तब वे बहुत पछताए और नाभाजी से मिलने वृन्दावन गए। नाभाजी के यहाँ वैष्णवों का भण्डारा था, बिना बुलाए गोसाईं जी उसमें गए। नाभाजी ने जान बूझकर इनका कुछ आदर न किया। परोसने के समय खीर के लिये कोई बर्तन न था। गोसाईं जी ने चट एक साधु का जूता लेकर कहा कि इससे बढ़कर उत्तम पात्र क्या होगा? इस पर नाभाजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया और कहा कि आज मुझे भक्तमाल का सुमेरु मिल गया।

ऐसा न हो कि ये मुझे अभिमानी समझें और मेरी कथा भक्तमाल में बिगाड़कर लिखें, इस विचार से तुलसीदास भण्डारे में वैरागियों की पंक्ति के अन्त में बैठे थे और कढ़ी या खीर लेने के लिये एक वैरागी की जूती उठाई थी। बहुत से लोग आज तक कहते हैं कि नाभा जी का बनाया जो पद पहले उद्धृत किया जा चुका है, उसका पहला चरण पहले यह था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भये वालमीकि अवतार धरि"। इस पाठ से वाल्मीकिजी के साथ तुलसीदासजी का पूर्ण साम्य हो जाता था, क्योंकि वाल्मीकिजी भी पहले कुटिल थे और तुलसीदासजी ने भी पहले नाभाजी से कुटिलता की थी।

(१२) मीराबाई का पत्र

मेवाड के राजकुमार भोजराज की वधू मीराबाई बडी ही भगवद्भक्त थीं। साधुसमागम में उनका समय बीतता था, इससे संसार के उपहास के कारण राणा जी को बहुत बुरा लगता था। उन्होंने बहुत कुछ समझाया बुझाया, पर मीरा ने एक न मानी। तब मीरा को मारने के बहुत से उपाय किए गए, पर भगवत्कृपा से सब व्यर्थ हुए। अन्त में कुटुम्बवालों की ताडना सहते सहते मीराबाई का चित्त ऊब गया। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी का यश सुना था; अतः उनको नीचे लिखा पत्र भेजा और पूछा कि मुझको क्या करना चाहिए।

"स्वस्ति श्रीतुलसी गुण दूषनहरण गुसाईं।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ अघ हरहु सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई।
साधुसंग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
बालपने तें मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरि-भक्तन सुखदाई।
हम को कहा उचित करिबो है सो लिखिये समुझाई॥

गोसाईं जी ने उत्तर में यह पद लिख भेजा—

"जिनके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये तिन्हें कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
* तांत मात भ्राता सुत पति हित इन समान कोउ नाहीं।
* रघुपति विमुख जानि लघु तृन इव तजत न सुकृत डेराहीं॥
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।
गुरु बलि तज्यो कंत ब्रज बनितन भे सब मंगलकारी॥

* बहुत पुस्तकों में ये दो चरण नहीं हैं।

नातो नेह राम को मानिय सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कौन आँखि जौं फूटे बहुते कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सोइ सब भाँति आपनो पूज्य प्रान तें प्यारो।
जा तें होइ सनेह राम सौं सोई मतो हमारो॥"

यह उत्तर पाकर मीरा ने घर छोड़ दिया और वे तीर्थाटन को निकल गईं।

यह आख्यायिका बहुत प्रसिद्ध है, परन्तु मीराजी के समय में और गोस्वामी जी के समय में बड़ा अन्तर पड़ता है। मीराबाई की मृत्यु संवत् १६०३ में हो चुकी थी। जान पड़ता है कि तुलसीदास जी और मीराबाई के पत्रव्यवहार की बात बिलकुल मनगढ़न्त है।

(१३) कुछ फुटकर बातें

१—कहते हैं कि रामायण बनने के पीछे एक दिन गोसाईं जी मणिकर्णिका घाट पर नहा रहे थे। एक पंडित ने, जिन्हें अपने पाण्डित्य का बड़ा घमण्ड था, इनसे पूछा कि "महाराज, आप ने संस्कृत के पंडित होकर अपने ग्रंथ को गँवारी भाषा में क्यों बनाया?" गोसाईं जी ने कहा "इसमें संदेह नहीं कि मेरी गँवारी भाषा अभावपूर्ण है, पर आपके संस्कृत के नायिका-वर्णन से अच्छी ही है"। उसने पूछा "यह कैसे?" गोसाईं जी ने कहा—

"मनि भाजन विष पारई पूरन अमी निहार।
का छाँड़िय का संग्रहिय कहहु विवेक बिचार॥"

(यह दोहा दोहावली का ३५१ वाँ दोहा है; पर उस में और इस में कुछ पाठान्तर है।)

२—घनश्याम शुक्ल संस्कृत के अच्छे कवि थे, पर भाषा कविता करना उन्हें अधिक रुचता था। उन्होंने धर्मशास्त्र के कुछ ग्रंथ भाषा में बनाए। इस पर एक पण्डित ने उनसे कहा कि "इस विषय को देववाणी संस्कृत में न लिखने से ईश्वर अप्रसन्न होते हैं। आगे से

आप उसीमें लिखा कीजिए।" उन्होंने इस की सलाह तुलसीदास से पूछी। उन्होंने कहा—

"का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियतु साँच।
काम जो आवइ कामरी का लै करै कुमाच॥"

(यह दोहावली का ५७१ वाँ दोहा है और सतसई में भी है।)

३—एक दिन एक अलखिए फकीर ने आकर "अलख, अलख" पुकारा। इस पर तुलसीदास जी ने कहा—

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीचु।
तुलसी अलखै का लखै रामनामु जपु नीचु"॥

४—ज़िला सारन के मैरवा गाँव में हरीराम ब्रह्म का ब्रह्मस्थान है। कहते हैं कि कनकशाही बिसेन के अत्याचार से आत्महत्या करके हरीराम ब्रह्म बने थे। यहाँ रामनवमी के दिन बड़ा मेला लगता है। कहते हैं कि इन हरीराम के यज्ञोपवीत के समय तुलसी दास जी भी उपस्थित थे।

५—बैजनाथ जी के ग्रंथ से नीचे लिखे स्फुट वृत्तान्त लिखे जाते हैं।

(१) गोसाईं जी के दर्शन और उपदेश से एक वेश्या को ज्ञान हुआ और वह सब तज हरि भजने लगी।

२—एक पण्डित जीविकाहीन बड़े दुखी थे। उनके लिये श्रीगंगा जी ने गोसाईं जी की विनती पर काशी के उस पार बहुत सी भूमि छोड़ दी।

(३) मुर्दा जिलाने पर लोगों की भीड़ गोसाईं जी के दर्शन को आया करती थी। गोसाईं जी गुफा में रहते थे। एक बार बाहर निकलकर सब को दर्शन दे देते थे। तीन लड़के दर्शन के नेमी थे। एक दिन वे तीनों नहीं आए। गोसाईं जी ने उस दिन किसी को दर्शन न दिया। लोगों को बहुत बुरा लगा। दूसरे दिन लड़के भी आए, रतु उनकी परीक्षा के लिये उस दिन भी गोसाईं जी ने किसी को

दर्शन न दिया। लड़कों से वियोग न सहा गया। वे तड़पकर मर गए। तब गोसाईं जी ने चरणामृत देकर उनको जिलाया। लोग उनका प्रेम देखकर धन्य धन्य कहने लगे।

(४) एक तान्त्रिक दण्डी की स्त्री को कोई बैरागी भगा ले गया था। दण्डी को यक्षिणी सिद्ध थी। उसके द्वारा उसने बादशाह को पकड़ मँगाया और हुक्म जारी करा दिया कि सब की माला उतार ली जाय और तिलक मिटा दिए जायँ। जब काशी में गोसाईं जी के पास राजदूत आए तो सब को भयंकर काल का रूप दिखाई दिया। सब भागे और गोसाईं जी के प्रताप से जिन लोगों की कण्ठी-माला उतरी थी, उनके पास सब आप से आप पहुँच गईं।

(५) अयोध्या का एक भंगी काशी में आकर रहा था। उसके मुँह से अवध का नाम सुनकर वे प्रेम-विह्वल हो गए। उन्होंने उस का बड़ा सत्कार किया और बहुत कुछ देकर उसे विदा किया।

(६) एक समय वे जनकपुर गए थे। वहाँ के ब्राह्मणों को श्रीरामचंद्र जी के समय से बारह गाँव माफी दान मिले थे, जिनको पटने के सूबेदार ने छीन लिया था। गोसाईं जी ने श्रीहनुमान जी की सहायता से उनके पट्टे फिर उनको लौटवा दिए।

(७) काशी में बनखण्डी में एक प्रेत इन के दर्शन से प्रेतयोनि से मुक्त हो गया।

(८) चित्रकूट-यात्रा के समय रास्ते में एक राजा की कन्या को चरणामृत देकर इन्होंने पुरुष बना दिया। इसके प्रमाण में दोहावली के ये दो दोहे कहे जाते हैं—

"कबहुँक दरसन संत के पारस मनी अतीत।
नारी पलट सो नर भयो लेत प्रसादो सीत॥
तुलसी रघुवर सेवतहिं मिटि गो कालो काल।
नारी पलट सो नर भयो ऐसे दीन दयाल॥

(९) प्रयाग में वे गोसाइँ मुरारिदेव जी से मिले थे।

(१०) मलूकदास और स्वामी दरियानंद से उनकी भेंट हुई थी।

(११) चित्रकूट मंदाकिनी में एक ब्राह्मण की दरिद्रता छुड़ाने के लिये दरिद्रमोचनशिला आप से आप निकल आई जो अब तक है।

(१२) दिल्ली से लौटते हुए एक ग्वाले को उपदेश देकर उन्होंने मुक्त कर दिया था। उसका स्थान अब तक है।

(१३) वृंदावन में किसी ने कहा कि श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं और श्रीराम अंशावतार हैं, आप श्रीकृष्ण का ध्यान क्यों नहीं करते? गोसाईं जी ने कहा कि मेरा मन तो दशरथ-नंदन के सुंदर श्याम स्वरूप ही पर लुभा गया था। अब विदित हुआ कि वे ईश्वर के अंशावतार भी हैं, तो यह और भी अच्छा हुआ। वृंदावन में उन्होंने कई चमत्कार दिखाए।

(१४) संडिले के स्वामी नन्दलाल गोसाइँ जी से चित्रकूट में आकर मिले। गोसाइँ जी ने उन्हें अपने हाथ से रामकवच लिखकर दिया था।

(१५) मुक्तामणिदास को जो एक महात्मा अवध में थे, बनाए पदों पर गोसाइँ जी बहुत ही रीझे थे।

(१६) अवध से वे नैमिषारण्य आए। सूकर क्षेत्र का दर्शन किया और पसका में कुछ दिन रहे। सिवार गाँव में भी कुछ दिन रहे। यहाँ सीताकूप है। यह स्थान श्रीसीताजी का है। कुछ दिन वे लक्ष्मणपुर (लखनऊ?) में रहे। वहाँ के एक निरक्षर दीन जाट को अच्छा कवि बना दिया और उसकी अच्छी जीविका करा दी। वहाँ से थोड़ी दूर मड़िहाऊँ गाँव में भीष्म नामक एक भक्त रहते थे। उनके बनाए नखसिख को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ उनसे मिलने के लिये गए। चनहट गाँव होते, एक कूएँ का जल पीते और उस जल की बड़ाई करते मलीहाबाद में आकर उन्होंने

डेरा किया। वहाँ एक भाट भक्त थे, उनको अपनी रामायण दी *। वहाँ से प्रभाती में स्नान करके वाल्मीकिजी के आश्रम से होते, रसूलाबाद के पास कोटरा गाँव में वे आए। यहाँ वे अनन्यमाधव से मिले। ये बड़े भक्त और कवि थे। यहाँ गोसाईं जी ने "मैं हरि पतितपावन सुने" पद बनाया। अनन्य माधवदास ने उत्तर में यह पद बनाया—

"तब तें कहाँ पतित नर रह्यो।
जब तें गुरु उपदेस दीन्हो नाम नौका गह्यो॥
लोह जैसे परसि पारस नाम कंचन लह्यो।
कस न कसि कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चह्यो।
उभरि आयो बिरह बानी मोल महँगे कह्यो।
खीर नीर तें भयो न्यारो नरक तें निर्वह्यो॥
मूल माखन हाथ आयो त्यागि सरवर मह्यो।
अनन्य माधवदास तुलसी भवजलधि निर्वह्यो॥

वहाँ कुछ दिन रहकर वे ब्रह्मावर्त्त (बिठूर) में गंगा तट पर आ रहे। वहाँ से वाल्मीकि जी के स्थान से होते संडीले में आए। रास्ते में ठहरते ठहराते, नैमिषारण्य होते फिर वे अवध में आ गए।

(१७) संडीले में एक ब्राह्मण को वे कह आए थे कि तुम्हें बड़ा कृष्णभक्त बेटा होनेवाला है। ऐसा ही हुआ। उनके पुत्र मिश्र वंशीधर बड़े भक्त और कवि हुए।

(१८) नैमिषारण्य में एक महात्मा रहते थे; उनसे वे मिले।

(१९) मिसिरिख के पास जैरामपुर एक गाँव है, वहाँ आकर

---

* कहते हैं कि रामायण की यह प्रति अब तक वर्त्तमान है। हमें भी इस के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। यह जिन के अधिकार में है, वे उसकी परीक्षा नहीं करने देते। साथ ही लोग यह भी कहते हैं कि इस में कई स्थानों पर क्षेपक हैं। इस से इस प्रति के तुलसीदास जी द्वारा लिखित होने में संदेह होता है।

उन्होंने एक सूखी डाली गाड़ दी जो हरी हो गई। उसका नाम उन्होंने वंशीवट रक्खा और आज्ञा की कि श्रीराम-विवाहोत्सव के दिन अगहन सु० ५ को यहाँ रासलीला कराया करो। वह प्रति वर्ष अब तक होती है।

(२०) रामपुर में जगात के लिये इनकी नाव रोक दी गई थी। तब उन्होंने सब कुछ वहीं लुटा दिया। ज़मींदार ने जब सुना तो वह आकर पैरों पर गिरा और बड़े आग्रह से उन्हें घर लाया। प्रसन्न होकर उसको उन्होंने एक प्रति रामायण की दी।

(२१) कवि गंग गोसाईं जी से मिलने काशी आए थे।

(२२) जहाँगीर उनसे मिलने आया था और उसने बहुत कुछ देना चाहा, पर गोसाईं जीने कुछ ग्रहण न किया।

६—पण्डित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने "भक्तिविलास" नामक ग्रंथ गोसाईं जी के चरित्र वर्णन में लिखा है। उससे जो विशेष बातें विदित हुईं, वे भी यहाँ लिखी जाती हैं।

(१) गोसाईं जी के माता पिता का स्थान पत्यौजा में था। गर्भस्थिति अन्तर्वेद के तरी गाँव में हुई। वहाँ से आकर राजापुर में गोसाईं जी का जन्म हुआ।

(२) वे लोग मालवा की ओर चले। रास्ते में सूकरक्षेत्र (सोरों) में नरहरिदास से तुलसीदासजी ने रामचरित्र की कथा सुनी।

(३) माता-पिता ने इनका जनेऊ किया और विद्या पढ़ाई। बचपन में नरहरिदास ने उपदेश किया। जब माँ बाप मर गए, तब गुरु ने आज्ञा देकर इन्हें राजापुर भेजा। वहाँ इन्होंने विवाह किया। फिर स्त्री का उपदेश हुआ।

(४) ब्रज में * सूरदास से इनकी भेंट हुई।

* किसी ने तुलसीदास से सूरदास की प्रशंसा की। इस पर तुलसीदास ने कहा—

कृष्णचंद्र के सूर उपासी। तातें इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचंद्र हमरे रखवारा। तिनहिं छाँड़ि नहिं कोउ संसारा॥

(५) ओड़छे में केशवदास को इन्होंने प्रेतयोनि से छुड़ाया।

(६) टोडरमल काशी में इनकी सेवा करते थे।

७—महाराज रघुराजसिंह ने अपने भक्तमाल में जो चरित्र लिखा है, उसमें जो विशेष बातें हैं, वे लिखी जाती हैं—

(१) स्त्री के उपदेश के पीछे गुरु ने सूकरक्षेत्र में रामायण का उपदेश दिया।

(२) एक ब्राह्मण के लड़के को उन्होंने हनुमानजी के द्वारा यमपुरी से लौटा मँगाया।

(३) दिल्ली में एक मतवाला हाथी इन पर टूटा। श्रीरामचंद्रजी ने तीर से उसको मार गिराया।

(४) काशी में विनयपत्रिका बनाकर विश्वनाथजी के मंदिर में इन्होंने रख दी थी। विश्वनाथजी ने उस पर सही कर दी।

(१४) मृत्यु

जहाँगीर सन् १६०५ (संवत् १६६२) में गद्दी पर बैठा और सन् १६२७ (संवत् १६८४) में उसकी मृत्यु हुई। उसके राजत्वकाल में सन् १६१६ (संवत् १६७३) में पंजाब में महामारी (प्लेग) फैली और सन् १६१८ (संवत् १६७५) से ८ वर्ष तक आगरे में उसका प्रकोप रहा। तुज़ुक जहाँगीरी में उसकी भीषणता का पूरा वर्णन है। आगरे में उससे १०० मनुष्य नित्य मरते थे, लोग घर द्वार छोड़कर भाग गए थे, मुर्दों को उठानेवाला कोई नहीं था, कोई किसी के पास नहीं जाता था।

कवितावली के ३१२ वें कवित्त में तुलसीदासजी ने लिखा है—

"बीसी बिस्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की।" इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय रुद्रबीसी थी। ज्योतिष की गणना के अनुसार यह समय संवत् १६६५ से १६८५ तक का है।

कवित्त ३१८ में तुलसीदासजी काशी में महामारी होने का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

शंकर सहर नर नारि वारि चर गर विकल सकल महामारी माया भई है। उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात, भभरि भगात जल थल मीचु मई है। देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित, बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है। पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत राम हू की बिगरी तुही सुधारि लई है।

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६६५ और १६८५ के बीच में काशी में महामारी का उपद्रव हुआ था। यह समय पंजाब और आगरे में इसके प्रकोप-काल से जो ऊपर दिया है, मिलता है।

कवित्त ३१६ में तुलसीदासजी लिखते हैं—

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन को।
बेद धरम दूरि गए भूपचोर भूप भए
साधु सिद्धमान जात बीते पाप पीन को॥
दूसरे को दूसरो न धाम राम दयाधाम
रावरोई गति बल बिभव बिहीन को।
लागैगी पै लाज बिराजमान बिरदहिं
महाराज आजु जो न देत दाद दीन को॥

इससे यह प्रकट है कि जिस समय का यह वर्णन है, उस समय मीन के शनिश्चर थे। गणना के अनुसार मीन के शनिश्चर संवत् १६६६ से १६७१ तक थे। अतएव यह संभव जान पड़ता है कि काशी में महामारी का प्रकोप उसके आगरे में फैलने के ४-५ वर्ष पहले हुआ हो। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि सत्रहवें शताब्द के अंतिम चतुर्थांश में काशी में प्लेग फैला हुआ था।

कवितावली का अंतिम अंश हनुमानबाहुक है जो ३२२ वें कवित्त से आरंभ होता है। इसके कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं

जिससे यह विदित होगा कि तुलसीदास जी को महामारी रोग हो गया था।

जानिये जहान हनुमान को नेवाजो जन
अनुमानि मन वलि बोलि न बिसारिये।
सेवा जोग तुलसी कबहुँ कहा चूक परी
साहिब सुभाय कवि साहिब सँभारिये।
अपराधी जानि कीजे साँसति सहस भाँति
मोदक मरै जो ताहि माहुर न मारिये।
साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जी के
बाँहपीर महाबीर बेगही निवारिये॥३४५॥

बाहुतरुमूल बाहु सूल कपि कछु बेलि
उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिये।
भालकी कि काल कि रोष की त्रिदोष की है
वेदन बिषम पाप ताप छल छाँह की।
करम न फूट की कि जंत्र मंत्र बूट की
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माँह की।
पैहहि सजाई नत कह वजाइ तोहि
बावरी न होहि बानि जानि कपिनाह की।
आन हनुमान की दोहाई बलवान की
सपथ महाबीर की जो रहे पीर बाँह की॥३५१॥

'आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें,
बढ़ी है बाँह वेदन सही न कही जाति है।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किये,
बादि भये देवता मनाये अधिकाति है।
करतार भरतार हरतार कर्मकाल को है
जगजाल जो न मानत इताति है।

चेरो तेरो तुलसी तूँ मेरो कह्यो रामदूत
ढील तेरी वीर मोहि पीर न पिराति है ॥ ३५४ ॥

पाय पीर पेट पीर बाँह पीर मुँह पीर
जराजुर सकल सरीर पीरमई है।
देव भूत पितर करम खल काल ग्रह
मोहि पर दवरि कमान कसी दई है।
हौं तो बिन मोल ही बिकानों बलि बारे ही तें
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के किंकर बिकल बूड़े गोखुरनि
हाय रामराय ऐसी हाल कहूँ भई है ॥ ३६२ ॥

जियौं जग जानकी जीवन को जन कहाय
मरिबे को बारानसि बारि सुरसरि को।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसी ठाउँ
जाके मुए जिए सोच करिहैं न लरिको।
मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत
सब मेरे मन मान है न हर को न हरि को।
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत
सोऊ रघुबीर बिनु दूरि सकै करि को ॥ ३६५ ॥

अंतिम कवित्त यह है—

कहौं हनुमान सों सुजान राम राय सों
कृपानिधान शंकर सावधान सुनिये।
हरष विषाद राग रोष गुन दोषमई
विरची विरंचि सब देखियत दुनिये।
माया जीव काल के करम के सुभाउ के करैया
राम वेद कहै ऐसी मन गुनिये।
तुम्ह तें कहा न होइ हाहा सो बुझैये मोहि
हौंहू रहौं मौन ही वयो सो जानि लूनिये ॥ ३६७ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदास जी की बाँह में पीड़ा प्रारम्भ हुई, फिर कोख में गिलटी हुई। धीरे धीरे पीड़ा बढ़ती गई, ज्वर भी आने लगा, सारा शरीर पीड़ामय हो गया। अनेक उपाय किए, जंत्र, मंत्र, टोटका, ओषधि, पूजा-पाठ सब कुछ किया, पर किसी से कुछ लाभ न हुआ। बीमारी बढ़ती ही गई। सब तरह की प्रार्थना कर जब वे थक गए, तब अंत में यही कहकर संतोष किया कि जो बोया है, सो काटते हैं। कवित्त ३६७ बीमारी के बहुत बढ़ जाने और जीवन से निराश होने पर कहा गया था। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनंतर तुलसीदास जी गंगा तट पर आ पड़े। वहाँ पर क्षेमकरी के दर्शन करके उन्होंने यह कवित्त कहा था जो कवितावली के अंतिम भाग में है।

कुंकुम रङ्ग सुअंग जितो मुखचंद सो चंदन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विचार हरी है॥
गौरी कि गङ्ग विहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखु सपेम पयान समै सब सोच-बिमोचन क्षेमकरी है॥

इस कवित्त में "पेखु सपेम पयान समै" से स्पष्ट है कि यह कवित्त मरने के कुछ ही पूर्व कहा गया था।

कहते हैं कि तुलसीदास जी का अंतिम दोहा यह है—

रामनाम-जस बरनि कै, भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अब ही तुलसी सोन॥

इन सब बातों पर ध्यान देकर यही सिद्धांत निकलता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु काशी में प्लेग के कारण हुई। इन की मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सतमी तुलसी तज्यो शरीर॥

हनुमानबाहुक का ३५६ वाँ कवित्त यह है—

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यों

बासर सजल घन घटा घुकि धाई है।
बरखत बारि पीर जारिये जवास ज्यों
सरोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है।
करुनानिधान हनुमान महाबलवान हेरि
हँसि हाँकि फूँकि फौज तें उड़ाई है।
खाये हुती तुलसी कुरोग राँड राकसिनि
केसरी किसोर राखे बीर बरिआई है॥

इस से यह निकलता है कि तुलसीदास जी वर्षा ऋतु में रोग-ग्रस्त हुए थे। इससे श्रावण मास में उनकी मृत्यु का होना ठीक जान पड़ता है।

(१५) गोस्वामी जी का मत

गोस्वामी जी स्मार्त्त वैष्णव थे। यह बात उनके ग्रंथों से तो प्रकट होती है, एक दूसरा पक्का प्रमाण भी इसका है। जिस दिन उन्होंने 'रामचरित मानस' आरंभ किया था, उस दिन अर्थात् मंगलवार को उदय काल में रामनवमी नहीं थी। मध्याह्न में थी। मध्याह्न-व्यापिनी नवमी स्मार्त वैष्णवों के मत से ही मानी जाती है। स्मार्त्त वैष्णव वेद-स्मृति विहित संस्कार और आचार-विचार का पालन करते हुए सब देवताओं का पूजन आदि करते हैं। किसी से द्वेष नहीं रखते केवल भक्ति के लिये अपना इष्ट देव विष्णु भगवान् को मानते हैं। इसी उदार मत के भीतर रहकर तुलसीदास जी लोकधर्म की उस मर्य्यादा और माधुर्य्य का प्रत्यक्षीकरण कर सकते थे जिसके लिये उनका आविर्भाव हुआ था।

पर उनकी इस उपासना-सम्बन्धिनी उदारता की एक हद थी। वे उपास्य का स्वरूप धर्ममय ही चाहते थे। भूतप्रेत पूजनेवालों के प्रति उनका यह उदार भाव नहीं था जो अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार परोक्ष शक्ति की जिस रूप में भावना कर सकता है, उसका

उसी रूप में उपासना करना ठीक है—वह उपासना तो करता है। भूतप्रेत पूजनेवालों की गति तो वे वैसी ही बुरी बताते हैं, जैसी किसी दुष्कर्म से होती है—

जे परिहरि हरि हर-चरन भजहिं भूतगन घोर।
तिन्हकै गति मोहिं देउ विधि जो जननी मत मोर॥

फिर भी उनकी यह अनुदारता उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जिसके जोश में अंग्रेज़ कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को ज़बरदस्ती खींचकर शैतान की फ़ौज में भरती किया है—उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जो दूसरे धर्मों की उपासना-पद्धति (जैसे, मूर्ति-पूजा) को अपने यहाँ के गुनाहों की फ़िहरिस्त में दर्ज करती है। गोस्वामी जी का विरोध तो इस सिद्धान्त पर है कि जो जिसकी उपासना करता है, उसका आचरण भी उसी के अनुरूप रहता है।

"विश्वास" के संबंध में भी उनकी प्रायः वही धारणा समझिए जो उपासाना के संबंध में है। यदि विश्वास का आलंबन वैसा श्रेष्ठ और सात्त्विक नहीं है तो उसे वे 'अन्ध विश्वास' मानते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

(१६) स्वभाव और प्रकृति

समकालीन साक्ष्य के अभाव में हमें इस विषय का केवल अनुमान ही उनके शब्दों द्वारा करना पड़ता है। उनके ऐसे पहुँचे हुए भक्त के दैन्य और विनय के विषय में तो कहना ही क्या है? सारी विनयपत्रिका इन दोनों भावों के अपूर्व उद्गारों से भरी हुई है। 'रामचरित मानस' ऐसा अमर कीर्त्तिस्तम्भ खड़ा करते समय भी उनका ध्यान अपनी लघुता पर से न हटा। वे यही कहते रहे—

कवि न होउँ, नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना॥

निर्भय हो चुके थे, राम से याचना करके वे अयाचमान हो चुके थे, अतः—

किरपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनके मुख मोरे।

उनकी प्रशंसा या खुशामद करने वे क्यों जाते? उनकी प्रशंसा करना वे सरस्वती का गला दबाना समझते थे—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

इस समझ के अनुसार वे बराबर चले। उन्होंने कहीं किसी ग्रंथ में अपने समय के किसी मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है। केवल सच्चे स्नेह के नाते, उत्तम आचरण पर रीझकर, उन्होंने अपने मित्र टोडर के संबध में चार दोहे कहे हैं।

भारत भूमि में उत्पन्न होना वे गौरव की बात समझते थे। इस भूमि में और अच्छे कुल में जन्म को वे अच्छे कर्मों के साधन का भगवान् की कृपा से मिला हुआ अच्छा अवसर मानते थे—

(क) भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकै।
जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै॥

(ख) दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विषफल फली॥

(१७) ग्रंथ-रचना

गोस्वामी जी के रचित बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें ६ बड़े और ६ छोटे हैं—

बड़े ग्रन्थ	छोटे ग्रन्थ
दोहावली	रामलला नहछू
कवित्त रामायण	पार्वती मंगल
गीतावली	जानकी मंगल
रामचरितमानस	बरवै रामायण

रामाज्ञा	वैराग्य संदीपनी
विनयपत्रिका	कृष्णगीतावली

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे दस और ग्रंथों के नाम शिवसिंह-सरोज आदि में मिलते हैं—

१—रामसतसई	६—छप्पय रामायण
२—सकटमोचन	७—कडखा रामायण
३—हनुमद्वाहुक	८—रोला रामायण
४—रामसलोका	९—झूलना रामायण
५—छंदावली	१०—कुंडलिया रामायण

इनमें से कई एक तो मिलते ही नहीं और कई दूसरे ग्रन्थों के अंशमात्र हैं, परंतु एक "रामसतसई" वड़ा ग्रन्थ है। संभव है कि किसी एक ग्रंथ के दो नाम पड़ जाने से वे दो वार गिने गए हों।

रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं, जिनमें से लगभग डेढ़ सौ दोहावली के हैं। मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी जी ने इस ग्रंथ का नाम गोसाईं जी के १२ ग्रंथों में नहीं गिनाया है; परंतु पडित शेषदत्त शर्मा उपनाम फनेश कवि ने इसे गोसाईं जी का वतलाकर इस पर टीका की है। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर जी ने इसपर कुंडलिया बनाकर उसका नाम तुलसी-सुधाकर रक्खा है। पंडित जी ने अनेक कारण दिखलाकर यह सिद्ध किया है कि यद्यपि इसमें बहुत से दोहे गोसाईं जी के हैं, तथापि यह किसी तुलसी नामक कायस्थ कवि का बनाया ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ संवत् १६४२, वैसाखसुदि ९ गुरुवार को बना था—

"अहि-रसना, थन-धेनु रस, गनपति द्विज, गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार॥"

[रामसतसई]

ग्रंथों का विवरण

अब हम तुलसीदासजी के बारहों ग्रंथों का वर्णन करते हैं—

रामलला नहछू*—यह छोटा सा ग्रंथ बीस तुकों का सोहर छंद में है। भारतवर्ष के पूर्वीय प्रांत में अवध से लेकर बिहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू कराने की रीति बहुत प्रचलित है। इस ग्रंथ में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छन्द है जो स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि आनदोत्सवों पर गाती हैं। इसे कहीं कहीं सोहला भी कहते है। यह पुस्तक उसी छंद में है और बोली भी इसकी पूरबी अवधी ही है, जैसे—

"जे एहि नहछू गावहिं गाइ सुनावहिं हो।
रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावहिं हो॥"

पडित रामगुलाम द्विवेदी का यह मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। सयुक्त प्रदेश, मिथिला इत्यादि देशों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचद्र जी का विवाह अकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसलिये विवाह में नहछू नहीं हुआ। इस नहछू में कौशिल्या आदि को हास्यलीला लिखी हुई है।

वैराग्यसंदीपनी—यह ग्रथ दोहा चौपाई में सत महात्माओं के लक्षण, प्रशंसा और वैराग्य के उत्कर्ष वर्णन में लिखा गया है। इसमें तीन प्रकाश हैं। पहला ३२ छंदों का संत-स्वभाव-वर्णन, दूसरा ६ छंदों का संत-महिमा-वर्णन और तीसरा २० छंदों का शांति-वर्णन है। जान पडता है कि घर छोडकर विरक्त होने के पीछे इसको तुलसीदास जी ने बनाया था।

---

* बारात के पहले मंडप में वर की माँ वर को नहला धुलाकर गोद में लेकर बैठती है और नाइन पैर के नखों को महावर के रंग से चीतती है। इसी रीति का नाम नहछू है।

बरवै रामायण†—छोटे बरवा छंद में यह छोटी सी पुस्तक है। इसमें राम-चरित-मानस की भाँति सात कांड हैं। (१) बालकांड, १६ छंद–राम-जानकी-छबि- वर्णन, धनुर्भंग, विवाह (आभासमात्र); (२) अयोध्याकांड, ८ छंद–कैकेयीकोप (आभासमात्र), राम बन-गमन, निषाद कथा, वाल्मीकिप्रसंग, (३) अरण्यकांड, ६ छंद–सूर्पणखाप्रसंग, कंचनमृग-प्रसंग, सीताविरह में राम-अनुताप; (४) किष्किन्धाकांड; २ छंद–हनुमानजी का रामचंद्र से पूछना कि आप कौन हैं (आभासमात्र), (५) सुंदरकांड, ६ छंद–जानकी का हनुमान से अपना विरह कहना, हनुमान का आकर रामचंद्र जी से जानकी की दशा कहना; (६) लंका-कांड, १ छंद–सेनासहित राम लक्ष्मण की युद्ध में शोभा, (७) उत्तरकांड, २७ छंद–चित्रकूट-वास-महिमा, नाम-स्मरण-महिमा।

प्रसिद्ध बरवा रामायण से जान पड़ता है कि इसे ग्रंथरूप में कवि ने नहीं बनाया था। समय समय पर यथारुचि स्फुट बरवे बनाए थे। पीछे से चाहे स्वयं कवि ने अथवा और किसी ने राम चरितमानस के ढंग पर कथा का आभासमात्र लेकर कांडक्रम से उन छन्दों का संग्रह कर दिया है। इसमें और ग्रन्थों की तरह मंगलाचरण भी नहीं है। यही दशा राम-चरित मानस को छोड़ प्रायः और रामायणों की भी देखने में आती है।

---

† शिवलाल पाठक कहते थे कि तुलसीदास का बरवा रामायण भारी ग्रंथ है। आजकल जो प्रचलित बरवा रामायण है, वह बहुत ही थोड़ा और छिन्न भिन्न है। कहावत है कि जब खानखाना को उनके मुंशी की स्त्री की "प्रेम प्रीति के बिरवा चलेहु लगाय। सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय" इस कविता से बिरवा अच्छा लगा, तब आपने भी इस छंद में बहुत कविता की और इष्टमित्रों से भी बहुत बनवाई। उसी समय खानखाना के कहने पर तुलसीदास ने भी बरवा रामायण बनाई।

पार्वतीमंगल—इस ग्रन्थ में शिव-पार्वती का विवाहवर्णन है। इसमें १४८ तुक सोहर छंद के हैं और १६ छंद हैं।

इसको तुलसीदास जी ने जय संवत् फागुनसुदी ५ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र में बनाया। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी जी के गणनानुसार जय संवत् १६४३ में होता है।

निम्न लिखित छंद से जान पड़ता है कि इस समय बहुत लोग तुलसीदास जी से बुरा मानते थे और इनकी निन्दा और इनसे विवाद करते थे:—

"पर अपवाद विभूषित बानिहिं। पावनि करउँ सो गाइ भवेस भवानिहिं।"

यह पुस्तक आदि से अंत तक शुद्ध पूरबी अवधी में है, केवल कहीं कहीं ब्रजभाषा के एकाध कारक चिह्न दिखाई पड़ते हैं।

जानकी मंगल—इसमें श्रीसीताराम-विवाह वर्णन है। १६२ सोहर छंद और २४ छंद हैं। ग्रंथ बनाने का समय नहीं दिया है, केवल "सुभ दिन रचेउँ स्वयंबर मंगलदायक" लिख दिया है। परंतु "पार्वतीमंगल" और यह दोनों एक ही समय के बने जान पडते हैं, क्योंकि दोनों का एक ही ढंग और एक ही छंद है। यहाँ तक कि मंगलाचरण भी एक ही भाव का है, यथा—

पार्वतीमंगल—विनइ गुरुहिं गुनिगनहिं गिरिहि गननाथहिं।
जानकीमंगल—गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
पार्वतीमंगल—गावउँ गौरि गिरीस विवाह सुहावन।
जानकीमंगल—सियरघुवीर बिबाह जथामति गावउँ।

भाषा भी वही पूरबी अवधी है।

इस ग्रंथ में रामचरितमानस की कथा से कुछ भेद है, जो नीचे लिखा जाता है।

(१) इसमें फुलवारीवर्णन न करके धनुषयज्ञ ही से वर्णन

आरंभ हुआ है। सीताराम का प्रथम परस्पर संदर्शन भी इसमें धनुषयज्ञ ही के समय लिखा गया है।

(२) रामायण में जनक के धिक्कारने पर लक्ष्मण का कोप और तब विश्वामित्र की आज्ञा पर रामचंद्र का धनुष तोड़ना लिखा है। इसमें सब राजाओं के हारने पर विश्वामित्र ने जनक से कहा है कि रामचंद्र से कहो। इस पर जनक ने इनकी सुकुमारता देख संदेह प्रकट किया। तब मुनि ने इनकी महिमा कही। फिर जनक के कहने पर राम ने धनुष तोड़ा।

(३) इसका १८ वाँ और रामायण का ३५७ वें दोहे का छंद एक ही है, कुछ अदल बदल मात्र है। ऐसे ही इसका अंतिम २४ वाँ छंद और रामायण वालकांड का अंतिम ३६५ वें दोहे का छंद है जिसमें एक पद तो एक ही है।

(४) रामायण में विवाह के पहले परशुराम आए हैं, इसमें विवाह-बिदाई के पीछे जैसा कि वाल्मीकि रामायण में है।

'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' दोनों में तुलसी की वाक्य-रचना का वह गौरव विशेष रूप में दिखाई पड़ता है जो उन्हें हिंदी के और कवियों से अलग करके दिखाता है। इतने छोटे छंद में शब्द-विन्यास ऐसा गठा हुआ है कि शैथिल्य का कहीं नाम नहीं। एक शब्द भी ऐसा नहीं जो फालतू हो, प्रस्तुत भाव व्यंजना में जिसका प्रयोजन न हो, जो केवल छंद की पूर्त्ति के लिये रखा जान पड़ता हो।

रामाज्ञा—इस ग्रंथ को शकुन विचारने के लिये तुलसीदास जी ने बनाया है। इसमें ४९-४९ दोहों के सात अध्याय हैं। इन अध्यायों में श्रीरामचरित्र के बहाने शकुन का फल कहा है। अध्याय की कथा नीचे लिखे क्रम से है—

१ अध्याय—बालकांड की कथा।

२ अध्याय—अयोध्याकांड की कथा।

३ अध्याय—अरण्य और किष्किंधाकांड की कथा।

४ अध्याय—फिर से बालकांड की कथा, रामजन्म और विवाह।

५ अध्याय—सुंदर और लंकाकांड की कथा।

६ अध्याय—उत्तरकांड की कथा और अश्वमेधयज्ञ, सीता-अग्निप्रवेश आदि।

७ अध्याय—स्फुट दोहे, व्यापार, संग्राम आदि विषय के प्रश्नों पर शकुनविचार।

इस ग्रंथ को तुलसीदास जी ने शकुन विचारने ही की इच्छा से बनाया था, चाहे किसी के अनुरोध से बनाया हो या अपनी ही इच्छा से। इसके दोहों में बराबर शकुन विचारा गया है और अंत में शकुन विचारने की विधि भी दी है, यथा—

"सुदिन साँझ पोथी नेवति पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन विचारब चारुमति सादर सत्य सनेम॥
मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि दोहा देखि विचारि।
देस, करम, करता, बचन सगुन समय अनुहारि"॥

डाक्टर ग्रिअर्सन अपने लेख "नोट्स ऑन तुलसीदास" (Notes on Tulsi Das) में बाबू रामदीनसिंह के कथन पर इस ग्रंथ के बनने के विषय में यह कहानी लिखते हैं कि काशी में राजघाट के राजा गहरवार क्षत्रिय थे, जिनके वंशज अब माँडा और कंतित के राजा हैं। उनके कुमार शिकार खेलने बन में गए जहाँ उनके साथ के किसी आदमी को बाघ खा गया। राजा को समाचार मिला कि उन्हीं के राजकुमार मारे गए हैं। राजा ने घबराकर प्रह्लादघाट पर रहनेवाले प्रसिद्ध ज्योतिषी गंगाराम को बुलाकर प्रश्न किया। साथ ही यह भी कहा कि यदि आप की बात सच होगी तो एक लाख रुपया पारितोषिक मिलेगा, नहीं तो सिर काट लिया जायगा। गंगाराम एक दिन का समय लेकर घर आए और उदास बैठे रहे। तुलसीदास जी और इनमें बड़ा प्रेम था। ये दोनों मित्र नित्य संध्या को नाव पर बैठकर गंगापार जाते और भगवदुपासना में मग्न होते थे। उस

दिन भी तुलसीदास जी ने चलने को कहा, पर गंगाराम ने उदासी के मारे जाने से अनिच्छा प्रकट की। तुलसीदास जी ने जब कारण सुना तब कहा कि घबराओ नहीं; मैं इसका उपाय कर दूँगा। निदान उपासना से छुट्टी पाकर लौट आने पर तुलसीदास जी ने लिखने की सामग्री माँगी। पर कागज़ के सिवा और कुछ न मिला। तब उन्होंने एक सरकंडे का टुकड़ा लेकर कत्थे से लिखना आरम्भ किया और छः घण्टे में बिना रुके हुए लिखकर इस रामाज्ञा को पूरा कर दिया। ज्योतिषी जी ने इसके अनुसार प्रश्न का फल विचार कर जाना कि राजकुमार कल संध्या को घड़ी दिन रहते कुशल-पूर्वक लौट आवेंगे। सवेरे जाकर उन्होंने राजा से कहा। राजा ने उन्हें संध्या तक कैद रक्खा। ज्योतिषी के बतलाए ठीक समय पर राजकुमार लौट आए और ज्योतिषी को लाख रुपए मिले। वे उस रुपए को तुलसीदास जी को भेंट करने लगे, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करने पर बारह हज़ार रुपया लेकर उन्होंने हनुमान जी के बारह मन्दिर बनवा दिए जो अब तक हैं और जिनमें हनुमान जी की मूर्ति दक्षिण मुख किए स्थापित है।

हमारी समझ में इस आख्यायिका की जड़ प्रथम सर्ग का यह उनचासवाँ दोहा है—

"सगुन प्रथम ओनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम॥"

परंतु यह कथा सत्य नहीं जँचती। उस समय राजघाट का किला ध्वंस हो चुका था। महमूद गज़नवी के सेनानायक सैयद सालार मसऊद (ग़ाजी मियाँ) की लड़ाई में यह क़िला टूट चुका था। मुसलमानी समय में यहाँ के चकलेदार मुसलमान होते थे। अंतिम चकलेदार मीर रुस्तमअली थे जो दशाश्वमेध के पास मीर-घाट पर रहते थे और जिन को वर्तमान काशिराज़वंश के संस्थापक मनसाराम ने भगाकर काशी का राज्य लिया था।

जो हो, पर इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ प्रह्लादघाट पर एक ब्राह्मण* के यहाँ था और इसकी नक़ल प्रसिद्ध रामायणी लाला छक्कनलाल मिरज़ापुरवाले ने संवत् १८८४ में की थी। मूल ग्रंथ संवत् १६५५ जेठ शु० १० रविवार का लिखा हुआ था और कत्थे के ऐसे रंग से लिखा था। इसको और भी बहुत से लोगों ने देखा था, परंतु यह दुर्भाग्यवश चोरी हो गया।

इसके सैंकड़ों दोहे तुलसीदास जी के दूसरे ग्रंथों में भी मिलते हैं, विशेष कर दोहावली में। जैसे इसके सातवें अध्याय का २१ वाँ दोहा "रामबाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यान-मय सुरतरु तुलसी तोर" वैराग्यसंदीपनी और दोहावली दोनों का पहला दोहा है। ऐसे दोहों की एक सूची डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने ऊपर लिखे लेख में दी है।

दोहावली—इस ग्रंथ में ५७३ दोहों का संग्रह है। दोहे भगवन्नाम-माहात्म्य, तत्वज्ञान, राज-नीति, कलियुग की दशा, धर्मोपदेश आदि फुटकर विषयों पर हैं। इनमें से लगभग आधे दोहे रामायण, रामाज्ञा, तुलसी-सतसई और वैराग्यसंदीपनी में पाए जाते हैं। अंतिम १७३वाँ दोहा "मनि मानिक महँगे किये सहगो तृन जल नाज। तुलसी एते जानिये राम गरीबनेवाज॥" खानखाना रहीम का बनाया कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ भिन्न भिन्न विषयों पर कहे हुए दोहों का संग्रह है। यह संग्रह चाहे तुलसीदास जी ने स्वय किया हो अथवा उनके पीछे किसी दूसरे ने। इन दोहों से पता लगता है कि गोस्वामीजी संसार की भिन्न भिन्न बातों को किस दृष्टि से देखते

---

*इन्हीं के यहाँ तुलसीदास की एक बहुत पुरानी कलमी तसवीर भी थी जो जहाँगीर बादशाह की बनवाई कही जाती है। आजकल जिन महाशय के अधिकार में प्रह्लादघाट का तुलसी स्थान है, वे बड़े उत्साही हैं। उनका नाम प० रणछोड़ व्यास है और वे ज्योतिषी गंगारामजी के उत्तराधिक भी हैं। उन्होंने इस चित्र के आधार पर तुलसीदास की एक संगमर्मर की मूर्ति बनवाकर स्थापित की है।

थे। गूढ़ से गूढ़ और साधारण से साधारण विषयों पर कुछ मत प्रकट करनेवाले दोहे मिलते हैं। चातक की अन्योक्तियों के द्वारा प्रेमतत्व का जो विशुद्ध निरूपण गोस्वामी जी ने किया है, वह प्रेमियों और भक्तों का चरम लक्ष्य है। देश और समाज की गिरती हुई दशा पर जो खिन्नता उन्हें होती थी, वह उन दोहों में भरी है—

"अशुभ भेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर पूज्य ते कलियुग माहिं ॥५५०॥
वादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हतें कुछ घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाँटि ॥५५३॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान* ॥५५४॥
श्रुति सम्मत हरि भक्तिपथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहि पंथ अनेक ॥५५५॥
गोंड गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल।
साम न दान न भेद कलि केवल दंड कराल ॥५५६॥
तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं हमहिं पूछिहै कौन ॥५६४॥

संस्कृत छोड़कर तुलसीदास जी भाषा में क्यों लिखने गए, इसका उत्तर यह दोहा है—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियतु साँच।
काम जो आवै कामरी का लै करै कुमाच ॥

नित्य का व्यवहार तो हमारा भाषा से चलता है, उसकी उपेक्षा हम क्यों करें? दोहावली के भीतर बहुत से गूढ़ आशय के दोहे भी हैं।

कवित्त रामायण वा कवित्तावली—यह ग्रंथ कवित्त, घनाक्षरी, सवैया, और छप्पय छंदों में है। भाषा इसकी शुद्ध व्रज है।

* यह कटाक्ष कबीर, दादू आदि पर जान पड़ता है।

डाकृर ग्रिअर्सन ने न जाने किस आधार पर इसकी भाषा अवधी कही है। "गोरो गरूर गुमान भरो कह्यौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको"। इससे बढ़कर साफ ब्रजभाषा और क्या होगी? कवित्त और सवैया ब्रजभाषा के ख़ास छंद हैं। कवितावली में क्रम से रामचरित का वर्णन है। पर यह भी एक समय में नहीं बनी। चाहे गोसाइँ जी ने आप इसका संग्रह किया हो अथवा उनके पीछे किसी दूसरे ने किया हो। गोस्वामी जी की यह रचना गंग आदि दरबारी कवियों की शैली पर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मैदान में भी गोस्वामी जी पिछले और सब कवियों के अगुआ हुए। घनानंद, भूषण, पद्माकर इत्यादि सब ने मानों उन्हीं से शक्ति प्राप्त की। कहीं कहीं तो वे पूरे भाट बन गए हैं जैसे—रंक के निवाज रघुराज राजा राजनि के, उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए। कवितावली में भी कांडक्रम है—

१—बालकांड-२१ कवित्त श्रीरामचंद्रजी की बाललीला से धनुर्भंग तक।

२—अयोध्याकांड-२८ कवित्त—बनवास।

३—अरण्यकाण्ड-१ कवित्त—हरिण के पीछे श्रीरामचंद्र जी का जाना।

४—किष्किंधाकांड-१ कवित्त—हनुमानजी का समुद्र लाँघना।

५—सुंदरकांड-३२ कवित्त—लंका में हनुमानजी की वीरता तथा लंकादहन, सीताजी की सुधि लेकर हनुमानजी का श्रीरामचंद्रजी के पास लौट आना।

६—लंकाकांड-५८ कवित्त—सेतुबंध, अंगदसंवाद, युद्ध, लक्ष्मण की शक्ति, रावणवध।

७—उत्तरकांड-२२५ कवित्त-पहले श्रीरामचंद्रजी की वंदना, फिर हनुमान वंदना, गोपी उद्धव संवाद, प्रह्लादकथा, महादेवस्तुति, काशीस्तुति, काशी की दुर्गति, निज दशा तथा हनुमानबाहुक आदि फुटकर कविता।

उत्तरकांड में प्रायः ऐसे कवित्त हैं जिनसे कुछ संबंध देशदशा तथा गुसाईं जी की जीवनी से है, इसलिये हम कुछ विस्तार के साथ इसका वर्णन करते हैं।

(१) १६८ कवित्त से जान पड़ता है कि माता-पिता बचपन ही में मर गए थे या उन्होंने इन्हें छोड़ दिया था। (मातु-पिता जग जाइ तज्यो बिधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई) इसका प्रमाण रामायण में भी मिलता है कि बचपन ही से गुरु के साथ ये घूमते थे। (मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिं तसि बालतन तब अति रहेउँ अचेत॥)

(२) २०३ घनाक्षरी से जान पड़ता है कि पहले इनका कुछ मान नहीं था, पर पीछे पंचों में बड़ा मान हुआ–(छार तें सँवार कै पहार हू तें भारी कियो गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै। हौं तो जैसो तब तैसो अब अधमाई कै कै पेट भरौं राम रावरोई गुन गाइ कै) इसी भाव के और भी बहुतेरे कवित्त हैं।

(३) २१४, २१५ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मेरा जन्म मंगन के घर में हुआ और सभी जाति के टुकड़े खाकर मैं पला, पर राम-नाममाहात्म्य से मेरा मान मुनियों का सा है—(जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागी बस खाए टूक सब के विदित बात दुनी सो। ... ..रामनाम को प्रभाउ पाउँ-महिमा-प्रताप तुलसी को जग मानियत महामुनी सो... ..२१४॥ जाया कुल बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को। बारे तें ललात बिललात द्वारे द्वारे दीन जानत हौं चारि फल चारिही चनक को॥ तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवकहि सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को। नाम राम रावरो सयानो कैधौं बावरे जो करत गिरी तें गरू तिन तें तनक को॥ २१५॥)

(४) अनेक कवित्तों में कलिकाल की करालता, अकाल का कोप और राजा का अन्याय वर्णन किया गया है। २३६ कवित्त में

देशदशा का पूरा वर्णन है—(खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी। जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस कहैं एक एकनि सों "कहाँ जाई का करी?" ॥ वेद हूँ पुरान कही लोक हू बिलोकियतु साँकरे सब को राम रावरे कृपा करी। दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी ॥ २३६ ॥)

(५) २४४ कवित्त में कलियुग का प्रभाव अपने ऊपर न व्यापने की बात लिखी है—(भागीरथी जलपान करौं अरु नाम है राम को लेत निते हौं।)

(६) २४८, २४६, २५० कवित्तों में उन्होंने लिखा है कि अब जाति पाँति की कुछ परवा नहीं है, केवल राम का भरोसा है। कोई हमें साधु कहता है, कोई दगाबाज़। जिसके मन में जो आवे सो कहे, हमें किसी से कुछ काम नहीं—(धूत कहो अबधूत कहो रजपूत कहो जोलहा कहो कोऊ। काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥ तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ। माँगि के खैबो मसीद को सोइबो लेनो है एक न देनो है दोऊ ॥२४८॥)

(७) २६६ से २७२ तक प्रह्लादचरित्र है। २७० में लिखा है कि प्रह्लादजी के कहने पर खंभ फाड़कर भगवान् निकले, तभी से लोग पत्थर अर्थात् प्रतिमा की पूजा करने लगे (प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥ २७० ॥)

(८) २७२ और २७३–"होई भले को भलाई भलाई" और २७४ "गुमान गोविंदहिं भावत नाहीं" इन समस्याओं की पूर्त्ति है।

(९) २८५ से २७७—उद्धव-गोपी संवाद, भ्रमर-गीत।

(१०) २८० से २८५ तक चित्रकूटवर्णन है, जिसमें सीतावट, रामवट और हनुमानधारा का वर्णन किया है। श्रीवाल्मीकिजी के स्थान पर अब तक सीतावट स्थित है।

(११) २८६—प्रयागराज का वर्णन।

(१२) २८७ से २८६ तक श्रीगंगाजी की स्तुति है।

(१३) २६०—अन्नपूर्णा जी की स्तुति।

(१४) २६१ से ३०५ तक छप्पय, कवित्त और सवैया श्रीशिव जी की वंदना में।

(१५) ३०७ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मैं काशी में पड़ा हूँ, श्रीगंगा जी का सेवन करता हूँ, माँगकर पेट भरता हूँ, भलाई तो भाग्य में लिखी ही नहीं है, पर बुराई भी किसी की नहीं करता। इतने पर भी लोग बुराई करते हैं तो मैं क्या करूँ? आप के दरबार में अर्ज कर के छुट्टी पाता हूँ। यदि पीछे से आपको उलहना मिले तो मुझे उलहना न दीजिएगा। (देवसरि सेवी वामदेव गाँउ रावरे ही नाम राम ही को माँगि उदर भरत हौं। दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं॥ एतहू पर कोऊ जो रावरी जोर करै ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं। पाइ कै ओराहनो ओराहनो न दीजै मोहि कलिकाल काशीनाथ कहे निवरत हौं॥)

बैजनाथदास ने लिखा है—पंडितों के उपद्रव से काशी छोड़ने के समय यह कवित्त गोसाईं जी विश्वनाथ जी के मंदिर में लिख कर चित्रकूट चले गए। पीछे विश्वनाथ जी का कोप हुआ, तब सब जाकर उन्हें फिर बुला लाए।

(१६) ३०८ और ३०६ में कहा है कि मैं रामचंद्रजी का सेवक हूँ और काशीवास की इच्छा से यहाँ आ पड़ा हूँ, पर कुपीर से बड़ा दुःखी हूँ। यदि मारना है तो मार ही डालिए, जिसमें काशीवास का फल हो! यदि जिलाइए तो नीरोग शरीर रखिए। (चेरो रामराय को सुजस सुनि तेरो हर पाइ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं। बामदेव राम को सुभाव शील जानि निज नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं॥ अधिभूत वेदन विषम होत भूतनाथ तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं। मारिए तो अनायास काशीवास

खास फल, ज्याइए तो कृपाकरि निरुज शरीर हौं ॥३०८॥ जीवै की न लालसा दयालु महादेव मोहिं मालुम है तोहि मरिबेई को रहतु हौं। कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु अवलम्ब जगदंब सहित चहतु हौं ॥ रोग भयो भूत को, कुसूत भयो तुलसी को भूत-नाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं। ज्याइये तो जानकी जीवन-जन जानि जिय मारिए तो माँगि मींचु सूधियै कहतु हौं ॥३०९॥)

(१७) ३११—३१६—काशी की दुर्गति पर विश्वनाथजी, भगवती काली, भैरवनाथ आदि की स्तुति की है। यह समय संवत् १६५५ से १६८५ के भीतर का है, क्योंकि इस समय ३१२ कवित्त के अनुसार रुद्रबीसी थी (बीसी विश्वनाथकी बिषाद बडो बारानसी बूझिए न ऐसी गति शकर सहर की)। सं० १६५५ के लगभग से काशी में मुसलमानों का विशेष उपद्रव मचा था और इसी के पीछे यहाँ महामारी भी (प्लेग) फूटी थी।

(१८) ३१७, ३१८—महामारी का महाकोप था। राजा से रक तक सब दुःखी थे। हनुमान जी से प्रार्थना है कि काशीवासियों को इस विपत्ति से बचाओ। इसमें स्पष्ट प्लेग का रूप वर्णन है कि लोग उछलते हैं, तड़पते हैं और मर जाते हैं, जल और थल दोनों मृत्युमय हो रहा है। इस कवित्त से मुसलमानों की अनीति, बादशाह की क्रूरता और महामारी सभी उपद्रवों का होना उस समय स्पष्ट है। यह कवित्त अन्यत्र उद्धृत किया गया है।

(१९) ३२१ कवित्त में जान पडता है कि किसी अन्यायी हाकिम को भी लक्ष्य कर के कहा है कि काशी में किसी की अति नहीं चलती, आज चाहे कल या परसों इसका फल पाओगे। (मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो। शंकर कोप सो पाप को दाम परीच्छित जाहिगो जारि कै हीयो ॥ कासी में सकट जेते भए ते गे पाइ अघाइ कै आपुनो कीयो। आज्ञु की कालि परों की नरों जड़ जाहिंगे चाटि देवारी को दीयो ॥३२१॥

(२०) नीचे लिखे हुए कवित्त के आगे से हनुमानबाहुक आरंभ होता है। यह कवित्त जान पड़ता है कि अंत समय के निकट का है। (कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सो चंदन होड परी है। बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥ गौरी कि गंग विहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है॥ पेषु सपेम पयान समै सब सोच-बिमोचन छेमकरी है॥३२२॥

(२१) हनुमानबाहुक—३२२ से ३२८ तक हनुमानजी की वंदना है। ३२९—३० में काशी की बड़ाई करके उस पर भी कलियुग के ज़ोर का वर्णन किया है। (बिरचि बिरंचि की बसति विश्वनाथ की जो प्रान हूँ ते प्यारी पुरी केवल कृपाल की। जोतिरूप लिंगमई अगनित लिंगमई मोच्छ-बितरनि बिदरनि जग जाल की॥ देवी देव देवसरि सिद्ध मुनि बरबास लोपति विलोकत कुलिपि भौंड़े भाल की। हाहा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी कासी की कदर्थना कराल कलि काल की॥३३०॥)

(२२) ह० बा० ३३१ में भी कलियुग का वर्णन करके लिखा है कि शिवजी का क्रोध तो महामारी ही से जान पड़ता है और रामचंद्र जी का कोप दुनिया के दरिद्र होने से—(शंकर सरोष महामारि तें जानियत साहिब सरोष दुनी दिन दिन दारिदी)॥

(२३) ह० बा० ३४१—लोगों की बुराई करने पर हनुमान जी से पूछते हैं कि हमने क्या अपराध किया है, बतला दीजिए जिससे आगे के लिये तो होशियार हो जायँ (जान सिरोमनि हौ हनुमान! सदा जन के हिय बास तिहारो। ढारो बिगारो मैं काको कहा? केहि कारन खीझत? हौं तो तिहारो॥ साहेब सेवक नाते ते हातो किया तो तहाँ तुलसी को न चारो। दोष सुनाये तें आगेहू को हुसियार ह्वैहौं मन तो हिए हारो॥३४१॥)

(२४) ह० बा० ३४३—दुःख देनेवाले खलों का दमन करने की प्रार्थना की है।

(२५) ह० बा० ३४५—बाँह की पीडा छुडाने के लिये प्रार्थना की है। यह कवित्त अन्यत्र दिया है।

(२६) ह० बा० ३४६—इसमें भी बाँह की पीडारूपी राहु को पछाडकर मारने की प्रार्थना है। पहले पद्य में लिखा है कि हमें लडका जानकर बचपन ही से दया की और निरुपाधि रक्खा—(बालक बिलोकि बलि बारे तें आपनो कियो दीनबंधु दया कीन्ही निरुपाधि न्यारिये)।

(२७) ह० बा० ३४७, ३४८—बाँह की पीड़ा का वर्णन।

(२८) ह० बा० ३४९—बाँह की जड़ में दर्द होने का वर्णन (बाहु तरुमूल बाहु सूल कपि कच्छु बेलि उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिए)।

(२९) ह० बा० ३५०—बाँह की पीडा पूतना है, यह तुम्हारे ही मारे मरेगी।

(३०) ह० बा० ३५१—पीडा की दारुणता दिखलाई है।

(३१) ३५२—बाँह की पीर की पुकार।

(३२) ह० बा० ३५३—इसमें कहा है कि मुझे बचपन से घर घर के टुकड़े खिलाकर जिलाया और सदा मेरी सँभाल और रक्षा करते आए, पर आज यह क्या खेल है? "बालकों का खेल और चिड़िया की मौत"। (टूकनि को घर घर डोलत कंगाल बोलि बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है। कीन्हों है सँभार सार अंजनी-कुमार वीर अपनो बिसारिहै न मेरे हू भरोसो है। इतनो परेखो समरथ सब भाँति आजु कपिराज साँची कहौं को तिलोक तोसो है। साँसति सहत दास कीजे पेखि परिहास, चीरी को मरन खेल बालकनि को सो है॥ ४५३॥)

(३३) ह० बा० ३५४ में लिखा है कि बहुत कुछ दवा और टोटके किए, यन्त्र-मन्त्र किए, देवी-देवता मनाए, पर दर्द बढ़ता ही जाता है।

(३४)ह० बा० ३५५ से ३५७ तक—वैसी ही प्रार्थना।

(३५) ह० बा० ३५८—शिवजी से प्रार्थना की है कि आप ही के टुकड़े से पला हूँ, चूक होने पर भी मुझे न छोड़िए।

(३६) ह० बा० ३५९—इसमें हनुमान जी की प्रशंसा की है कि मैं मर ही चुका था, पर तुमने रख लिया।

(३७) ह० बा० ३६०—इसमें लिखा है कि फिर दर्द बढ़ा। श्रीरामचंद्र जी से प्रार्थना करते हैं कि दर्द मिटाइए; बल्कि लूला ही आप के दरबार में पड़ा रहूँगा। (बाँह की बेदन बाँह-पगार पुकारत आरत आनँद भूलो। श्रीरघुबीर निवारिये पीर रहौं दरबार पस्यो लटि लूलो॥)

(३८) ह० बा० ३६१—में लिखा है कि रात दिन का दर्द सहा नहीं जाता, उसी बाँह को इसने पकडा है जिसको हनुमान जी ने पकड़ा था। (काल की करालता करम कठिनाई कैधौं पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे। बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति दिन सोई बाँह गही जो गही समीर-डावरे॥ लायो तरु तुलसी तिहारो सो निहारि बारि सींचिए मलीन भो तयो है तिहूँ तावरे। भूतनि को आपनो पराये को कृपानिधान जानियत सब ही की रीति राम रावरे॥ ३६१॥)

(३९) ह० बा० ३६२ में लिखा है कि सारे शरीर में दर्द फैल गया, ज्वर बढ़ा, बुढ़ापे की निर्बलता, ग्रहों आदि का जोर और काल का जोर मुझ पर हो रहा है।

(४०) ह० बा० ३६३—श्री रामलक्ष्मण जी से प्रार्थना।

(४१) ह० बा० ३६४—इसमें लिखते हैं कि जब सब तरह से मैं धनहीन, विषय-लीन था, तब आपने अपनाया। जब मान बढ़ा तब अभिमान आ गया, इसीसे जान पड़ता है कि बरतोर के बहाने राम राजा का नमक रोएँ रोएँ से फूट फूटकर निकल रहा है। जान पड़ता है इस समय सारे शरीर में फोड़े या घाव हो गए थे।

(आसन-बसन-हीन विषय बिषाद लीन देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को। तुलसी अनाथ सो सनाथ कियो रघुनाथ दियो फल सील सिंधु आपने सुभाय को॥ नीच एहि बीच पति पाइ भरु होइगो बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को। तातें तन पेखियत घोर बरतोर मिस फूटि फूटि निकसत है लोन राम राय को॥ ३६४॥)

(४२) ह० बा० ३६५—यह अन्यत्र दिया है। इससे स्पष्ट है कि ये काशी में मरे।

(४३) ह० बा० ३६६—अत्यन्त घबरा गए हैं, तब इस कवित्त में हनुमान जी, रामचंद्र जी, महादेव जी और भैरव जी की वन्दना करते हैं।

(४४) ह० बा० ३६७—यह अंतिम कवित्त है। इसमें सब तरह थककर अंत में कहते हैं कि अब यह समझकर कि अपने कर्मों का फल मिल रहा है, हम भी चुप हो जाते हैं।

गीतावली—यह ग्रंथ राग-रागिनियों में है। इसे कवि ने कथा-क्रम से बनाया है। इसकी रचना से यह भी विदित होता है कि यह रामायण बनने के पीछे बना है। भाषा इसकी व्रज है।

इसकी रचना सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की माधुर्य्य-प्रधान गीत-शैली पर है और उन्हीं के समान सरस और मनोहर है। भाषा की स्वाभाविक स्वच्छता की विशेषता ऊपर से है। कोमल और करुणवृत्तियों की व्यंजना अत्यन्त हृदय-ग्राहिणी है। आदि में बाललीला का और अंत में राम-राज्य की सुख-समृद्धि, क्रीड़ा और विहार का विस्तार इसमें अधिक किया गया है। बाल-लीला के प्रसंग में एक बात विलक्षण मिलती है। इसके कई पद ज्यों के त्यों सूर सागर में भी मिलते हैं—केवल 'राम श्याम' का भेद है। नीचे पद दिए जाते हैं—

(१) आँगन खेलत घुटुरुवन धाए।

...ल जलद तनु सुभग स्याम मुख निरखि जननि दोउ निकट बुलाए।

बँधुक सुमन-अरुन पद-पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए ॥
नूपुर कलरव मनो सुत-हंसन रचे नीड़ दै बाँह बसाए।
कटि किंकिनि, बरहार ग्रीवदर रुचिर बाहु-भूषन पहिराए ॥
उर श्रीवत्स मनोहर केहरि-नखन-मध्य मनिगन बहु लाए।
सुभग चिवुक द्विज अधर नासिका श्रवण कपोल मोहि सुठि भाए ॥
भ्रुव सुंदर करुनारस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जल जाए।
भाल विसाल ललित लटकन मनि बाल दसा के चिकुर सुहाए ॥
मानौ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए।
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत ओढ़ाए ॥
नील जलद पर उड़गन निरखत तजि स्वभाव मानो तड़ित छपाए।
अंग अंग प्रति मार-निकर मिलि छवि-समूह लै लै जनु छाए ॥
सूरदास सो क्यों करि बरनै जो छवि निगम नेति करि गाए ॥

यह पद गीतावली में भी ज्यों का त्यों है। केवल अंतिम चरण इस प्रकार है—"तुलसीदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो विधि होहिं बनाए।"

(२) हरि जू की बाल-छबि कहौं बरनि।

सकल सुख की सीवँ कोटि मनोज-सोभा-हरनि।
भुज भुजंग सरोज-नयननि वदनविधु जित लरनि ॥
रहे विवरन, सलिल, नभ उपमा अपर दुति-डरनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन-भरनि।
मनहुँ सुभग सिँगार-सिसु-तरु फल्यो अद्भुत फरनि ॥
त पद-प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरुवन करनि।
पुट सुभग छवि भरि लेति उर जनि धरनि ॥
रि सुतहि विलोकि कै नँदघरनि।
उर किलकनि ललित लरखरनि ॥

ज्यों का त्यों है, केवल 'हरिजूकी'

(आसन-बसन-हीन के स्थान पर क्रमशः 'रघुवर' 'दसरथ घरनि' हाय हाय को। तुल हैं।

सील सिंधु आप नँद के नद। जदुकुल कुमुद सुखद चारु चंद॥
विहाइ प्रभु ग्वल मोहन सोहैं। सिसु-भूषन सबको मन मोहैं॥
वरतोर मीर चंद जिमि झलकै। उभगि उमगि अग अग छवि छलकै॥
' किंकिनि, पग नूपुर बाजैं। पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं॥
झिंगुला कंठ, बघनहा नीके। नयन सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन ललित ललाट लटूरी। दमकति द्वै द्वै दँतियाँ रूरी॥
मुनि-मन हरत मंजु मसि बिंदा। ललित वदन बलि बाल गोविंदा॥
कुलही चित्र विचित्र झगूली। निरखि जसोदा रोहिनी फूली॥
गहि मनि-खंभ डिंभ डग डोलैं। कलवल वचन तोतरे बोलैं॥
निरखत छवि झाँकत प्रतिबिंबै। देत परम सुख पितु अरु अंबै॥
ब्रज जन देखन हिय हुलसाने। सूर श्याम महिमा को जाने॥

यह पद भी गीतावली में है, केवल 'नद के नंद' के स्थान पर "आनंद कंद" 'निरखि जसोदा-रोहिनि फूली' के स्थान पर "निरखत मातु मुदित मन फूली" है और अंतिम चरण इस प्रकार है—"सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है।"

नहीं कह सकते कि यह रामभक्तों की कृपा है या गोस्वामी जी को ही ये पद पसंद आए और उन्होंने गीतावली में रख लिए। पहली बात की ही संभावना अधिक जान पड़ती है क्योंकि गोस्वामी जी को ऐसा करने की क्या पड़ी थी।

गीतावली में भी सात काण्ड हैं। यथाः—

१—बालकाण्ड—११० पद—मङ्गलाचरण के पद, रामजन्म, बाल लीला और छठी आदि सब संस्कार, विश्वामित्रजी का आना और रामलक्ष्मण को ले जाना, यज्ञ की रक्षा, अहल्या-उद्धार, जनकपुर-गमन, धनुषयज्ञ, विवाह।

२—अयोध्याकाण्ड—८६ पद—दशरथ का रामचंद्र को युवराज

पद देने का विचार करना, कैकेयी का वर माँगना, राम, लक्ष्मण और सीता का वन-गमन, दशरथ का विलाप, ग्राम-वासियों का राम-जानकी की शोभा का वर्णन, चित्रकूट-निवास, चित्रकूट-वर्णन, कौशल्या का विलाप, दशरथ का प्राण-त्याग, भरत का आना और कैकेयी को धिक्कारना, भरत का वन में राम के पास जाना और लौटने की विनती करना, श्रीरामचंद्र जी का भरत को समझाकर विदा करना, भरत का आकर नंदिग्राम में तापस-वेष से रहना, कौशल्या का विलाप, अयोध्या में निषाद की चिट्ठी आना कि रामचंद्रजी विराध को मारकर चित्रकूट से चलकर रेवाविन्ध्य के बीच में जा बसे हैं।

३—अरण्यकाण्ड—१७ पद—पञ्चवटी में निवास, सोने के मृग के पीछे श्रीरामचंद्र जी का जाना, रावण का आना और सीता-हरण, जटायु रावण-युद्ध, राम-लक्ष्मण-विलाप, सीता को ढूँढ़ना, जटायु से भेंट होना, जटायु की अन्त्येष्टि क्रिया, शवरी-मङ्गल।

४—किष्किन्धाकाण्ड—२ पद—किष्किन्धा में सीताजी के गहनों को पाकर श्रीरामचंद्रजी का विलाप, (बालि सुग्रीव की लड़ाई आदि की कथा छोड़ दी गई है) वानरों का सीता की खोज में निकलना।

५—सुंदरकाण्ड—५१ पद—हनुमानजी का समुद्र लाँघना, सीता जी को अशोक-वाटिका में रामचंद्रजी की अँगूठी देना, जानकी-हनुमान-संवाद, रावण-हनुमान-संवाद, लङ्कादहन, जानकी से विदा हो रामचंद्रजी के पास आना, सब समाचार कहना, लङ्का की यात्रा, सेतु बाँधकर समुद्र पार करना, मंदोदरी और विभीषण का रावण को समझाना, रावण का तिरस्कार करना, विभीषण का रामचंद्र जी के पास आना और आदर पाना, सीता का विलाप और त्रिजटा का आश्वासन देना।

६—लङ्काकाण्ड—२३ पद—मंदोदरी का फिर समझाना, अङ्गद-संवाद, लक्ष्मण-शक्ति, हनुमान का सजीवनी बूटी लाना, लक्ष्मण का

अच्छा होना, कौशल्या का विलाप और पथिकों से समाचार पूछना ("बैठी सगुन मनावति माता।" यह पद सूरदासजी के रामचरित्र वर्णन के इसी पद से बहुत मिलता है।) एक दूत का आना और रामचंद्रजी के रावण आदि को मारकर लौटने का समाचार देना, (लड़ाई का प्रसङ्ग छोड़ दिया है, अत्यंत संक्षेप में एक ही पद में दूत के द्वारा कुछ समाचार कहला दिया है) रामचंद्रजी का अयोध्या में लौटकर आना और अयोध्या मे आनन्द बधाई होना।

७—उत्तरकाण्ड-३८ पद-रामराज्य, रामचंद्र की शोभा का वर्णन, रामराज्य की बड़ाई, दिनचर्या, हिंडोला (श्रीकृष्ण लीला का अनुकरण), होली (श्रीकृष्णलीला के समान), राजनीति, लोकनिंदा सुनकर जानकी को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ना, वहीं लव कुश का जन्म, रामचंद्रजी का यश-वर्णन।

कृष्ण गीतावली—इस छोटी सी पुस्तक में श्रीकृष्ण-चरित्र का वर्णन है। सब ६१ पद हैं। व्रज के कवियों की सी कविता है, कदाचित् यह व्रज में ही बनाया गया हो। कृष्णलीला पूरी पूरी नहीं है, अपनी इच्छा के अनुसार किसी किसी लीला का वर्णन कवि ने किया है। पहले बालचरित्र है; फिर यथाक्रम गोपी-उलाहना, ऊखल से बाँधना, इंद्रकोप, गोवर्धन-धारण, छाकलीला, शोभा-वर्णन, गोपिकाप्रीति, मथुरागमन, गोपिका-विलाप, ऊद्धवगोपी संवाद, भ्रमरगीत और अंत में द्रौपदी के वस्त्र बढ़ाने की कथा है।

यह ग्रंथ क्रम से नहीं बना जान पड़ता, समय समय पर जो कविताएँ कृष्ण-चरित्र की बनी हैं, उन्हीं का यह संग्रह है। इसमें बहुत से पद सूरसागर के हैं—जैसे, नं० ३३, ३४, ४१, ४२, ४३,४४।

रामचरित-मानस वा रामायण—इस विख्यात ग्रन्थ को गोसाइँ जी ने संवत् १६३१ चैत्र शुक्ल ९ (रामनवमी) मङ्गलवार को आरम्भ किया—

संबत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥

नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

* * * * *

विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम-मद-दंभा॥

यह ग्रन्थ गोसाईं जी का सर्वोत्तम ग्रन्थ है और इसे बनाने का उन्होंने छोटी ही अवस्था में संकल्प किया था। वे स्वयं लिखते हैं-

जागवलिक जो कथा सोहाई। भरद्वाज मुनिवरहिं सुनाई।

* * * * *

संभु कीन्ह यह चरित सोहावा। वहुरि कृपा करि उमहिं सुनोवा॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

* * * * *

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि वालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

* * * * *

तदपि कही गुरु वारहिं वारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

(उसी समय यह विचार किया)

भाषाबद्ध करवि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ ३१॥

इससे जान पड़ता है कि गोस्वामी जी की बचपन ही से इस कथा को लिखने की इच्छा थी। नीचे लिखे दोहों से यह जान पड़ता है कि या तो इसको इन्होंने छोटी ही अवस्था में बनाया था अथवा अपनी नम्रता दिखाने के लिये उन्होंने ऐसा कहा है—

संत सरल चित जगतहित जानि सुभाउ सनेहु।
वालविनय सुनि करि कृपा राम-चरन रति-देहु॥४॥
कवि कोविद रघुवर चरित मानस मंजु मराल।
वाल विनय सुनि सुरुचि लखि मो पर होहु कृपाल॥१४॥

यह पता नहीं लगता कि इस ग्रंथ को गोस्वामी जी ने कब और कहाँ पूरा किया, क्योंकि अंत में समय और स्थान नहीं लिखा है,

केवल महिमा लिखकर उसे समाप्त कर दिया है। अनुमान से लोग यह कहते हैं कि गोस्वामी जी ने इसे अरण्यकांड तक अयोध्या में और किष्किंधा से उत्तर तक काशी में बनाया, क्योंकि और कहीं काशी का वर्णन न करके किष्किंधाकांड के मंगलाचरण में लिखा है—

मुक्तिजन्म महि जानि ग्यानखानि अघहानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥

इस ग्रंथ का नाम गोसाईं जी ने राम-चरित-मानस रक्खा।

यद्यपि इस चरित्र का मूल आधार उन्होंने अधिकतर वाल्मीकि की कथा को ही रखा, पर भक्ति-प्रधान रूप रखने के कारण उन्होंने अध्यात्मरामायण, काकभुसुंडि रामायण आदि के प्रमाण पर बहुत कुछ फेर फार किया। जैसा कि उनके लिखने से प्रकट होता है, सब से अधिक आश्रय काकभुसुंडि रामायण का ही जान पड़ता है। यह 'रामचरित मानस' नाम भी मालूम होता है' उसी ग्रंथ से प्राप्त हुआ है। काकभुसुंडि कहते हैं—मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा।

वाल्मीकि रामायण से कथा-प्रसंग में कई जगह भेद मिलता है। जैसे, वाल्मीकि ने परशुराम का मिलना विवाह के पीछे लौटते समय लिखा है, पर गोस्वामी जी ने धनुष टूटने के बाद ही। जयंत-वाली कथा वाल्मीकि ने सीता के मुख से सुंदरकांड में हनुमान के सामने कहलाई है जिसमें हनुमान रामचंद्र जी को सीता के मिलने का प्रमाण दें, पर 'मानस' में उसका यथास्थान वर्णन किया गया है। वाल्मीकि ने सेतु बँधने पर शिव की स्थापना नहीं लिखी है, केवल लंका से लौटते समय पुष्पक विमान पर से रामचंद्र सीता को समुद्रतट दिखाते हुए कहते हैं कि "यहाँ पर सेतु बाँधने के पहले शिव ने मेरे ऊपर अनुग्रह किया था"। वाल्मीकि रामायण में युद्धकांड ही में भरतमिलाप, राज्याभिषेक सब कुछ हो जाता है। इसके अतिरिक्त छोटे ब्योरों में तो बहुत जगह भेद है, जैसे 'मानस' में अध्यात्म

रामायण के अनुसार कौवे का सीता के चरण में चोंच मारना लिखा है, पर वाल्मीकि ने स्तनांतर में। छोटे छोटे ब्योरों और संवाद आदि की सामग्री तो गोस्वामी जी ने रघुवंश, हनुमान नाटक, प्रसन्न-राघव आदि कई जगहों से ली है। कुछ उक्तियाँ भी इधर उधर से ली हैं, जैसे वर्षा और शरद् वर्णन की उक्तियाँ। "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" वाली उक्ति भागवत से ली गई है। भागवत से ही नंद-दास ने ली है—

नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त 'क्वचिदन्यतोऽपि' भी समझिए।

नीचे संस्कृत कवियों से ली हुई कुछ उक्तियाँ दी जाती हैं—

अयोध्याकांड में लिखा है—

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥
स्त्रवन समीप भए सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥
नृप जुबराज राम कहँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥

रघुवंश में कालिदास का श्लोक देखिए—

"तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयी शंकयेवाह पलितच्छद्मना जरा॥"

किष्किंधाकांड में वर्षा और शरद्-वर्णन प्रायः ज्यों का त्यों श्रीमद्भागवत से अनुवाद किया है। उदाहरण के लिये दो चार स्थल से उद्धृत करते हैं—

"मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखंडिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥" [श्रीमद्भा०]

"लछिमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरत रत हरष जस बिष्णु भगत कहँ देखि॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥"

[श्रीमद्भागवत]

"दादुर धुनि चहुँ दिसा सोहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।"

"क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।
धनिनामुपतापञ्च दैवाधीनमजानताम्॥"

[श्रीमद्भागवत]

"सस संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी।"

"जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥"

[श्रीमद्भागवत]

"हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड बिबाद में गुप्त होहिं सद ग्रंथ॥

"शरदा नीरजोत्पत्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिसेवया॥"

[श्रीमद्भागवत]

"सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा।"

"खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्"॥

[श्रीमद्भागवत]

"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा"।

यह वह ग्रंथ है जिसने तुलसीदास जी को क्या, हिंदी साहित्य को अमर कर दिया। आज शायद ही कोई ऐसा हिंदू घर हो जिस में एक भी साक्षर व्यक्ति हो और यह पोथी न हो। हिंदी बोलनेवाला हिंदू तो ऐसा एक भी न मिलेगा जो रामायण की दो चार चौपाइयाँ न जानता हो। उत्तर भारत में जितना प्रचार इस ग्रंथ का है, उतना किसी और ग्रन्थ का किसी एक भूभाग के बीच न होगा। इसकी लोक-प्रियता का कारण है इसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा इस दशा और परिस्थिति का अत्यत स्वाभाविक,

मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य रूप में चित्रण है। जैसा लोकाभिराम रामचरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा उसके प्रकाश के लिये मिली। फिर "रामचरित मानस" हिंदू जीवन का आधार क्यों न होता? भारतवर्ष के जिस कोने में लोग इस ग्रन्थ को पूरा पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा बहुत जितना समझ पाते हैं, उतने ही के लिये इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीदास जी की रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर इस 'मानस' का कितना अधिकार है, बस इतने ही से समझ लीजिए। इसे साधारण हिंदू जनता की इंजील या कुरान समझिए। जब कोई मुसलमान किसी बात पर खुद कुरान उठाने के लिये तैयार होता है, तब वह अपने हिंदू प्रतिपक्षी से रामायण उठाने को कहता है।

इसी एक ग्रन्थ से जन-साधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है। बालक-वृद्ध, मूर्ख पंडित सबको इसमें ऐसी बातें मिलेंगी जिनमें वे अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार मग्न हो सकते हैं।

जिस धूमधाम से इस ग्रन्थ की प्रस्तावना उठती है, उसे देखते ही इसके महत्व का आभास मिलने लगता है। ऐसी गौरवपूर्ण, गंभीर और विशद प्रस्तावना किसी ग्रंथ की नहीं देखी गई। रामायणों में प्रसिद्ध है कि 'बालकांड' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अंत की गंभीरता की थाह बहुत डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-जीवन की दशा के हिसाब से देखें तो बालकांड में आनन्दोत्सव अपनी हद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है; 'अरण्य'

'किष्किंधा' और 'सुंदर' कर्म और उद्योग का काल सूचित करते हैं, और 'लंका' में विजय और विभूति का चित्र दिखाई पड़ता है।

कहते हैं कि 'रामायण' को 'भाषा' में कर देने के कारण काशी के संस्कृताभिमानी पंडित तुलसीदास जी पर बहुत नाराज़ हुए। उन्होंने रामायण की प्रामाणिकता के संबंध में अपना संदेह प्रकट किया। अंत में यह स्थिर हुआ कि यदि विश्वनाथ जी इसे स्वीकार कर लें तो यह मान्य हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः रामायण विश्वनाथ जी के मंदिर में रात को रख दी गई। सवेरे उठकर देखा गया कि विश्वनाथ जी ने उस पर अपनी स्वीकृति लिख दी थी।

भाषा इस ग्रंथ की अवधी है। पर 'रामलला नहछू' 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' के समान सर्वत्र पूरबी अवधी का ही व्यवहार नहीं है, पछाहीं अवधी भी मिली हुई है। कहीं कहीं तो—पर कम—व्रजभाषा की झलक भी है।

विनयपत्रिका—इस ग्रंथ में राग-रागिनियों में गोस्वामी जी ने विनय के पद लिखे हैं। यद्यपि इसमें के बहुतेरे पद ऐसे हैं जो तुलसीदास जी ने समय समय पर बनाए हैं, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि इस ग्रंथ को उन्होंने यथा-क्रम से रचा। इस ग्रंथ से चढ़कर दूसरे किसी ग्रंथ में ग्रंथकर्त्ता ने अपनी कवित्व-शक्ति नहीं दिखलाई है। इसके बनने के विषय में यह प्रसिद्ध है कि एक दिन एक हत्यारा पुकारता फिरता था कि "मैं हत्यारा हूँ, मुझे राम के नाम पर कोई राम का प्यारा है जो खिलावे"। तुलसीदासजी ने उसकी पुकार और श्रीरामचंद्रजी का नाम सुनकर प्रेम के साथ उसको बुलाया और महाप्रसाद खिलाया। इस पर काशी के ब्राह्मण बहुत बिगड़े और उन्होंने इनको बुलाकर पूछा कि "आप ने इसके साथ कैसे खाया और इसकी हत्या कैसे छूटी?" गुसाईं जी ने कहा—"आप लोग रामनाम की महिमा ग्रंथों में देखिए। आप को उस पर विश्वास नहीं है, यही कचाई है"। इस पर भी उन लोगों का जी

नहीं भरा। तब तुलसीदास जी ने पूछा कि "अच्छा, आप लोगों का जी कैसे भरेगा?" उन लोगों ने कहा कि "जो विश्वनाथ जी का नन्दी (पत्थर का) इस के हाथ से खा ले तो हम लोग मानें"। ऐसा ही किया गया और नन्दी ने उसके हाथ से खा लिया। तब सब लोग लजाकर चुप हो गए। यह देखकर बहुत लोगों को विश्वास आ गया और लोग भगवद्भक्ति करने लगे। इस पर कलियुग बहुत बिगड़ा और प्रत्यक्ष रूप से आकर तुलसीदास जी को धमकाने लगा। इन्होंने हनुमान जी से फर्याद की। हनुमान जी ने कहा, घबराओ मत, तुम एक विनयपत्रिका स्वामी (श्रीरामचन्द्र जी) की सेवा में लिखो; हम उसे पेश कर के कलियुग को दण्ड देने की आज्ञा ले लेगें तब ठीक होगा; क्योंकि वह इस समय का राजा है। उससे हम बिना प्रभु की आज्ञा के कुछ नही बोल सकते"। इसी पर तुलसीदास जी ने यह ग्रन्थ बनाया।

(१) इसमें पहले गणेश, सूर्य, शिव, भैरव, पार्वती, गंगा, यमुना, काशी के क्षेत्रपाल, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीताजी की वंदना करके फिर श्रीरामचंद्रजी से विनय की है। और देवताओं से केवल यही प्रार्थना की है कि श्रीरामचरण में मुझे भक्ति हो। यह ग्रन्थ विशेष करके काशी ही में बना है, क्योंकि मणिकर्णिका, पंचगंगा, बिंदुमाधव, विश्वनाथ, काशी, दण्डपाणि, भैरव, त्रिलोचन, कर्णघंटा, पंचक्रोश, अन्नपूर्णा और केशवदेव आदि देवताओं और तीर्थों का वर्णन इसमें बहुत है। इसमें संदेह नहीं कि इसका कुछ अंश चित्रकूट और प्रयाग में भी बना है।

(२) हनुमानजी की वंदना में जो पद हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि कहीं विपत्ति में पड़कर इनका स्मरण किया है। "ऐसो तोहि न बूझिये हनुमान हठीले" वाला पद, जो पहले एक स्थान पर पूरा दिया जा चुका है, हत्यारे और कलियुग के प्रसंग को दृढ़ करता है।

(३) तुलसीदास जी को जब दिल्ली के बादशाह ने क़ैद कर लिया था, उस समय उन्होंने हनुमान जी की बहुत कुछ वन्दना की थी, जिस पर कहते हैं कि हनुमान् जी ने कोप किया और बदरों से बादशाह के महल को उजड़वा डाला। नीचे लिखा पद उसी संबध का जान पड़ता है—

"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी ।
इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी ॥
लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी ।
अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहिं गारी ॥
ना कहि आये आप सों भये साँसति भारी ।
कहि आये कीबी छमा निज ओर निहारी ॥
समय साँकरे सुमिरिये समरथ हितकारी ।
सो सब बिधि उपकार करइ अपराध बिसारी ॥
बिगरी सेवक की सदा साहेबहि सुधारी ।
तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निहारी "॥ ३ ॥

फिर ३५ वें पद में लिखा है—

"वंदि छोर बिरुदावली निगमागम गाई ।
नीको तुलसीदास को तेरिये निकाई ॥"

(४) ४३ वें पद में संक्षेप में रामचरित, देवताओं की स्तुति से लेकर राज्याभिषेक तक का वर्णन किया है। ४५ वें में राजा राम की वन्दना है ।

(५) ४८ वें पद में श्रीकृष्ण की वन्दना है ।

(६) ५२ वें पद में दशावतार-वर्णन है ।

(७) ६१, ६२, ६३ पद में श्रीविन्दुमाधव जी की वन्दना की है।

(८) ७६ वें पद से गोसाइँ जी के जीवनचरित से बहुत कुछ सबंध जान पड़ता है। इनका पूर्व नाम जो रामबोला लोग कहते हैं, वह इसी के आधार पर जान पड़ता है । माता-पिता का छोड़ देना

और बचपन ही से गुरु के साथ घूमना, यह सब रामायण आदि से भी प्रमाणित है। इसमे भी इसी की दृढ़ता होती है।

"राम को गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो
काम इहै नाम ह्वैहों कबहूँ कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखे आगे हू को वेद भाषे
भलो ह्वैहै तेरो तातें आनँद लहत हौं॥
बाँध्यो हौं करम जड़ गरब गूढ़ निगड
सुनत दुसह हौं साँसति सहत हौं।
आरत अनाथ नाथ कोसलपाल कृपाल लीन्यो
छीन दीन देख्यो दुरित दहत हौं॥
पूछ्यो ज्योंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वैहौं रावरो
जू मेरे कोऊ कहूँ नाहीं चरन गहत हौं।
मीज्यो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं॥
लोग कहैं पोच सो न सोच न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं" ॥७६॥

(९) ब्राह्मणों को ये बहुत ही बड़ा मानते थे। १४२ वें पद में लिखा है—

"विप्र द्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सब सन बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति विलास सब संतन्ह माँझ गनावौं॥"

(१०) २२७ वें पद में भी माँ-बाप के छोड़ने और बिना नाम के इधर उधर भटकने का वर्णन किया है। यह भी पहले एक स्थान पर पूरा दिया जा चुका है।

(११) २७५ वें पद में माता-पिता के छोड़ने पर ग्लानि होने और संतों के ढाड़स देने का वर्णन किया है—

"द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
ह्वै दयाल दुनी दसौ दिसा दुख दोष
दलन छमि कियो न संभोषन काहूँ॥
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहूँ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरेही
अभाग मो सों सकुचत सब छुइ छाहूँ॥
दुखित देखि संतन कहेउ सोचै जनि मन माहूँ।
तो से पसु पावँर पातकी परिहरे
न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ॥
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ।
नाम की महिमा सीलुनाथ को मेरो
भलो बिलोकि अब तें सकुचहुँ सिहाहूँ॥२७५॥"

(१२) २७७ में "विनयपत्रिका" लिखकर पेश करने का वर्णन किया है—

"विनय पत्रिका दीन की बापु आपु ही बाँचो।
हिए हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछि पाँचो।"

(१३) २७८ में हनुमान, शत्रुघ्न, भरत और लक्ष्मण से प्रार्थना की है कि मौक़ा पाकर सिफ़ारिश करके मेरा काम बना देना।

(१४) २७९ वें (अन्तिम) पद में लिखा है कि हनुमान और भरत का रुख पाकर लक्ष्मण ने स्वामी से हमारी विनती की। भगवान् ने हँसकर कहा हाँ, हमें भी ख़बर लगी है—

"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहुँ नाथनाम सों परतीति प्रीति किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनेवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है॥२७९॥

इस ग्रंथ में तो तुलसीदास जी ने अपना अपरिमित पांडित्य, शब्द-भाण्डार, वाक्य-विन्यासपटुता, अर्थ-गौरव, उक्ति-वैचित्र्य और सब से बढ़कर अपना दिव्य अंतःकरण खोलकर रख दिया है; क्योंकि यह महाराज रामचंद्र जी के दरबार में गुज़रनेवाली अर्ज़ी है। अर्ज़ी की तहरीर जबरदस्त होनी ही चाहिए। यह अर्ज़ी योंही चाला चाला नहीं भेज दी जाती है। कायदे के ख़िलाफ़ काम करनेवाले—मर्य्यादा का भंग करनेवाले—आदमी तुलसीदास जी नहीं हैं। बीच के देवताओं और मुसाहबों के पास से होती हुई तब हुज़ूर में गुज़रती है। वहाँ पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं। हनुमान और भरत धीरे से इशारा करते हैं (दरबार है, ठट्ठा नहीं है)। तब लक्ष्मण धीरे से अर्ज़ी पेश करते हैं, और लोग भी ज़ोर दे देते हैं। अंत में महाराजाधिराज हँसकर यह कहते हुए कि "मुझे भी इसकी ख़बर है" मंज़ूरी लिख देते हैं।

भक्तों के हृदय का तो यह ग्रंथ सर्वस्व है। भक्ति की पूरी पद्धति इसके भीतर दिखाई गई है। पहले वे प्रभु के महत्व और सौंदर्य्य के साथ साथ अपने लघुत्व का आनन्द पूर्ण अनुभव करते हैं जिससे 'दैन्य' के अद्भुत उद्गार हृदय से उमड़ते चले आते हैं। फिर अपने दोषों पर लज्जित होते हैं और ग्लानि से दबे जाते हैं। अंत में उनके 'शील स्वभाव' की ओर ध्यान जाता है और हृदय में मंगलाशा का उदय होता है।



आलोचना-खंड

लोक-धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना लोकधर्म के ये तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिये बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती। पर देशकाल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही, कभी किसी की। यह प्रधानता लोक में जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिये शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिये कोई न कोई महात्मा उठ खड़ा होता है। एक बार जब कर्मकांड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदों के ज्ञानकांड की ओर लोग प्रवृत्त किए गए। कुछ दिनों में फिर कर्मकांड प्रबल पड़ा और यज्ञों में पशुओं का बलि धूमधाम से होने लगा। उस समय भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ जिन्होंने भारतीय जनता को एक बार कर्मकांड से बिलकुल हटाकर अपने ज्ञानवैराग्य मिश्रित धर्म की ओर लगाया। पर उनके धर्म में 'उपासना' का भाव नहीं था, इससे साधारण जनता के हृदय की तृप्ति उससे न हुई और उपासना-प्रधान धर्म की स्थापना फिर से हुई।

पर किसी एक अवयव की अत्यंत वृद्धि से उत्पन्न विषमता हटाने के लिये जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें उनके स्थान पर दूसरे अवयव का हद से बढ़ना स्वाभाविक था। किसी बात की एक हद पर पहुँचकर जनता फिर पीछे पलटती है और क्रमशः बढ़ती हुई दूसरी हद पर जा पहुँचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह

उलट-फेर चक्रगति के रूप में होता चला आ रहा है। जब जन-समाज नई उमंग से भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में पड़कर किसी एक हद से दूसरी हद पर पहुँचा दिया जाता है, तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे किसी दूसरी हद तक जाना पड़ता है। जिन मतप्रवर्तक महात्माओं को आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं, वे भी मनुष्य थे। किसी वस्तु को अत्यधिक परिमाण में देख जो विरक्ति या द्वेष होता है, वह उस परिणाम के ही प्रति नहीं रह जाता किंतु उस वस्तु तक पहुँचता है। चिढ़नेवाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा से चिढ़ने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढ़ने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अग्रसर होने और अग्रसर करने में परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इससे नए नए मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शांति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशांति ही होती आई है। धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्याबुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें, यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।

उपर्युक्त सामंजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नए नए संप्रदायों की खींचतान के कारण आर्य्यधर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांग-दर्शिता बढ़ रही थी। जो एक कोना देख पाता था, वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखनेवालों को बुरा भला कहता था। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिये भी अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नए नए पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों

का उपहास, वेदांत के दो चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार-प्रयोग आदि सब कुछ था; पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य्यधर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का ज़ोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ साथ शिथिल पड़ गई थी, कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में इन नए पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं। इधर शास्त्रों का पठन पाठन कम लोगों में रह गया था, उधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखनेवाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी "सतगुरु के प्रसाद" मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिये तैयार बैठे थे। अतः सतगुरु भी उन्हीं में से निकल पड़ते थे जो धर्म्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे, और कुछ लोग झाँझ खजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था। "ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।" ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। 'भक्ति' के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निंदा करते थे, पण्डितों को गालियाँ देते थे, और आर्य्य-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिये कल्याणकर नहीं। जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दमन करनेवाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जायँ, वह कदापि फल फूल नहीं सकता; उसमें अशांति सदा बनी रहेगी।

'भक्ति' का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सब के साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य्य धर्म को छिन्न भिन्न होने से बचाया। ऐसे

सर्वांगदर्शी लोकव्यवस्थापक महात्मा के लिये मर्य्यादा पुरुषोत्त भगवान् रामचंद्र के चरित्र से बढ़कर अवलंब और क्या मि सकता था। उसी आदर्श चरित्र के भीतर अपनी अलौकि प्रतिभा के बल से उन्होंने धर्म के सब रूपों को दिखाकर भ का प्रकृत आधार खड़ा किया। जनता ने लोक की रक्षा करनेवा प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापलन, क्षम आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वं आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किय जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दी दुखियों को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठि कर्त्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी ध अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक व रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वह यही व्यापक ध है। सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम संसा है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन औ दुर्जन सदा से संसार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।

सुगुन छीर अवगुन जल, ताता।
मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥

किसी एक सर्प को उपदेश द्वारा चाहे कोई अहिंसा में तत्प कर दे, किसी डाकू को साधु बना दे, क्रूर को सज्जन कर दे प सर्प, दुर्जन और क्रूर संसार में रहेंगे और अधिक रहेंगे। यदि उभय पक्ष न होंगे तो सारे धर्म और कर्तव्य की, सारे जीव प्रयत्न की इतिश्री हो जायगी। यदि एक गाल में चपत मारनेवा ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरने का महत्व कैसे दिखाया जायगा प्रकृति के तीनों गुणों की अभिव्यक्ति जब तक अलग अलग है, त तक उसका नाम जगत् या संस[illegible] अतः ऐसी दुष्टता स

रहेगी जो सज्जनता के द्वारा कभी नहीं दबाई जा सकती, ऐसा अत्याचार सदा रहेगा जिसका दमन उपदेशों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से, एक एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करनेवाला धर्म लोकधर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिये छोड़ दे, उनके लिये कोई व्यवस्था न करे, वह लोकधर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है जहाँ वह लोकधर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधि-कारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है।

ईसाई, बौद्ध, जैन, इत्यादि वैराग्यप्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए, उनका पालन अलग अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्याय-पूर्वक अग्रसर होनेवाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा। वहाँ भी समष्टिरूप में जनता के बीच लोकधर्म ही चलता रहा। अतः व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क भड़क दिखाकर लोकधर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है।

लोकमर्य्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिये वेदशास्त्र की निंदा ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई।

इस दल का लोकविरोधी स्वरूप गोस्वामी जी ने खूब पह-चाना। समाज-शास्त्र के आधुनिक विवेचकों ने भी लोकसंग्रह और

लोक-विरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग्ज़ के चार विभाग ये हैं--लोकसंग्रही, लोकबाह्य, अलोकोपयोगी और लोकविरोधी *। लोकसंग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्य्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न भिन्न वर्गों के परस्पर संबंध को सुखावह और कल्याण-प्रद करने की चेष्टा में रहते हैं। लोकबाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं। अलोकोपयोगी वे हैं जो समाज में मिले तो दिखाई देते हैं, पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते; जैसे आलसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कठिन रहता है। लोकविरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। गिडिंग्ज़ ने इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियों और अपराधियों को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुँचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप में नहीं निकालते, कुछ मृदुल रूप में प्रकट करते हैं।

अशिष्ट संप्रदायों का औद्धत्य गोस्वामी जी नहीं देख सकते थे। इसी औद्धत्य के कारण विद्वान् और कर्मनिष्ठ भी भक्तों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे जैसा कि गोस्वामी जी के इन वाक्यों से प्रकट होता है—

कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान-बिहीन।

धर्म-व्यवस्था के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न करनेवाले नए नए पंथों के प्रति इसीसे उन्होंने अपनी चिढ़ कई जगह प्रकट की है; जैसे—

श्रुतिसम्मत हरिभक्त पथ, संजुत बिरति बिबेक।

---

* The true Social Classes are—the Social, the non-Social, the pseudo-Social and the anti-Social—Gidding's "The Principles of Sociology,"

जी का भाव अत्यंत व्यापक था—वह मानव-जीवन के सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला था। राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार, और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे। पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिये मानों राम ने रावण का असत् रूप खड़ा किया। 'मानस' के आरंभ में सिद्धांत-कथन के समय तो वे "सियाराम मय सब जग जानी" सब को "सप्रेम प्रणाम" करते हैं, पर आगे व्यवहार-ा में चलकर वे रावण के प्रति 'शठ' आदि बुरे शब्दों का प्रयोग अनुचित हैं।

भक्ति के तत्त्व को हृदयंगम करने के लिये उसके विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। अपने ज्ञान की परिमिति के अनुभव के साथ साथ मनुष्य जाति आदिम काल से ही आत्मरक्षा के लिये परोक्ष शक्तियों की उपासना करती आई है। इन शक्तियों की भावना वह अपनी परिस्थिति के अनुरूप ही करती रही। दुःखों से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दुःखों का आना न आना बिलकुल अपने हाथ में नहीं है, यह देखते ही मनुष्य ने उनको कुछ परोक्ष शक्तियों द्वारा प्रेरित समझा। अतः बलिदान आदि द्वारा उन्हें शांत और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पड़ा। इस आदिम उपासना का मूल था "भय"। जिन देवताओं की उपासना असभ्य दशा में प्रचलित हुई, वे "अनिष्टदेव" थे। आगे चलकर जब परिस्थिति ने दुःख-निवारण मात्र से कुछ अधिक सुख की आकांक्षा का अवकाश दिया, तब साथ ही देवों के सुख-समृद्धि-विधायक रूप की प्रतिष्ठा हुई। यह 'इष्टानिष्ट' भावना बहुत काल तक रही। वैदिक देवताओं को हम इसी रूप में पाते हैं। वे पूजा पाने से प्रसन्न होकर धन, धान्य, ऐश्वर्य्य, विजय सब कुछ देते थे। पूजा न पाने पर कोप करते थे और घोर अनिष्ट करते थे। व्रज के गोपों ने

जब इंद्र की पूजा बंद कर दी थी, तब इंद्र ने ऐसा ही कोप किया था। उसी काल से 'इष्टानिष्ट' काल की समाप्ति माननी चाहिए।

समाज के पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित हो जाने के साथ ही मनुष्य के कुछ आचरण लोकरक्षा के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल दिखाई पड़ गए थे। 'इष्टानिष्ट' काल के पूर्व ही लोकधर्म और शील की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी; पर उनका संबंध प्रचलित देवताओं के साथ नहीं स्थापित हुआ था। देवगण धर्म और शील से प्रसन्न होनेवाले, अधर्म और दुःशीलता पर कोप करनेवाले नहीं हुए थे; वे अपनी पूजा से प्रसन्न होनेवाले और उस पूजा में त्रुटि से ही अप्रसन्न होनेवाले बने थे। ज्ञानमार्ग की ओर एक ब्रह्म का निरूपण बहुत पहले से हो चुका था, पर वह ब्रह्म लोकव्यवहार से तटस्थ था। लौकिक उपासना के योग्य वह नहीं था। धीरे धीरे उसके व्यावहारिक रूप, सगुण रूप, की तीन रूपों में प्रतिष्ठा हुई—स्रष्टा, पालक और संहारक। उधर स्थिति-रक्षा का विधान करनेवाले धर्म और शील के नाना रूपों की अभिव्यक्ति पर जनता पूर्ण रूप से मुग्ध हो चुकी थी। उसने चट दया, दाक्षिण्य, क्षमा, उदारता, वत्सलता, सुशीलता आदि उदात्त वृत्तियों का आरोप ब्रह्म के लोकपालक सगुण स्वरूप में किया। लोक में 'इष्टदेव' की प्रतिष्ठा हो गई। नारायण वासुदेव के मंगलमय रूप का साक्षात्कार हुआ। जन-समाज आशा और आनंद से नाच उठा। भागवत धर्म का उदय हुआ। भगवान् पृथ्वी का भार उतारने और धर्म की स्थापना करने के लिये बार बार आते हुए साक्षात् दिखाई पड़े। जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है, उन गुणों को हम जिसमें देखें; वही 'इष्टदेव' है—हमारे लिये वही सब से बड़ा है—

> तुलसी जप तप नेम व्रत सब सबही तें होइ।
> लहै बड़ाई देवता 'इष्टदेव' जब होइ॥

इष्टदेव भगवान् के स्वरूप के अंतर्गत केवल उनका दया-दाक्षिण्य ही नहीं, असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोकमर्य्यादा पालन भी है।

भक्ति का यह मार्ग बहुत प्राचीन है। जिसे रूखे ढंग से 'उपासना' कहते हैं, उसी ने व्यक्ति की रागात्मक सत्ता के भीतर प्रेम परिपुष्ट होकर 'भक्ति' का रूप धारण किया है। व्यष्टि रूप में प्रत्येक मनुष्य के और समष्टि रूप में मनुष्य जाति के सारे प्रयत्नों का लक्ष्य स्थिति-रक्षा है। अतः ईश्वरत्व के तीन रूपों में स्थिति-विधायक रूप ही भक्ति का आलंबन हुआ। विष्णु या वासुदेव की उपासना ही मनुष्य के रतिभाव को अपने साथ लगाकर भक्ति की परम अवस्था को पहुँच सकी। या यों कहिए कि भक्ति की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वैष्णवों में ही हुआ।

तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्य्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे; जो अपने उपदेशों में दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो लोगों को समाज-व्यवस्था की निंदा और पूज्य और सम्मानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा आकर्षित करते थे। समाज की व्यवस्था में कुछ विकार आ जाने से ऐसे लोगों के लिये अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों, कुलीनों, श्रीमानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्य्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और सम्मान कुछ अधिक प्राप्त रहता है, अतः ऐसे लोगों की भी कुछ संख्या सदा रहती है जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं। अतः उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष रहने पर भी उनमें दोषोद्भावना करके कोई चलते पुरजे का आदमी ऐसे लोगों को संग में लगाकर 'प्रवर्तक' 'अगुआ', 'महात्मा' आदि होने का डंका पीट सकता

है। यदि दोष सचमुच हुआ तो फिर क्या कहना है। सुधार की सच्ची इच्छा रखनेवाले दो चार होंगे तो ऐसे लोग पचीस। किसी समुदाय के मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार को काम में लाकर 'अगुआ' और 'प्रवर्त्तक' बनने का हौसला रखनेवाले समाज के शत्रु हैं। योरप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है, वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण। पूर्वीय देशों की अपेक्षा संघनिर्माण में अधिक कुशल होने के कारण वे अपने व्यवसाय में बहुत जल्दी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। योरप में जितने लोकविप्लव हुए हैं, जितनी राजहत्या, नरहत्या हुई है, सब में जनता के वास्तविक दुःख और क्लेश का भाग यदि $\frac{1}{3}$ था तो विशेष जन-समुदाय की नीच वृत्तियों का भाग $\frac{2}{3}$। 'क्रांतिकारक' 'प्रवर्त्तक' आदि कहलाने का उन्माद योरप में बहुत अधिक है। इन्ही उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहाँ का समाज छिन्नभिन्न हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए, एक मेम साहब पति-पत्नी के संबंध पर व्याख्यान देती फिरती थीं कि कोई आवश्यक नहीं कि स्त्री पति के घर में ही रहे।

भक्त कहलानेवाले एक विशेष समुदाय के भीतर जिस समय यह उन्माद कुछ बढ़ रहा था, उस समय भक्तिमार्ग के भीतर ही एक ऐसी सात्त्विक ज्योति का उदय हुआ जिसके प्रकाश में लोकधर्म के छिन्नभिन्न होते हुए अंग भक्तिसूत्र के द्वारा ही फिर से जुड़े। चैतन्य महाप्रभु के भाव-प्रवाह के द्वारा वंगदेश में, अष्टछाप के कवियों के संगीत-स्रोत के द्वारा उत्तर भारत में प्रेम की जो धारा बही, उसने पंथवालों की परुष वचनावली से सूखते हुए हृदयों को आर्द्र तो किया, पर वह आर्य-शास्त्रानुमोदित लोकधर्म के माधुर्य्य की ओर आकर्षित न कर सकी। यह काम गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया। हिंदू समाज में फैलाया हुआ विष उनके प्रभाव से चढ़ने न पाया। हिंदू-जनता अपने गौरवपूर्ण इतिहास का भुलाने, कई सहस्र वर्षों के संचित ज्ञानभंडार से वंचित रहने, अपने प्रातःस्म-

रणीय आदर्श पुरुषों के आलोक से दूर पड़ने से बच गई। उसमें यह संस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सांसारिक कर्त्तव्यों से विमुख, कर्ममार्ग से च्युत कोरे उपदेश देनेवाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रण-क्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखानेवाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलानेवाले, प्रभूत शक्ति-सपन्न होकर भी क्षमा करनेवाले, अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरजन करनेवाले, मैत्री का निर्वाह करनेवाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले, बड़ों की आज्ञा का आदर करनेवाले, संपत्ति में नम्र रहनेवाले, विपत्ति में धैर्य्य रखनेवाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं, यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलंबन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं। जिन जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा होती है, उन सब का समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनंत पुरुषोत्तम को उतनी मर्य्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार क्षेत्र से परे, नाम रूप से परे जो ईश्वरत्व है वह प्रेम और भक्ति का विषय नहीं, वह चिंतन का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारी वृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अतः अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है, उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है। हम अपने साथ जगत् का जो संबंध अनुभव करते हैं, उसी के मूल में उसकी सत्ता हमें देखनी चाहिए। इसी से "अलख अलख" पुकारते हुए एक साधु को बाबा जी ने फटकारा था कि—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।

तुलसी अलखहि का लखै ? रामनाम जपु नीच ॥

जो ज़रा ज्ञानी होने का दम भरते हैं, वे प्रायः कहा करते हैं कि "ईश्वर को अपने भीतर देखो"। गोस्वामी जी कहते हैं कि भीतर ही क्यों देखें, बाहर क्यों न देखें।

अंतर्जामिहु ते बड़ बाहिरजामि हैं राम, जे नाम लिए तें।
पैंज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥

भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनों को लेकर चलती है।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ो सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया, पर भगवान् के लोकसंग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान् की लोकधर्म-स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया। अधर्म और अन्याय से संलग्न वैभव और समृद्धि का जो विच्छेद उन्हांने कौरवों के विनाश द्वारा कराया, लोकधर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को जिस प्रकार उन्होंने सँभाला, शिशुपाल के प्रसंग में क्षमा और दंड की जो मर्य्यादा उन्होंने दिखाई, किसी प्रकार ध्वस्त न होनेवाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की जिस नीति के अवलंबन की व्यवस्था उन्होंने जरा-सध-वध द्वारा की, उसका सौंदर्य्य जनता के हृदय में अंकित नहीं किया गया। इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलास-प्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच-कूदकर जी बहलाने के योग्य हुआ।

जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो, वहाँ कर्म-मार्गी गृहस्थों के लिये लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ है। यदि किसी

अत्याचारी का दमन सीधे न्याय संगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल-नीति का अवलंबन लोकधर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टांत से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता। भारतीय जन-समाज में लोकधर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।

रामचरित के सौंदर्य्य द्वारा तुलसीदास जी ने जनता को लोक-धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नहीं हुआ। वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष रूप में साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संस्कार हुआ। दक्षिण में रामदास स्वामी ने इसी लोक धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदु-जनता शिवाजी और गुरुगोविंदसिंह को राम-कृष्ण के रूप में और औरंगजेब को रावण और कंस के रूप में देखने लगी। जहाँ लोक ने किसी को रावण और कंस के रूप में देखा कि भगवान् के अवतार की संभावना हुई।

गोस्वामी जी ने यद्यपि भक्ति के साहचर्य्य से ज्ञान, वैराग्य का भी निरूपण किया है और पूर्ण रूप से किया है, पर उनका सब से अधिक उपकार गृहस्थों के ऊपर है जो अपनी प्रत्येक स्थिति में उन्हें पुकारकर कुछ कहते हुए पाते हैं और वह 'कुछ' भी लोक-व्यवहार के अंतर्गत है, उसके बाहर नहीं। मान अपमान से परे साधक होना संतों के लिये तो वे "खल के वचन संत सहैं जैसे" कहते हैं, पर साधारण गृहस्थों के लिये सहिष्णुता की मर्य्यादा बाँधते हुए कहते हैं कि "कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू"। साधक और संसारी दोनों के

मार्गों की ओर वे संकेत करते हैं। व्यक्तिगत सफलता के लिये जिसे लोग "नीति" कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही "धर्म" हो जाता है।

सारांश यह कि गोस्वामी जी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच रमते दिखाई देते थे। एक तो प्राचीन परम्परा के भक्त जो प्रेम में मग्न होकर संसार को भूल रहे थे, दूसरे वे जो अनधिकार ज्ञानगोष्ठी द्वारा समाज के प्रतिष्ठित आदर्शों के प्रति तिरस्कार-बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे; और तीसरे वे जो हठयोग, *रसायन आदि द्वारा अलौकिक सिद्धियों की व्यर्थ आशा का प्रचार कर रहे थे। इन तीनों वर्गों के द्वारा साधारण जनता के लोक-धर्म पर आरूढ़ होने की संभावना कितनी दूर थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। आज जो हम फिर झोंपड़ों में बैठे किसानों को भरत के "भायप भाव" पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामी जी के ही प्रसाद से। धन्य है गार्हस्थ्य-जीवन में धर्मालोक-स्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर घर पहुँचानेवाले तुलसीदास। व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमें नई शक्ति का संचार हुआ। जो कुछ भी नहीं जानता, वह भी यह जानता है कि—

> जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
> तिनहिं विलोकत पातक भारी॥

स्त्रियाँ और कोई धर्म जानें, या न जानें, पर वे वह धर्म जानती हैं जिससे संसार चलता है। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि—

> वृद्ध, रोगवस, जड़, धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
> ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

---

* गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग, निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।—कवितावली।

जिसमें बाहुबल है उसे यह समझ भी पैदा हो गई है कि दुष्ट और अत्याचारी 'पृथ्वी के भार' हैं, उस भार को उतारनेवाले भगवान् के अवतार हैं और उस भार को उतारने में सहायता पहुँचानेवाले भगवान् के सच्चे सेवक हैं। प्रत्येक देहाती लठैत 'बजरंगबली' की जयजयकार मनाता है—कुंभकर्ण की नहीं। गोस्वामी जी ने "रामचरित-चिंतामणि" को छोटे बड़े सब के बीच बाँट दिया जिसके प्रभाव से हिंदू-समाज यदि चाहे—सच्चे जी से चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ सम्मिश्रित करके बाबा जी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रांति न जान पड़े, आनंद और उत्साह के साथ लोग आपसे आप उसकी ओर प्रवृत्त हों, धर-पकड़ और ज़बरदस्ती से नहीं। जिस धर्ममार्ग में कोरे उपदेशों से कष्ट ही कष्ट दिखाई पड़ता है, वह चरित्र सौंदर्य्य के साक्षात्कार से आनंदमय हो जाता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते चलते चौड़ी होकर वही सीधा राजमार्ग हो सकती है, जिसके संबंध में गोस्वामी जी कहते हैं—

"गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लागत राजडगरो सो।"

धर्म और जातीयता का समन्वय

गोस्वामीजी द्वारा प्रस्तुत नवरसों का रामरसायन ऐसा पुष्टिकर हुआ कि उसके सेवन से हिंदू जाति विदेशीय मतों के आक्रमणों से भी बहुत कुछ रक्षित रही और अपने जातीय-स्वरूप को भी दृढ़ता से पकड़े रही। उसके भगवान् जीवन की प्रत्येक स्थिति में—खेलने कूदने में, हँसने रोने में, लड़ने भिड़ने में, नाचने गाने में, बालकों की क्रीडा में, दाम्पत्य प्रेम में, राज्य-संचालन में, आज्ञापालन में, आनंदो-

त्सव में, शोक-समाज में, सुख-दुःख में, घर में, संपत्ति में, विपत्ति में—उसे दिखाई पड़ते हैं। विवाह आदि शुभ अवसरों पर तुलसी-रचित राम के मंगल-गीत गाए जाते हैं, विमाताओं की कुटिलता के प्रसंग में कैकेयी की कहानी कही जाती है, दुःख के दिनों में राम का वनवास स्मरण किया जाता है, वीरता के प्रसंग में उनके धनुष की भीषण टंकार सुनाई पड़ती है; सारांश यह कि सारा हिंदू-जीवन राम-मय प्रतीत होता है। वेदान्त का परमार्थ तत्त्व समझने की सामर्थ्य न रखनेवाले साधारण लोगों को भी व्यवहार-क्षेत्र में चारों ओर राम ही राम दिखाई देते हैं। इस प्रकार राम के स्वरूप का पूर्ण सामंजस्य हिंदू-हृदय के साथ कर दिया गया है। इस साहचर्य्य से राम के प्रति जो भाव साधारण जनता में प्रतिष्ठित हो गया है, उसका लावण्य उसके संपूर्ण जीवन का लावण्य हो गया है। राम के विना हिंदू-जीवन नीरस है—फीका है। यही रामरस उसका स्वाद बनाए रहा और बनाए रहेगा। राम ही का मुँह देख हिंदू-जनता का इतना बड़ा भाग अपने धर्म और जाति के घेरे में पड़ा रहा। न उसे तलवार हटा सकी, न धन-मान का लोभ, न उपदेशों की तड़क भड़क। जिन राम को जनता जीवन की प्रत्येक स्थिति में देखती आई, उन्हें छोड़ना अपने प्रिय से प्रिय परिजन को छोड़ने से कम कष्ट-कर न था। विदेशी कच्चा रंग एक चढ़ा एक छूटा, पर भीतर जो पक्का रंग था वह बना रहा। हमने चौड़ी मोहरी का पायजामा पहना, आदाब अर्ज़ किया, पर 'राम राम' न छोड़ा। अब कोट पतलून पहनकर बाहर "डैम नान्सेंस" कहते हैं, पर घर में आते ही फिर वही 'राम राम'। शीरी-फ़रहाद और हातिमताई के क़िस्से के सामने हम कर्ण, युधिष्ठिर, नल, दमयंती सब को भूल गए थे, पर राम-चर्चा कुछ करते रहे। कहना न होगा कि इस एक को न छोड़ने से एक प्रकार से सब कुछ बना रहा; क्योंकि इसी एक नाम में हिंदू-जीवन का सारासार बीज-

कर रख दिया गया था। इसी एक नाम के अवलंब से हिंदू जाति के लिये अपने प्राचीन स्वरूप, अपने प्राचीन गौरव के स्मरण की संभावना बनी रही। रामनामामृत पान करके हिंदू-जाति अमर हो गई। इस अमृत को घर घर पहुँचानेवाला भी अमर है। आज जो हम बहुत से 'भारतीय हृदयों' को चीरकर देखते हैं, तो वे अभारतीय निकलते हैं। पर एक इसी कवि-केसरी को भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति नीति की रक्षा के लिये सबके हृदय-द्वार पर अड़ा देख हम निराश होने से बच जाते हैं।

मंगलाशा

शुद्ध आत्म-पक्ष के विचार से दु:खवाद स्वीकार करते हुए भी, साधकों के लिये ज्ञानद्वारा उस दु:ख की निवृत्ति मानते हुए भी, वे लोक के कल्याण के पूरे प्रयासी थे। लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है, और उसकी रक्षा द्वारा सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा 'सत्' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानंद' का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और 'आनंद' का प्रतीक है "रामराज्य" जिसमें उस मर्य्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अन्त में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदास जी ने प्रकट किया है। इस व्यवधान-काल का निरीक्षण लोक की वर्तमान दशा के रूप में वे अत्यंत भय और आकुलता के साथ इस प्रकार करते हैं—

प्रभु के वचन वेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव-मई है।
तिन्हकी मति, रिस, राग, मोह, मद लोभ लालची लीलि लई है॥

राज-समाज कुसाज, कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीतिप्रतीति प्रीति परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल विलसत, हुलसति खलई है॥

पर इस भीषण दृश्य से गोस्वामी जी निराश नहीं होते। सच्चे भक्त के हृदय में नैराश्य कहाँ? जिसे धर्म की शक्ति पर, धर्म-स्वरूप भगवान् की अनंत करुणा पर पूर्ण विश्वास है, नैराश्य का दुःख उसके पास नहीं फटक सकता। अतः गोस्वामी जी रामराज्य स्थापन करने के लिये राम से बिनती करते हैं—

"दीजै दादि देखि नातो वलि मही मोद-मंगल-रितई है।"

प्रार्थना के साथ ही अपने विश्वास के बल पर वे मान लेते हैं कि प्रार्थना सुन ली गई, "रामराज्य" हो गया, लोक में फिर मंगल छा गया—

भरे भाग अनुराग लोग कहै राम अवध चितवनि चितई है।
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है॥
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम-जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

लोक में जब जब सुकृत की सेना हारने लगेगी, अधर्म की सेना प्रबल पड़ती दिखाई देगी, तब तब भगवान् अपनी शक्ति का, धर्म-बल का, लोकबल का प्रकाश करेंगे, ऐसा विश्वास सच्चे भक्त को रहता है। अतः आशा और आनंद से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है।

लोक-नीति और मर्यादावाद

गोस्वामी जी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है; अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।

प्रोत्साहन और प्रतिबंध द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखनेवाला तत्त्व धर्म है जो दो प्रकार का है—साधारण और विशेष। मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्त्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति या व्यवसाय-विशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं। जैसे माता पिता के प्रति पुत्र का, पुत्र के प्रति पिता का, राजा के प्रति प्रजा का, गुरु के प्रति शिष्य का, ग्राहक के प्रति दूकानदार का, छोटों के प्रति बड़ों का इत्यादि इत्यादि। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ी है, समाज में वर्णविधान हुआ है, त्यों त्यों इन धर्मों का विस्तार होता गया है। पारिवारिक जीवन में से निकलकर समाज में जाकर उनकी अनेक रूपों में प्रतिष्ठा हुई है। संसार के और देशों में जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें 'साधारण धर्म' का ही पूर्ण समावेश हो सका, विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य्य सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम धर्म कहलाया। उसमें लोकसंचालन के लिये ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवाबल का सामंजस्य घटित हुआ जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई। जिस प्रकार ब्राह्मण के धर्म पठन-पाठन, तत्वचिंतन, यज्ञादि हुए, उसी प्रकार शांत और मृदु वचन तथा उपकार-बुद्धि, नम्रता, दया, क्षमा आदि भावों का अभ्यास भी। क्षत्रियों के लिये जिस प्रकार शस्त्र-ग्रहण धर्म हुआ, उसी प्रकार जनता की रक्षा, उसके दुःख से सहानुभूति आदि भी। और वर्णों के लिये जिस प्रकार अपने नियत व्यवसायों का संपादन कर्तव्य ठहराया गया, उसी प्रकार अपने से ऊँचे कर्तव्यवालों अर्थात् लोकरक्षा द्वारा भिन्न भिन्न व्यवसायों का अवसर देनेवालों के प्रति आदर-सम्मान का भाव भी। वचन व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती। हृदय का योग जब तक न होगा,

तब तक न कर्म सच्चे होंगे, न अनुकूल वचन निकलेंगे। परिवार में जिस प्रकार ऊँची नीची श्रेणियाँ होती हैं, उसी प्रकार शील, विद्या-बुद्धि, शक्ति आदि की विचित्रता से समाज में भी नीची ऊँची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य, कोई राजा होगा कोई प्रजा, कोई अफसर होगा कोई मातहत, कोई सिपाही होगा कोई सेनापति। यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें, यदि छोटे बड़ों का आदर-सम्मान छोड़कर उन्हें आँख दिखाकर डाँटने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता। इसी से शूद्रों का द्विजों को आँख दिखाकर डाँटना, मूर्खों का विद्वानों का उपहास करना गोस्वामी जी को समाज की धर्म-शक्ति का ह्रास समझ पड़ा।

ब्राह्मणों की मति को 'मोह, मद, रिस, राग और लोभ' यदि निगल जायँ, राजसमाज यदि नीतिविरुद्ध आचरण करने लगे, शूद्र यदि ब्राह्मणों को आँख दिखाने लगें, अर्थात् अपने अपने धर्म से समाज की सब श्रेणियाँ च्युत हो जायँ, तो फिर से लोकधर्म की स्थापना कौन कर सकता है? गोस्वामी जी कहते हैं 'राज्य' 'सुराज्य' 'रामराज्य'। राज्य की कैसी व्यापक भावना है! आदर्श राज्य केवल बाहर बाहर कर्मों का प्रतिबंधक और उत्तेजक नहीं है, हृदय को स्पर्श करनेवाला है, उसमें लोकरक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा करनेवाला है। यह धर्मराज्य है—इसका प्रभाव जीवन के छोटे बड़े सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला है, समस्त मानवी-प्रकृति का रंजन करनेवाला है। इस राज्य की स्थापना केवल शरीर पर ही नहीं होती, हृदय पर भी होती है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है—आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है। इसे जिस प्रकार हाथ पैर हैं, उसी प्रकार हृदय भी है, जिसकी रमणीयता के अनुभव से प्रजा आप से आप धर्म की ओर प्रवृत्त होती है। राम-राज्य में—

बयरु न करु काहू सन कोई। राम-प्रताप बिषमता खोई॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति-रीती।

लोग जो बैर छोड़कर परस्पर प्रीति करने लगे, वह क्या राम के 'बाहुबल के प्रताप से', दंडभय से? दंडभय से लोग इतना ही कर सकते हैं कि किसी को मारें-पीटें नहीं, यह नहीं कि किसी से मन में भी बैर न रखें, सब से प्रीति रखें। सुशीलता की पराकाष्ठा राम के रूप में हृदयाकर्षिणी शक्ति होकर उनके बीच प्रतिष्ठित थी। उस शक्ति के सम्मुख प्रजा अपने हृदय की सुंदर वृत्तियों को कर-स्वरूप समर्पित करती थी। केवल अर्जित वित्त के प्रदान द्वारा अर्थशक्ति खड़ी करने से समाज को धारण करनेवाली पूर्ण शक्ति का विकास नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यता के बीच राजा धर्मशक्तिस्वरूप है, पारस और बाबुल के बादशाहों के समान केवल धनबल और बाहुबल की पराकाष्ठा मात्र नहीं। यहाँ राजा सेवक और सेना के होते हुए भी शरीर से अपने धर्म का पालन करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि प्रजा की पुकार संयोग से उसके कान में पड़ती है, तो वह आप ही रक्षा के लिये दौड़ता है, ज्ञानी महात्माओं को सामने देख सिंहासन छोड़कर खड़ा हो जाता है, प्रतिज्ञा के पालन के लिये शरीर पर अनेक कष्ट झेलता है, स्वदेश की रक्षा के लिये रणक्षेत्र में सब से आगे दिखाई पड़ता है, प्रजा के सुख दुःख में साथी होता है, ईश्वरांश माने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता। वह प्रजा के जीवन से दूर बैठा हुआ, उसमें किसी प्रकार का योग न देनेवाला खिलौना या पुतला नहीं है। प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का—त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का—प्रतिबिंब उसमें देखती है।

राजा के पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन को देखने की मजाल प्रजा को थी—देखने की ही नहीं, उस पर टीका-टिप्पणी करने की भी। राजा अपने पारिवारिक जीवन में भी यदि कोई ऐसी

बात पावे जो प्रजा को देखने में अच्छी न लगती हो, तो उसका सुधार आदर्श-रक्षा के लिये कर्त्तव्य माना जाता था। सती सीता के चरित्र पर दोषारोप करनेवाले धोबी का सिर नहीं उड़ाया गया; घोर मानसिक व्यथा सहकर भी उस दोष के परिहार का यत्न किया गया। सारांश यह कि माता, पिता, सेवक और सखा के साथ भी जो व्यवहार राजा का हो, वह ऐसा हो जिसकी उच्चता को देख प्रजा प्रसन्न हो, धन्य धन्य कहे। जिस प्रीति और कृतज्ञता के साथ महाराज रामचंद्र ने सुग्रीव, विभीषण और निषाद आदि को विदा किया, उसे देख प्रजा गद्गद हो गई—

रघुपति चरित देखि पुरवासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥

राजा की शील-शक्ति के प्रभाव के वर्णन में गोस्वामी जी ने कवि-प्रथा के अनुसार कुछ अतिशयोक्ति भी की ही है—

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

काव्य-पद्धति से परिचित इसे पढ़कर कभी यह सवाल नहीं करेंगे कि मृगों का मारना छोड़ सिंह क्या घास खाकर जीते थे?

देखिए, राजकुल की महिलाओं के इस उच्च आदर्श का प्रभाव जनता के पारिवारिक जीवन पर कैसा सुखद पड़ सकता है—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा-बिधि गुनी॥
निज कर गृहपरिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥

जिस वर्णाश्रम धर्म का पालन प्रजा करती थी, उसमें ऊँची-नीची श्रेणियाँ थीं; उसमें कुछ काम छोटे माने जाते थे, कुछ बड़े। फावड़ा लेकर मिट्टी खोदनेवाले और कलम लेकर वेदांतसूत्र लिखनेवाले के काम एक ही कोटि के नहीं माने जाते थे। ऐसे दो काम अब भी एक दृष्टि से नहीं देखे जाते। लोक-दृष्टि उनमें भेद कर ही लेती है। इस भेद को किसी प्रकार की चिकनी चुपड़ी भाषा या पाखंड नहीं मिटा सकता। इस भेद के रहते भी—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग॥

छोटे समझे जानेवाले काम करनेवाले बडे काम करनेवालों को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से क्यों नहीं देखते थे? वे यह क्यों नहीं कहते थे कि 'हम क्यों फावडा चलावें, क्यों दूकान पर बैठें? भूमि के अधिकारी क्यों न बनें? गद्दी लगाकर धर्म-सभा में क्यों न बैठें?' समाज को अव्यवस्थित करनेवाले इस भाव को रोकनेवाली पहली बात तो थी समाज के प्रति कर्त्तव्य के भार का नीची श्रेणियों में जाकर क्रमशः कम होना। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिये अपने व्यक्तिगत सुख को हर घडी त्याग करने के लिये तैयार रहना पडता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पडती थी। क्षत्रियों को अवसर विशेष पर अपना सर्वस्व-अपने प्राण तक-छोड़ने के लिये उद्यत होना पडता था। शेष वर्गों को अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख की व्यवस्था के लिये सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था। अतः उच्च वर्गों में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ अधिक कठिन कर्त्तव्यों की योजना और निम्न वर्गों में कम मान और कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवन-निर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी।

जब तक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी—कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या द्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता। जब तक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धनजन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तब तक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा।

जब कर्त्तव्य-भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार-भाग ज्यों का त्यों रहेगा, तब स्थिति-विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी। ऊँची श्रेणियों के अधिकार-प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवन-निर्वाह में कठिनता दिखाई देगी। वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें। रामराज्य में सब अपनी स्थिति में प्रसन्न थे—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥
सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

इतनी बड़ी जनता के पूर्ण सुख की व्यवस्था साधारण परिश्रम का काम नहीं है; पर राजा के लिये वह आवश्यक है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

ऊँची श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' इस समय महात्मा बना हुआ है। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है। मूर्ख जनता के इस माहात्म्य-प्रदान पर न भूलना चाहिए, यह बात गोस्वामी जी साफ़ साफ़ कहते हैं—

तुलसी भेड़ी की धँसनि, जड़ जनता-सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान॥

जड़ जनता के सम्मान का पात्र वही होगा जो उसके अनुकूल कार्य्य करेगा। ऐसा कार्य्य लोकमंगलकारी कभी नहीं हो सकता। जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कलाकौशल, बलबुद्धि के असामान्य उत्कर्ष

की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नहीं होगा। रूस से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्पशक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करनेवाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है। परिस्थिति विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो, उसे हमारे यहाँ के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं।

गोस्वामी जी ने कलिकाल का जो चित्र खींचा है, वह उन्हींके समय का है। उसमें उन्होंने 'साधारण धर्म' और 'विशेष धर्म' दोनों का ह्रास दिखाया है। साधारण धर्म के ह्रास की निंदा तो सब को अच्छी लगती है, पर विशेष धर्म के ह्रास की निंदा—समाज-व्यवस्था के उल्लंघन की निंदा—आजकल की अव्यवस्था को अपने महत्व का द्वार समझनेवाले कुछ लोगों को नहीं सुहाती। वे इन चौपाइयों में तुलसीदास जी की संकीर्ण-हृदयता देखते हैं—

निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर संपति नासी। मूँड मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

पर इसी प्रसंग में गोस्वामी जी के इस कथन को वे बड़े आनंद से स्वीकार करते हैं—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥

गोस्वामी जी कट्टर मर्य्यादावादी थे, यह पहले कहा जा चुका है। मर्य्यादा का भंग वे लोक के लिये मंगलकारी नहीं समझते थे।

मर्य्यादा का उल्लंघन देखकर ही बलराम जी वरासन पर बैठकर पुराण कहते हुए सूत पर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रों के प्रति यदि धर्म और न्याय का पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामी जी उनके कर्म को ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। यह पहले कहा जा चुका है कि वर्ण-विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं है, भाव-विभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिये भी वे समाज में छोटी बड़ी श्रेणियों का विधान आवश्यक समझते थे। इन भावों के लिये आलंबन ढूँढ़ना एक दम व्यक्ति के ऊपर ही नहीं छोड़ा गया था। इनके आलंबनों की प्रतिष्ठा समाज ने कर दी थी। समाज में बहुत से ऐसे अनुन्नत अंतःकरण के प्राणी होते हैं, जो इन आलंबनों को नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूल रूप से यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य्य करता है, अतः वह तुम्हारी दया का पात्र है, अमुक वर्ग इस कार्य्य के लिये नियत है, अतः वह तुम्हारी श्रद्धा का पात्र है। यदि उच्च वर्ग का कोई मनुष्य अपने धर्म से च्युत है, तो उसकी विगर्हणा, उसके शासन और उसके सुधार का भार राज्य के या उसके वर्ग के ऊपर है, निम्न वर्ग के लोगों पर नहीं। अतः लोक-मर्य्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोगों का धर्म यही है कि उस पर श्रद्धा का भाव रखें; न रख सकें तो कम से कम प्रकट करते रहें। इसे गोस्वामी जी का Social discipline समझिए। इसी भाव से उन्होंने कहा है—

पूजिय विप्र सील-गुन-हीना। सूद्र न गुनगम ग्यान प्रवीना॥

जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते है। जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा से क्या मतलब जो कहता है—

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

काकभुशुंडि की जन्मांतरवाली कथा द्वारा गोस्वामी जी ने प्रकट

कर दिया है कि लोक-मर्य्यादा और शिष्टता के उल्लंघन को वे कितना बुरा समझते थे। काकभुशुंडि अपने शूद्र-जन्म की बात कहते हैं—

एक बार हरि-मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुरु आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
गुरु दयालु नहिं कछु कहेउ उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस॥
मंदिर माँझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपालु उर सम्यक बोधा॥
तदपि साप हठि देइहउँ तोहीं। नीति-बिरोध सुहाइ न मोहीं॥
जौं नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ स्रुति-मारग मोरा॥

श्रुति-प्रतिपादित लोकनीति और समाज के सुख का विधान करनेवाली शिष्टता के ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट संप्रदायों की उच्छृंखलता, बड़ों के प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे?

ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़े के बीच कैसा व्यवहार वे उचित समझते थे, यह चित्रकूट में वशिष्ठ और निषाद के मिलने में देखिए—

प्रेमपुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

केवट अपनी छोटाई के विचार से वशिष्ठ ऐसे ऋषीश्वर को दूर ही से प्रणाम करता है, पर ऋषि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देकर उसे बार बार गले लगाते हैं। वह हटता जाता है, वे उसे 'बरबस' भेंटते हैं। इस उच्चता से किस नीच को द्वेष हो सकता है? यह उच्चता किसे खलनेवाली हो सकती है?

काकभुशुंडि-वाले मामले में शिव जी ने शाप देकर लोकमत की रक्षा की और काकभुशुंडि के गुरु ने कुछ न कहकर साधुमत*

---

* उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करहिं भलाई॥

का अनुसरण किया। साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिये है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्मभावना के भीतर है। चित्रकूट में भरत की ओर से वशिष्ठ जी जब सभा में प्रस्ताव करने उठते हैं, तब राम से कहते हैं—

भरत विनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

अब तक जो कुछ कहा गया, उससे गोस्वामी जी व्यक्तिवाद (Individualism) के विरोधी और लोकवाद (Socialism) के समर्थक से लगते हैं। व्यक्तिवाद के विरुद्ध उनकी ध्वनि स्थान स्थान पर सुनाई पड़ती है; जैसे—

(क) मारग सोइ जा कहँ जो भावा।

(ख) स्वारथ-सहित सनेह सब, रुचि-अनुहरत अचार।

पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकांड तांडव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके; अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिये कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे। राजा-प्रजा, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शास्य-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेक रूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव), वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है; क्योंकि इन संबंधों के सम्यक् निर्वाह से ही वे सब का कल्याण मानते हैं। इन संबंधों की उपेक्षा करनेवाले व्यक्ति-प्राधान्य-वाद के वे अवश्य विरोधी हैं।

समाज के इस आदर्श व्यवस्था के बीच स्त्रियों और शूद्रों का स्थान क्या है, आजकल के सुधारक इसका पता लगाना बहुत ज़रूरी समझेंगे। उन्हें यह जानना चाहिए कि तुलसीदास जी कट्टर मर्य्यादावादी थे, कार्य्यक्षेत्रों के प्राचीन विभाग के पूरे समर्थक थे। पुरुषों की अधीनता में रहकर गृहस्थी का कार्य्य सँभालना ही वे स्त्रियों के लिये बहुत समझते थे। उन्हें घर के बाहर निकालनेवाली स्वतंत्रता को वे बुरा समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियों पर था जैसी कि साधारणतः पाई जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयी की ओर नहीं। उन्हें गार्गी और मैत्रेयी बनाने की चिंता उन्होंने कहीं प्रकट नहीं की है। हाँ, भक्ति का अधिकार जैसे सब को है, वैसे ही उनको भी। मीराबाई को लिखा हुआ जो पद (विनय का) कहा जाता है, उससे प्रकट होता है कि 'भक्तिमार्ग' में सब को उत्साहित करने के लिये वे तैयार रहते थे। इसमें वे किसी बात की रिआयत नहीं रखते थे। रामभक्ति में यदि परिवार या समाज बाधक हो रहा है, तो उसे छोड़ने की राय वे बेधड़क देंगे—पर उन्हीं को जिन्हें वे भक्तिमार्ग में पक्का समझेंगे। सब स्त्रियाँ घरों से निकलकर वैरागियों की सेवा में लग जायँ, यह अभिप्राय उनका कदापि नहीं। स्त्रियों के लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिए जो 'ऋषि-वधू' ने 'सरल मृदु बानी' से सीता जी को दिया था।

उन पर स्त्रियों की निंदा का महापातक लगाया जाता है; पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिये किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सब रूपों में स्त्रियों की निंदा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दांपत्य-रति के आलंबन के रूप में, की है;—माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री-जाति के प्रति उन्हें कोई द्वेष

नहीं था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निंदा उन्होंने की है, वह अधिकतर तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिये; और कुछ लोक की अत्यंत आसक्ति को कम करने के विचार से। उन्होंने प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिये कुछ न कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओं के लिये हैं, कुछ साधारण गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पंडितों के लिये। अतः स्त्रियों को जो स्थान स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिये उन्हें वैसा ही मान लेना चाहिए। किसी वस्तु से विरक्त करना जिसका उद्देश्य है, वह अपने उद्देश्य का साधन उसे बुरा कहकर ही कर सकता है। अतः स्त्रियों के संबंध में गोस्वामी जी ने जो कहा है, वह सिद्धांत-वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है। पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इस युक्ति का अवलंबन गोस्वामी जी ऐसे उदार और सरल-प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुख सकता है। स्त्रियों से काम उत्पन्न होता है, धन से लोभ उत्पन्न होता है, प्रभुता से मद उत्पन्न होता है; इसलिये काम, मद, लोभ आदि से बचने की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये वैराग्य का उपदेश देनेवाले कंचन, कामिनी और प्रभुत्व की निंदा कर दिया करते हैं। बस इसी रीति का पालन बाबा जी ने भी किया है। वे थे तो वैरागी ही। यदि कोई संन्यासिनी अपनी बहिनों को काम क्रोध आदि से बचने का उपदेश देने बैठे तो पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब ...श्रित करके की खान' कह सकती है! पुरुष-पतंगों के लिये गो... विशद और स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रक... की ओर आप से के लिये वह पुरुषों को भाड़ कहेगी। ...र भी जिसका हृदय

सिद्धांत और अर्थवाद में भेद न समझने ... हैं। वे कहते हैं—

जी की बहुत सी उक्तियों को लेकर लोग परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं। वे प्रसंग विशेष में कवि के भीतरी उद्देश्य की खोज न करके केवल शब्दार्थ ग्रहण करके तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे एक स्थान पर वे कहते हैं—

"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥"

फिर दूसरे स्थान पर कहते हैं—

"नीच निचाई नहिं तजैं जो पावैं सतसग।"

इनमें से प्रथम उक्ति सत्संग की महिमा हृदयंगम कराने के लिये कही गई है और दूसरी उक्ति नीच या शठ की भीषणता दिखाने के लिये। एक का उद्देश्य है सत्संग की स्तुति और दूसरी का दुर्जन की निंदा। अतः ये दोनों कथन सिद्धांतरूप में नहीं हैं, अर्थवाद के रूप में हैं। ये पूर्ण सत्य नहीं हैं, आंशिक सत्य हैं जिनका उल्लेख कवि, उपदेशक आदि प्रभाव उत्पन्न करने के लिये करते हैं। काव्य का उद्देश्य शुद्ध विवेचन द्वारा सिद्धांत-निरूपण नहीं होता, रसोत्पादन या भावसचार होता है। बुद्धि की क्रिया की कविजन आंशिक सहायता ही लेते हैं।

अब रहे शूद्र। समाज चाहे किसी ढंग का हो, उसमें छोटे काम करनेवाले तथा अपनी स्थिति के अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील, और शक्ति रखनेवाले कुछ न कुछ रहेंगे ही। ऊँची स्थितिवालों के लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थितिवालों के लिये बड़ी स्थितिवालों के यह अपराध और सम्मान प्रदर्शित करना भी। नीची श्रेणी के लोग उनका वैरागी से उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणी के लोगों का अपमान उन्होंने नहीं की हो, तो व्यावहारिक दृष्टि से उनका किसी काम रति के आलंबन के विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि रूप में नहीं। इससे कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामा-

.क मूल्य कुछ भी नहीं। ऊँची नीची श्रेणियाँ समाज में बराब—प
थीं और बराबर रहेंगी। अतः शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य
का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यंत न्यून का
बोधक मानना चाहिए। इतनी न्यूनताओं को अलग अलग न लिख
कर वर्ण-विभाग के आधार पर उन सब के लिये एक शब्द का
व्यवहार कर दिया गया है। इस बात को मनुष्य-जातियों का अनु-
संधान करनेवाले आधुनिक लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि
वन्य और असभ्य जातियाँ उन्हीं का आदर सम्मान करती हैं जो
उनमें भय उत्पन्न कर सकते हैं। यही दशा गँवारों की है। इस बात
को गोस्वामी जी ने अपनी इस चौपाई में कहा है—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

लोग इतना चिढ़ते हैं। चिढ़ने का कारण है 'ताड़न'
शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने
गया है। 'स्त्री' का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता
ी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।

शील-साधना और भक्ति

लोकमर्य्यादा पालन की ओर जनता का ध्यान दिलाने के साथ
ही गोस्वामी जी ने अंतःकरण की सामान्य से अधिक उच्चता
सम्पादन के लिये शीलोत्कर्ष की साधना का जो अभ्यास-मार्ग
मानव हृदय के बीच से निकाला, वह अत्यंत आलोकपूर्ण और आक-
र्षक है। शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलंबन
स्थिर करके उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके
दिखा दिया। उन्होंने राम के शील का ऐसा विशद और
मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आप से
आप आकर्षित हो। ऐसे शील-स्वरूप को देखकर भी जिसका हृदय
द्रवीभूत न हो, उसे गोस्वामी जी जड़ समझते हैं। वे कहते हैं—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतो न अनत समाउ॥
कह्यौ राज बन दियो नारि-बस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यौं निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यौ पवन सुत आउ।
देबे को न कछू ऋनिया हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव बिभीषन तिन न तज्यो छल छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत-जस बरनत सुनत कहत "फिरि गाउ"॥

इस दया, इस क्षमा, इस सकोच-भाव, इस कृतज्ञता, इस विनय, इस सरलता को राम ऐसे सर्व-शक्ति-संपन्न आश्रय में जो लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शील और शक्ति के इस संयोग में मनुष्य ईश्वर के लोकपालक रूप का दर्शन करके गद्गद हो जाता है। जो गद्गद न हो, उसे मनुष्यता से नीची कोटि में समझना चाहिए। असामर्थ्य के योग में इन उच्च वृत्तियों के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। राम में शील की यह अभिव्यक्ति आकस्मिक नहीं—अवसर विशेष की प्रवृत्ति नहीं—उनके ...व के अंतर्गत है, इसका निश्चय कराने के लिये बाबा जी उसे

'सिसुपन' से लेकर अंत तक दिखाते हैं। यह सुशीलता राम के स्वरूप के अंतर्गत है। जो इस शीलस्वरूप पर मोहित होगा, वही राम पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो सकता है।

भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौंदर्य्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-पंडित, राजा-रंक सब उस पर अपने हृदय को बिना प्रयास अड़ा देते हैं। इसकी स्थापना गोस्वामी जी ने राम के रूप-माधुर्य्य का अत्यंत मनोहर चित्रण करके की है। शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्रामवधुओं की दशा देखिए—

(क) तुलसी रही हैं ठाढ़ी, पाहन गढ़ी सी काढ़ी,
कौन जानै कहाँ तें आई, कौन की, को ही॥

(ख) वनिता वनी स्यामल गौर के बीच
बिलोकहु री सखि! मोहिं सौ ह्वै।
मग जोग न, कोमल क्यों चलिहैं?
सकुचाति मही पद पंकज छ्वै।
तुलसी सुनि ग्रामबधू विथकीं
पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप,
अनूप हैं भूप के वालक द्वै॥

यह सौंदर्य्य उन भोली स्त्रियों की दया को कैसा आकर्षित करता है। वे खड़ी खड़ी पछताती हैं कि—

पायँन तो पनही न, पयादेहि क्यों चलिहैं सकुचात हियो है।

ऐसी अनंत रूपराशि के सामीप्य-लाभ के लिये उसके प्रति सुहृद्-

पहले कहा जा चुका है कि शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा भगवान् का व्यक्त या सगुण स्वरूप है। इनमें से सौंदर्य्य और शील भगवान् के लोकपालन और लोकरंजन के लक्षण हैं और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है। जिस शक्ति की अनंतता पर भक्त केवल चकित होकर रह जायगा, ज्ञानी उसके मूल तक जाने के लिये उत्सुक होगा। ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है, अतः ज्ञान के प्रति यह औत्सुक्य भी ईश्वर ही के प्रति है। यह औत्सुक्य भी भक्ति के समान एक 'भाव' ही है, या यों कहिए कि भक्ति का ही एक रूप है—पर एक ऐसे कठिन क्षेत्र की ओर ले जानेवाला जिसमें कोई विरला ही ठहर सकता है।

ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत, खगेस ! होइ नहिं वारा।

जो इस कठिन ज्ञानपथ पर निरंतर चला जायगा, उसी को अंत में "सोऽहमस्मि" का अनुभव प्राप्त होगा। पर इस "सोऽहमस्मि" की अखंड वृत्ति तक प्राप्त होने की कठिनता गोस्वामी जी ने बड़ा ही लंबा और पेचीला रूपक बाँधकर दिखाई है। इस तत्व की सम्यक् प्राप्ति के पहले सेव्य-सेवक भाव का त्याग अत्यंत अनर्थकारी और दोषजनक है। इसी से गोस्वामी जी सिद्धांत करते हैं कि—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय, उरगारि !

भक्ति और ज्ञान का तारतम्य अत्यंत गूढ़ और रहस्यपूर्ण उक्ति द्वारा गोस्वामी जी ने प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिवर्ग जानहिं, सब कोऊ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि ! यह रीति अनूपा ॥

ज्ञान पुरुष अर्थात् चैतन्य है और भक्ति सत्त्वस्थ प्रकृति स्वरूपा है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि 'ज्ञान' बोधवृत्ति और भक्ति रागात्मिका वृत्ति है। बोधवृत्ति राग के द्वारा आक्रांत हो सकती है, पर एक राग दूसरे राग को दूर रखता है। सत्त्वस्थ राग यदि दृढ़

हो जायगा तो राजस और तामस दोनों रागों को दूर रखेगा। रागात्मिका वृत्ति को मार डालना तो बात ही बात है। अतः उसे एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए—ऐसी जगह टिका देना चाहिए जहाँ से वह न लोकधर्म के पालन में, न शील की उच्च साधना में और न ज्ञान के मार्ग में बाधक हो सके। इसके लिये भगवान् के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है जिसमें शील, शक्ति, और सौंदर्य्य तीनों परमावस्था को प्राप्त होते हैं—

राम काम सत कोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
मरुत कोटि सत विपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सो सीतल समन सकल भव-त्रास॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधर्ष भगवंत॥

यद्यपि कथा के प्रसंग में राम विष्णु के अवतार ही कहे गए हैं, पर भक्त की अनन्य भावना में वे देव-कोटि से भी परे हैं—

विष्णु कोटि सम पालन-करता।
रुद्र कोटि सत सम संहरता॥

इस नाम-रूपात्मक जगत् के बीच परमार्थ तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पूरा पूरा निरूपित नहीं हो सकता। ऐसे निरूपण में अज्ञान का लेश अवश्य रहेगा; या यों कहिए कि अज्ञान ही के सहारे वह बोधगम्य होगा। अज्ञान् अर्थात् दृश्य जगत् के शब्दों में ही यह निरूपण होगा—चाहे निषेधात्मक ही हो। निषेध मात्र से स्वरूप तक पहुँच नहीं हो सकती। हम किसी का मकान ढूँढ़ने में हैरान हैं। कोई हमें मकान दिखाने के लिये ले चले और दुनियाँ भर के मकानों को दिखाता हुआ "यह नहीं है" "यह नहीं है" कहकर बैठ जाय तो हमारा क्या संतोष होगा? प्रकृति के विकार अतःकरण की क्रिया के स्वरूप को ही। अधिकतर हम ज्ञान या शुद्ध-

चैतन्य का स्वरूप समझा-समझाया करते हैं। अतः अज्ञान-रहित ज्ञान वात ही वात है। इसी से गोस्वामी जी ललकारकर कहते हैं कि जो अज्ञान बिना ज्ञान या सगुण बिना निर्गुण कह दे, उसके चेले होने के लिये हम तैयार हैं—

> ग्यान कहै अग्यान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
> निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु, तुलसी दास॥

हमारा ज्ञान भी अज्ञान-सापेक्ष है। हमारी निर्गुण भावना भी सगुण भावना की अपेक्षा रखती है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश की भावना अंधकार की भावना की अपेक्षा रखती है। मानव-ज्ञान के इस सापेक्ष स्वरूप को देखकर आजकल के बड़े बड़े विज्ञान-विशारद इतनी दूर पहुँचकर ठिठक गए हैं। आगे का मार्ग उन्हें दिखाई ही नहीं पडता।

तर्क और विवाद को भी गोस्वामी जी एक व्यसन समझते हैं। उसमें भी एक प्रकार का स्वाद या रस होता है। इस प्रकार के अनेक रस इस संसार में हैं। कोई किसी रस में मग्न है, तो कोई किसी में—

> जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि।
> रस—गुन—दोष विचारिबो रसिक रीति पहिचानि॥

तुलसीदास जी तो सब रसों को छोड़ भक्तिरस की ओर झुकते हैं और अपनी जीभ से वाद-विवाद का स्वाद छोडने को कहते हैं—

> वाद-विवाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।

इस रामभक्ति के द्वारा ज्ञानियों का साध्य मोक्ष आप से आप बिना इच्छा और प्रयत्न के प्राप्त हो सकता है—

> राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

ज्ञानपक्ष में जाकर गोसाईं जी का सिद्धांत क्या है, इसका पता पाने के पहले यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि स्थान स्थान पर [illegible] ज्ञान का भी सन्निवेश किया है, पर अपने लिये उन्होंने

कोई एक सिद्धांत-मार्ग स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया है। पहली बात तो यह है कि जब वे भक्तिमार्ग के अनुगामी हो चुके, तब ज्ञानमार्ग ढूँढने के लिये तर्क-वितर्क का प्रयत्न क्यों करने जाते? दूसरा कारण उनकी सामंजस्य-बुद्धि है। साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य्य के अनुयायी थे ही जिनका निरूपित सिद्धांत भक्तों की उपासना के बहुत अनुकूल दिखाई पड़ा। उपनिषद् प्रतिपादित "सोऽहमस्मि" और "तत्त्वमसि" आदि अद्वैत वाक्यों की पारमार्थिकता में विश्वास रखते हुए भी—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई॥

कहकर मायावाद का स्वीकार करते हुए भी, कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत मत का आभास उन्होंने दिया है, जैसे—

ईश्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन, अमल, सहज, सुखरासी॥
सो मायावस भयेउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

शुद्ध ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदों से रहित है। किसी वस्तु का अंश उसका स्वगत भेद है; अतः जीव को ब्रह्म का अंश कहना (ब्रह्म-हीन कहना) अद्वैत मत के अनुकूल न होकर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल है जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। चित् (जीव) और अचित् (जगत्) दोनों ईश्वर के अंग या शरीर हैं। ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीवों और जगत् की उत्पत्ति हुई है। इससे यह लक्षित होता है कि परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं। गरुड़ के ईश्वर और जीव में भेद पूछने पर काकभुशुंडि कहते हैं—

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन-खानी।
परबस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक, एक श्रीकंता॥

इतना भेद करके वे परमार्थ-दृष्टि से अद्वैत पक्ष पर आते हुए कहते हैं कि ये भेद यद्यपि मायाकृत हैं—परमार्थतः सत्य नहीं हैं—पर इन्हें मिटाने के लिये ईश्वर को स्वामी मानकर भक्ति करनी पड़ेगी।

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥

व्याप्य व्यापक की यह एकत्व भावना भी विशिष्टाद्वैत के अधिक अनुकूल जान पड़ती है—

जो कछु बात बनाइ कहौं, तुलसी तुम में, तुमहूँ उरमाहीं ।
जानकी-जीवन जानत हौ हम हैं तुम्हरे, तुम में सक नाहीं ॥

इसी प्रकार इस नीचे के वाक्य से भी 'अद्वैत' से असंतोष व्यंजित होता है—

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने ।

अंत में इस संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि तुलसीदास जी भक्तिमार्गी थे, अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों को ढूंढना नहीं ।

तुलसीदास जी की भावुकता

कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं । रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्यात्याग और पथिक के रूप में वनगमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप और भरत की प्रतीक्षा । इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है क्योंकि इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है । एक सुंदर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और फिरने से अधिक और मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है।

इस दृश्य का गोस्वामी जी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यंत सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्रामवधुओं का सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ राम-जानकी के अनुपम सौन्दर्य्य पर स्नेहशिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तान्त सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती हैं। सौन्दर्य्य के साक्षात्कार से थोड़ी देर के लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, वे अपने को भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धि की जननी है—

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी॥
राम लषन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफल होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥

एक देखि बटछाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं "गँवाइअ छिनुक स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात ?"

राम जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामी जी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार रामचंद्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियों को गुरु के सपुर्द कर रहे हैं; सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग में पशु पक्षी भी विकल हैं। भरत जो जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्रीहत दिखाई पड़ीं, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि रामगमन का संवाद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ

भी वृत्त ज्ञात नहीं था। इससे हम सर-सरिता के श्रीहत होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोग में विकल पड़े हैं। सर-सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ? पर यह अर्थ हमारे आप के लिये है। गोस्वामी जी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है; आठ आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है! 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं।

राम बासथल बिटप बिलोके।
उर अनुराग रहत नहिं रोके॥

मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं कि राम किस बन में हैं। जो कहता है कि हम उन्हें सकुशल देखे आते हैं, वह उन्हें राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रियसंबंधी आनंद के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार से उस आनंद का जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओं से पहले राम कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिले। क्यों? क्या उसे चिढ़ाने के लिये? कदापि नहीं। कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलने की सब से अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखाने के लिये नहीं, उसके परितोष के लिये। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी, वह राम ही के दूर किए हो सकती थी, और किसी के किए नहीं। उन्होंने माताओं से मिलते समय स्पष्ट कहा था—

अंब! ईस आधीन जग काहु न देइय दोषु।

कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकार के संदेह का स्थान

गोस्वामी जी ने नहीं रखा। कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत नहीं। स्वभावगत भी होती तो भी राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने में समर्थ थी।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।
कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई।
महि न बीचु, बिधि मीचु न देई॥

जिस समाज के शील-संदर्भ की मनोहारिणी छटा को देख वन के कोल-किरात मुग्ध होकर सात्त्विक वृत्ति में लीन हो गए, उसका प्रभाव उसी समाज में रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पड़ता ?

(क) भए सब साधु किरात किरातिनि रामदरस मिटि गइ कलुषाई।
(ख) कोल किरात भिल्ल बनवासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधासी॥
भरि भरि परन पुटीरुचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद-भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु, मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥

और सब से पुलकित होकर कहते हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे।
देब काह हम तुम्हहिं गोसांई। ईंधन पात किरात मिताई॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीवघनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
सपनेहुँ धरम-बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन-दरस प्रभाऊ॥

उस पुण्यसमाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्मज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूट की उस सभा की कार्रवाई क्या थी, धर्म के एक एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी।

रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी। यह संभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्म गांभीर्य्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली। भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाज में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचनपटुता के साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे बड़े की मर्य्यादा का किस सरलता के साथ पालन होता है! सब की इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें, पर उनके स्थान पर भरत बन को जाँय, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं, पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्य-पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खंडित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं।

इस प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची नीची श्रेणियों के बीच कितने संबंधों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का संबंध लीजिए। अयोध्या की सारी

प्रजा अपना सब काम-धंधा छोड़ भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यहीं काट दें।

(२) भरत का अपने बड़े भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्तिभाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सब का आधार ही है।

(३) ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट करते सकुचाते हैं।

(४) राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले, वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है।

(५) विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनक जो यह हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही।

(६) भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार उन्हीं पर छोड़ते हैं।

(७) सीता जी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं। इतने में रात हो जाती है और वे असमंजस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मनमाहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

पति तपस्वी के वेश में भूशय्या पर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाठबाट के बीच रहे, यही असमंजस की बात है।

(८) जबसे कौशल्या आदि आई हैं, तबसे सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती है।

(९) ब्राह्मणवर्ग के प्रति राजवर्ग के आदर और सम्मान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसी ही ब्राह्मण-वर्ग में राज्य और लोक के हितसाधन की तत्परता झलक रही है।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिंगन करने में उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है।

(११) वन्य कोल किरातों के प्रति सब का कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं! इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिंदी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरत बालक राम लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं जिसके भीतर आत्मावलं-बन का विकाश होता है। फिर आचार्य्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीताराम के परम पवित्र दांपत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरांत अयोध्या त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदनंतर पथिक वेशधारी राम-जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्त्विक प्रेम का अनुभव

करते हैं जिसे हम दांपत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है।

रमणीय वन पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तन करते पाकर वे "वीरभोग्या वसुंधरा" की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीताहरण पर विप्रलंभ-शृंगार का माधुर्य्य देखकर पाठक फिर लंकादहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांत रस का पुट तो बीच बीच में बराबर मिलता ही है। हास्य रस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके नारदमोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव जीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामी जी के महत्त्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल वहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी लक्षण-ग्रंथों में गिनाए हुए नवरसों और अलंकारों पर अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी मनुष्य-जीवन [illegible] बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके, वह राम[illegible] की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव दश[illegible] सन्निवेश आप से आप हो गया। ठीक है, पर उन सब [illegible] यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भावप्रसार[illegible]चमुच बड़ा [illegible]पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्दशक्ति की [illegible]तर महत्त्व [illegible] [illegible]कता। मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ [illegible]मुख वह [illegible] [illegible] हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतन[illegible] [illegible] भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौं- [illegible] है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण [illegible] तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता

है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता तुलसीदास जी के हृदय में बिंब-प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।

गोस्वामी जी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते? भावों के साधारण उद्गार से ही सब की तृप्ति नहीं हो सकती। यह बात अवश्य है कि जो भाव सब से अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यंजना सब से अधिक गूढ़ और ठीक है। जो प्रेमभाव अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है। वह घन और चातक का प्रेम है।

> एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
> एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

अपना उद्देश्य वह आप ही है। उसकी प्यास, उसकी उत्कंठा सदा बनी रहे, इसीमें उसकी मर्य्यादा है, इसीमें उसका महत्त्व है—

> चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
> प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि॥

के लाख दुर्व्यवहार से भी वह हटनेवाला नहीं है—

> रषि परुष पाहन पयद पख करौ टुक टूक।
> सी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥

> ल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
> चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर?

घ के लोकहितकर स्वरूप के प्रति आप से आप है—वह जगत् के हित को देखकर है—

> जीव चराचर जहँ लग हैं सब को हित मेह।
> तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥

जगत् में सब अपने सुख के लिये अनेक साधन और यत्न करते हैं और फलप्राप्ति से सुखी होते हैं। फिर चातक और मेघ का यह प्रेम कैसा है जिसके भीतर न किसी सुख का साधन है, न फल की चाह! यह ऐसा ही कुछ है—

साधन साँसति सब सहत, सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि-बूझि बुध काहु॥

चातक को मेघ का जीवों को सुख देना अत्यंत प्रिय लगता है। वह जो बारहो महीने चिल्लाता रहता है, सो अधिकतर प्रिय के इस सुखदायक मनोहर रूप के दर्शन के लिये, केवल स्वाति की दो बूँदों के लिये नहीं—

जाँचै बारह मास पियै पपीहा स्वाति-जल।

उसकी याचना के भीतर जगत् की याचना है, अतः इस याचना से उसका मान है। इस माँगने को वह अपना माँगना नहीं समझता—

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को बारिद बिनु देइ॥

अब इस प्रेम की अनन्यता का स्वरूप देखिए—

चरग चंगुगत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहै पुहमी नीर॥
बध्यो बधिक, पर्यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक-प्रेम-पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

चातक का प्रिय लोक-सुखदायी है। उसका मेघ सचमुच बड़ा है और सब के लिये बड़ा है। अतः चातक के प्रेम के भीतर महत्त्व की आनंदमयी स्वीकृति छिपी हुई है। इस महत्त्व के सम्मुख वह जो दीनता प्रकट करता है वह सच्ची दीनता है, हृदय के भीतर अनुभव की हुई दीनता है, प्रेम की दीनता है। किसी के महत्त्व की सच्ची अनुभूति से उत्पन्न दीनता से भिन्न दीनता को लोभ भय आदि का बदला हुआ रूप समझिए। जिससे बड़ा चातक और किसी को

जीवन-यात्रा में श्रान्त पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेम-मार्ग निराला नहीं है, जीवन-यात्रा के मार्ग से अलग होकर जानेवाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटों पर फूल बिछाता है। राम-जानकी को नंगे पाँव चलते देख ग्रामवासी कहते हैं—

जौ जगदीस इनहिं बन दीन्हा।
कस न सुमनमय मारग कीन्हा ? ॥

थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग 'सुमनमय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जंगल में भी मगल था। सीता को तो सहस्रों अयोध्या का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ॥
सियमन रामचरन अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरंग विहंगा ॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिवर। असम अमिय सम कंदमूल फर॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवनयात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति बन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंदमूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य-जीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। प्रिय के प्रयत्नों में ऐसे ही स्वाभाविक सहयोग की अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—

आगि लागि घर जरिगा, बड सुख कीन।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन ॥

दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग विहग' अपने परिवार

के भीतर जान पड़ते थे। उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल पौधों को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाते हुए भी दुःख होता था।

सीताहरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते हैं जिसमें बल और पराक्रम अपनी परमावस्था को पहुँचकर अनीति और अत्याचार का ध्वंस कर देता है। वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवानेवाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों को बैठे बैठे रुलानेवाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतरवानेवाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्ति-पूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा सा लगता है।

हनुमान के प्रकट होने के पहले जानकी उद्विग्न होकर कह रही थीं—

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहिं जानि हतभागी॥
सुनिय विनय मम बिटप अशोका। सत्य नाम करु हरु मम शोका॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जिनि करहि निदाना॥

इतना कहते ही हनुमान का मुद्रिका गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर हाथ में लेना गोस्वामी जी का ही वस्तु-विन्यास-कौशल प्रकट करता है; क्योंकि वाल्मीकि रामायण में इसका कोई उल्लेख ही नहीं है। हनुमान को सामने पाकर सीता उसी मर्यादा के साथ अपने वियोग-जनित दुःख की व्यंजना करती हैं जिस मर्य्यादा के साथ माता पुत्र के सामने कर सकती है। वे

पहले 'अनुजसहित' राम का (अकेले राम का नहीं) कुशल पूछती हैं; फिर कहती हैं–

कोमलचित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक?
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥

प्रिय के कुशलमंगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओं के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख में है या दुःख में है, यह संशय विरह में दया या करुण भाव का हलका सा मेल कर देता है। भारत की कुलवधू का विरह आवारा आशिकों-माशूकों का विरह नहीं है, वह जीवन के गांभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नहीं है जिसमें विरही अपना ही जलना और मरना देखता है, प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

पवित्र दांपत्य-रति की कैसी मनोहर व्यजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है जब ग्राम-वनिताओं ने मार्ग में राम को दिखाकर उनसे पूछा था कि "ये तुम्हारे कौन हैं?"

कोटि मनोज लजावनहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर-बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

कुलवधू की इस अल्प व्यंजना में जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेम-प्रलाप में कहाँ?

शोक का चित्रण भी गोस्वामी जी ने अत्यंत हृदय-द्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसीवर्णित रामचरित में दो हैं— तो अयोध्या में राम-वनगमन का प्रसंग और दूसरा लंका में

लक्ष्मण को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दुःख फैला, वह शोक ही माना जायगा; वह प्रिय का प्रवास-जन्य दुःख मात्र नहीं है। अभिषेक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है–

कैकयिनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहिं सुख अवसर दुख दीन्ह॥

अतः परिजनों और प्रजा का दुःख राम की दुःख-दशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नहीं—

राम चलत अति भयेउ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥

यह विषाद (जो शोक का संचारी है) और यह आर्त्तनाद शोकसूचक है। प्रिय के दुःख वा पीड़ा पर जो दुःख हो, वह शोक है; प्रिय के कुछ दिनों के लिये वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर जो दुःख लोगों को हुआ, वह शोक और वियोग दोनों है।

"तुलसी राम वियोग-सोक बस समुझत नहिं समुझाए"

वियोगी और शोकसूचक वाक्य यद्यपि मिले हुए हैं, पर हम चाहें तो उन्हें अलग करके भी देख सकते हैं। शुद्ध वियोग—

जब जब भवन विलोकति सूनो।
तब तब विकल होति कौसल्या, दिन दिन प्रति दुख दूनो॥
अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो माई?
स्याम-तामरस नयन स्रवत जल काहि लेहुँ उर लाई*?

शोक या करुणा की व्यंजना इस प्रकार के वाक्यों में समझिए–

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन बसहिं विपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस सहि छाती॥
राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ।
ते अब फिरत विपिन पदचारी। कंदमूल फल फूल अहारी॥

---

*यद्यपि वनगमन के समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखाने के लिये गोस्वामी जी ने कौशल्या के मुख से ऐसा ही कहलाया है।

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है। उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन में पाठकों को करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
घोर जंतु सम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान, परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
बिधि कैकयी किरातिनी कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥

गोस्वामी जी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शोक है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्यमात्र हो सकते हैं, क्योंकि यह ऐसे आलंबन के प्रति है जिसके थोडे से दुःख को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणार्द्र हो सकते हैं।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप है। इस विलाप के भीतर शोक की व्यंजना अत्यत स्वाभाविक रीति से की गई है। उसके प्रवाह में एक क्षण के लिये सारे नियम-व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है—

जौ जनतेउँ बन बंधु-बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

भावदशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पाषंड धारण करनेवाले, इसे चरित्रग्लानि समझेंगे या कहेंगे। पर ऐसे प्रिय बंधु का।शोक जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिये सब बातों का विचार छुड़ा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पडती

जो भक्तों की आशा का अवलंब है ? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है। नियमों से निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अंत में भक्ति मार्ग में जाकर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया। भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है, वह क्षमा, दया, उदारता, इत्यादि का अनंत समुद्र है। लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है, वह उसी समुद्र का एक विंदु है।

"आत्मग्लानि" का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामी जी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कवि ने कहीं दिखाया हो। आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्विक अंतःकरण में ही हो सकता है; अतः भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है ? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना संबंध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से। भरत जी को ग्लानि थी तो दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी। जिन राम का उन पर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आए, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दुःख उनके लिये असह्य था। इस दु:ख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि को वे हृदय में न रख सके—

को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर वन रघुवरकेतू। मैं केवल सब अनरथ-हेतू॥
धिग् मोहिं भयउँ वेनुवन आगी। दुसह-दाह-दुख-दूषन - भागी॥

वे रह रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफ़ाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकता—

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वैहौं ।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?
क्यों हौं आज होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?
महिमा मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बाँची ?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै ?
दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै ?

कैकेयी को सामने पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

(क) जो पै कुरुचि रही अति तोहीं। जनमत काहे न मारेसि मोहीं ॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जियन-हित बारि उलीचा ॥
जब तैं कुमति! कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
बर माँगत मन भई न पीरा। गरि न जीह, मुँह परेऊ न कीरा ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ?
भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोहीं ?

(ख) ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो,री ?
"राम जाहु कानन" कठोर तेरे कैसे धौं हृदय रह्यो री ?
दिनकर बंस, पिता दसरथ से राम लखन से भाई।
जननी ! तू जननी तो कहा कहौं ? बिधि केहि खोरि न लाई ?
"हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो।"
कुल-कलंक मल-मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ?
ऐहैं राम सुखी सब ह्वैहैं, ईस अजस मेरो हरिहैं ?
तुलसीदास मो को बड़ो सोच, तू जनम कौन विधि भरिहै ?

एक वार तो संसार की ओर देखकर भरत जी अयश छूटने से निराश होते हैं; पर फिर उन्हें आशा बँधती है और वे कैकेयी से कहते हैं कि ईश मेरा तो अयश हरेंगे, मैं तो मुँह दिखाने लायक हो जाऊँगा; पर तू अपने दिन कैसे काटेगी ? वे समझते हैं कि राम के

आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा। उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते।

परिहरि राम सीय जगमाही। कोउ न कहहि मोर मत नाहीं॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है! वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके; और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे! भरत की आशा का एक मात्र आधार यही विश्वास है। कौशल्या के सामने जिन वाक्यों द्वारा वे अपनी सफ़ाई देते हैं, उनके एक एक शब्द से अंतःकरण की स्वच्छता झलकती है। उनकी शपथ उनकी अंतर्वेदना की व्यंजना है—

जे अघ मातु, पिता, सुत मारे। गाय गोठ महिसुर-पुर जारे॥
जे अघ तिय बालक वध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीने॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम वचन-मन-भव कवि कहहीं॥
ते पातक मोहिं होहु विधाता। जौं एहु होइ मोर मत, माता!

इस सफ़ाई के सामने हज़ारों वकीलों की सफ़ाई कुछ नहीं है, इन क़समों के सामने लाखों क़समें कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।

हास्य रस का एक अच्छा छींटा नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है। नारद जी बंदर का मुँह लेकर स्वयंवर की सभा में एक राजकन्या को मोहित करने बैठे हैं—

काहु न लखा सो चरित विसेखा। सो सरूप नृप-कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न विलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

गोस्वामी जी का यह हास भी मर्यादा के साथ है, 'स्मित' हास

है, बड़े लोगों का हास है। उस पर भी उद्देश्य-गर्भित है, निरा हास ही हास नहीं है। यह मोह और अहंकार छुड़ाने का एक साधन है। इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का सा कृत्रिम नहीं है।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो, तो सुंदर कांड में एक लंबी पूँछ के बंदर को पूँछ में लुक बाँधकर नाचते हुए और राक्षसों के लडकों को ताली बजा बजाकर कूदते हुए देखिए। थोड़ी देर वहीं ठहरने पर ऐसा भयानक और वीभत्स कांड देखने को मिलेगा, जो भुलाए न भूलेगा। कवितावली में लंकादहन का बड़ा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है। देखिए, कैसा आवेगपूर्ण भय है—

(क) "लागि, लागि आगि" भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े "बारि बारि" बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात, तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं॥

(ख) लपट कराल ज्वालजाल-माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात तू निबाहि रे।
प्रिया तू पराहि, नाथ! तू पराहि,
बाप, बाप! तु पराहि, पूत, पूत! पराहि रे।
तुलसी बिलोकि लोग ब्याकुल बिहाल कहैं,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे"।

इसी लंकादहन के भीतर यह वीभत्स कांड सामने आता है—

हाट बाट हाटक पिघलि घी सो घनो,
कनक कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्ही भली भाँति भाय सों।

पिशाचिनियों और डाकिनियों की वीभत्स क्रीड़ा का जो कवि-प्रथानुसार वर्णन है, वह तो है ही, जैसे—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूँड़ के कमंडलु, खपर किए कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठी सो समरसरि खोरि कै।
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै।

क़वाइद की पूरी पाबंदी के साथ बहुत थोड़े में रौद्र रस का उदाहरण देखना हो, तो यह देखिए—

माथे लखन कुटिल भईं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें॥
रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥

इसमें अनुभाव भी है, अमर्ष संचारी भी है। संभव है, कुछ लोगों को "रिसौहें" शब्द के कारण 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष दिखाई पड़े; पर अनुभाव आदि द्वारा पूर्ण व्यंजना हो जाने पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं कहा जा सकता।

युद्धवीर के उदाहरणों से तो सारा लंकाकांड भरा पड़ा है। 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष को पहुँची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रचंड है। वीररस का वर्णन-कौशल उन्हों ने तीन शैलियों के भीतर दिखाया है—प्राचीन राजपूत काल के चारणों की छप्पयवाली ओजस्विनी

शैली के भीतर, इधर के फुटकरिए कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर; और अपनी निज की गीतिकावाली शैली के भीतर। नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन वरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर वज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट "जयति राम, जय" उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत॥

(२) दबकि दबोरे एक, बारिधि में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे, कर चरन उखारे, एक
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखत राम रावन, बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं॥

(३) भए क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥
मंदोदरी उर—कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे॥

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुभंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यंत वीरोल्लास-पूर्ण है। जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु भानुकुल-कमल-भानु! जौ अब अनुसासन पावौं।
का बापुरो पिनाकु? मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं॥

देखौ निज किंकर को कौतुक, क्यों कोदंड चढ़ावौं। पर
लै धावौं, भंजौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुज कहावौं॥

धनुष टूटने पर—

डिगति उर्बि अति गुर्बि, सर्ब पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर बिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो॥

धनुर्भंग के इस वर्णन में प्रश्न यह उठता है कि इसमें प्रदर्शित 'उत्साह' का आलंबन क्या है? प्रचलित साहित्य-ग्रंथों में देखिए तो युद्धवीर का आलंबन विजेतव्य ही मिलेगा। यह विजेतव्य शत्रु या प्रतिपक्षी ही हुआ करता है। अतः यहाँ विजेतव्य धनुष ही हो सकता है। पर पृथ्वी पर पड़ा हुआ जड़ धनुष मनुष्य के हृदय में उठाने या तोड़ने का उत्साह किस तरह जाग्रत करेगा, यह समझते नहीं बनता है। वह तो पड़ा पड़ा ललकार नहीं रहा है। यदि किसी मनुष्य में इतना साहस और बल है कि वह बड़ी बड़ी चट्टानो को उठा सकता है, तो पहाड़ पर जाकर उसकी क्या दशा होगी? अतः हमारी समझ में उत्साह का आलंबन कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की व्याकुलता देख कार्य्य-तत्परता की मूर्ति हनुमान कहते हैं—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं॥
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुज कहावौं॥
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं॥

शैली के भीतर; इधर के फुटकरिए कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर, और अपनी निज की गीतिकावाली शैली के भीतर। नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत ।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत ॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत ।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत ॥
लंगूर लपेटत पटकि भट " जयति राम, जय " उच्चरत ।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत ॥

(२) दबकि दबोरे एक, वारिध में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं ।
पकरि पछारे, कर चरन उखारे, एक
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं ॥
तुलसी लखत राम रावन, बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चडिका सिहात हैं ।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं ॥

(३) भए क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे ॥
मंदोदरी उर—कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे ।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे ॥

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुर्भंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यंत वीरोल्लास-पूर्ण है। जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु भानुकुल-कमल-भानु ! जौ अब अनुसासन पावौं ।
का बापुरो पिनाकु ? मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं ॥

जैसे भौंरा जो वार वार मुँह के पास जाता है, वह मानो मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामी जी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐस भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं। फिर ध्यान जाता कैसे? सीता के संवंध में राम लोकध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोकधुनि घर घरनि वूझी आइ॥

मर्य्यादास्तंभ राम लोकमत पर सीता को वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आँखों में आँसू भरे लौट रहे हैं। उस अवसर पर—

दीनवंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति वचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि॥

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गंभीर-हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं वलि आपुही कीवी विनय समुझि सुधारि।
जौ लौं हौं सिखि लेउँ वन ऋषि रीति वसि दिन चारि॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
वहुरि तिहि विधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥
लखन लाल कृपाल! निपटहिं डारिवी न विसारि।
पालवी सव तापसनि ज्यों राजधर्म विचारि॥
सुनत सीता वचन मोचत सकल लोचन—वारि।
वालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि॥

काव्य के भाव-विधान में जिस 'उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद-व्यंजक ही होगी—यथार्थ में 'उदासीनता' नहीं होगी।

मिलती हैं जिनमें से किसी किसी को लेकर और उन पर एक साथ कई प्रौढ़ोक्तियाँ लादकर पिछले खेवे के कवियों ने एक भद्दी इमारत खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है, जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानी उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञानशाकुंतल में भौंरा शकुंतला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

"सलिल सेसंभमुग्गदो, णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ"

हमारे लाला भिखारीदास जी ने इस उक्ति को पकड़ा और उसके ऊपर यह भारी भर कम ढाँचा खड़ा कर दिया—

आनन है अरविंद न फूले, अलीगन ! भूले कहा मंडरात हौ।
कीर कहा तोहि बाई भई भ्रम बिंब के ओठन को ललचात हौ॥
दास जू ब्याली न, बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलति बाल न बाजत बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥

ऐसे संकट में पड़ी हुई नायिका शायद ही कहीं दिखाई पड़े। भ्रमर-बाधा तक तो कोई चिंता की बात नहीं। पर उसके ऊपर यह शुकबाधा, मयूरबाधा और मृगबाधा देख तो हाथ पर हाथ रखकर बैठ ही रहना पड़ेगा।

बहुत लोगों ने देखा होगा कि भौंरे आदमी के पीछे अकसर लग जाते हैं, कान और मुँह के पास मँड़राया करते हैं और हटाने से जल्दी हटते नहीं। इसी बात पर स्त्रियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेश में होता है, तब उसका सँदेसा कहने के लिये भौंरे आकर कान के पास मँड़राया करते हैं। अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियों में जो सौंदर्य है, वह हमें अतिशयोक्ति में न दिखाई देकर स्वाभावसिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य हेतूत्प्रेक्षा में दिखाई पड़ता है।

जैसे भौंरा जो वार वार मुँह के पास जाता है, वह मानो मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामी जी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं। फिर ध्यान जाता कैसे? सीता के संबंध में राम लोकध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोकधुनि घर घरनि बूझी आइ॥

मर्य्यादास्तंभ राम लोकमत पर सीता को बन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आँखों में आँसू भरे लौट रहे हैं। उस अवसर पर—

दीनवंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति वचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि॥

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गंभीर-हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं वलि आपुही कीवी बिनय समुझि सुधारि।
जौ लौं हौं सिखि लेउँ बन ऋषि-रीति बसि दिन चारि॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
वहुरि तिहि विधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥
लखन लाल कृपाल! निपटहिं डारिबी न विसारि।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधर्म विचारि॥
सुनत सीता वचन मोचत सकल लोचन—वारि।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि॥

काव्य के भाव-विधान में जिस 'उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद-व्यंजक ही होगी—यथार्थ में 'उदासीनता' नहीं होगी।

उसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिए। कैकेयी को समझाते समय मंथरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यंजना गोस्वामी जी ने बड़ी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मंथरा को कैकेयी बुरा भला कहती है, तब वह कहती है—

हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब की रानी॥

हिन्दी कवियों में तुलसी ऐसे भावुक के सिवा इस गूढ़ भाव तक और किसकी पहुँच हो सकती है? और कौन ऐसे उपयुक्त पात्र में और ऐसे उपयुक्त अवसर पर उसका निधान कर सकता है? इस "उदासीनता" के भाव का आविष्कार उन्हीं का काम था। सूरदास ने इसका कुछ आभास मात्र यशोदा के उस सँदेसे में दिया है जो उन्होंने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास भेजा था—

सँदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

'आश्चर्य्य' को लेकर कविजन 'अद्भुत रस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य्य से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण हम, 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्य्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने दोनों (Wouder और Surprise) में भेद किया है। आश्चर्य्य किसी विलक्षण बात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो, और जो एकाएक हो जाय। जैसे, किसी दूर देश में रहनेवाले मित्र को सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं। राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—

बाँधे वननिधि? नीरनिधि? जलधि? सिन्धु? बारीस?
सत्य, तोयनिधि? कंपती? उदधि ?पयोधि? नदीस?

यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसी का मरना सुनकर चकपका कर पूछना—"अरे कौन? रामप्रसाद के बाप? माताप्रसाद के लड़के? शिवप्रसाद के भाई? अमुक स्टेट के मैनेजर?" इस भाव का प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामी जी सब भावों को अपने अंतःकरण में देखनेवाले थे, केवल लक्षण-ग्रंथों में देखकर उनका संन्निवेश करनेवाले नहीं।

दूसरों का उपहास करते तो आपने बहुत लोगों को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य की उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है? गोस्वामी जी ने उस पर भी ध्यान दिया है। उनकी अंतर्दृष्टि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम बन बन विलाप करते फिरते हैं; मृग उन्हें देखकर भागते हैं; और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं। इस पर राम कहते हैं—

हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कँह भय नाहीं॥
तुम आनंद करहु मृगजाए। कंचनमृग खोजन ये आए॥

कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिंदा है!

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। कवि ने मृगों के ही भय का क्यों नाम लिया? मृगियों को भय क्यों नहीं था? बात यह है कि आखेट की यह मर्य्यादा चली आती है कि मादा के ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालों में यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामी जी का लोक-व्यवहार-परिचय प्रकट होता है।

देखिए 'श्रम' की व्यंजना किस कोमलता के साथ गोस्वामी जी करते हैं। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली हैं—

(क) पुर तें निकसी रघुबीर-वधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।

झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै?"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

(ख) "जल को गए लक्खन हैं लरिका,
परिखौ, पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े"।
तुलसी रघुबीर प्रियास्रम जानि कै,
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकीनाह को नेह लख्यो,
पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यजना कैसी मनोहर है! यह 'श्रम' स्वतंत्र है, किसी और भाव का संचारी होकर नहीं आया है।

इस प्रसंग को समाप्त करने का वादा शायद अभी किया जा चुका है। बस, दो बातें और कहनी हैं। कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पाक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक संबंध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है और कहीं (२) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है, जैसे, अन्योक्ति में। गोस्वामी जी ने दोनों प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है।

(१) प्रथम पद्धति का अवलंबन ऐसी स्थिति को अंकित करने में होता है जिसके अंतर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक सामान्य शब्द हुआ करता है; जैसे अत्याचार, दैन्य, दुःख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अंतर्गत डाँटने डपटने से लेकर मारना पीटना, जलाना, स्त्री-बालकों की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाज़े पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना ये सब गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सब से अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सब का उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयंगम करा देता है। गोस्वामी जी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो?
हा हा करि दीनता कही, द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि, खोलि खलन आगे खिनु खिनु पेट
खलायो।

इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदास जी सचमुच द्वार द्वार पेट खलाते और डाँट-फटकार सुनते फिरा करते थे।

कहीं राजा राम के द्वार पर खड़े अपनी दीनता का चित्र आप देखते हैं—

राम सों बड़ो है कौन, मो सों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो?

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई। दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामी जी में पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं। इस भाव-रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण-पद्धति को न समझनेवाले ऊपर के

पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदास जी बड़े भारी मंगन थे, हटाने से जल्दी हटते नहीं थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतंत्र आलोचना' का ऐसा स्थूल और भद्दा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्त्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामी जी कहते हैं—

खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई।

इस पर यदि कोई कह दे कि तुलसीदास जी बड़े भारी बेहया थे, तो उसकी क्या दवा है?

तुलसीदास जी को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है कि "जानत जहान मन मेरे हू गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं" तब प्रेमाधिक्य से वे कुछ मुँहलगे हो जाते हैं और कभी कभी ऐसी बातें भी कह देते हैं—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एते॥

पर ऐसी गुस्ताख़ी कभी नहीं करते कि "आपने करम भव-निधि पार करौं जौ तो हम करतार, करतार तुम काहे के?"

देखिए, संसार की अशान्ति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप में चुनकर वे अंकित करते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न, नाथ! नींद भरि सोयो।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर, उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामी जी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यों की परख का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेमभाव का उत्कर्ष दिखाने के लिये उन्होंने चातक और मीन को पकड़ा है। दोहावली के भीतर

चातक की अन्योक्तियाँ प्रेमी भक्तों के हृदय का सर्वस्व हैं। यही चातकता और मीनता वे जीवन भर चाहते रहे–"करुणानिधान! वरदान तुलसी चहत सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता।" अन्योक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय में चुभनेवाला दृश्य लाकर खड़ा कर देते हैं। इससे प्रस्तुत विषय के संबंध में जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता है, वह भाव थोड़ी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है। प्रासादों में सुख से रहनेवाली सीता बन में कैसे रह सकेगी?

नव-रसाल-बन विहरन-सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला॥

शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण

रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में आने पर फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबंध-कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिंदी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता। चारण-काल के चंद आदि कवियों ने भी प्रबंध-रचना की है; पर उसमें चरित्र-चित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया गया है, वीरोल्लास ही प्रधान है। जायसी आदि मुसलमान कवियों की प्रबंध-धारा केवल प्रेम-पथ का निदर्शन करती गई है। दोनों प्रकार के आख्यानों में मनोविकारों के इतने भिन्न भिन्न प्रकृतिस्थ स्वरूप नहीं दिखाई पड़ते जिन्हें हम किसी व्यक्ति या समुदाय विशेष का लक्षण कह सकें।

रस-संचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफ़ी होती है। पर किसी पात्र में उसे शील

रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और रावण ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है।

पहले राम को लीजिए और इस बात का ध्यान रखिए कि प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उनका जीवन दिखाया गया है, और किसी पात्र का नहीं। भिन्न भिन्न मनोविकारों को उभारनेवाले जितने अधिक अवसर उनके सामने आए हैं, उतने और किसी पात्र के सामने नहीं। लक्ष्मण भी प्रत्येक परिस्थिति में उनके साथ रहे, इससे उनके संबंध में भी यही कहा जा सकता है। सारांश यह कि राम लक्ष्मण के चरित्रों का चित्रण आख्यान के भीतर सबसे अधिक व्यापक होने के कारण सबसे अधिक पूर्ण है। भरत का चरित्र जितना अंकित है, उतना सब से उज्वल, सबसे निर्मल और सबसे निर्दोष है। पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अंकित नहीं है। राम से भी अधिक जो उत्कर्ष उनमें दिखाई पड़ता है, वह बहुत कुछ चित्रण की अपूर्णता के कारण—उतनी अधिक परिस्थितियों में उसके न दिखाए जाने के कारण जितनी अधिक परिस्थितियों में राम-लक्ष्मण का चरित्र दिखाया गया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जिस परिस्थिति में भरत दिखाए गए हैं, उससे बढ़कर शील की कसौटी हो ही नहीं सकती।

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों " ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर रहकर

अस्त्र-शिक्षा प्राप्त की तथा विघ्नकारी विकट राक्षसों पर पहले पहल अपना बल आज़माया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था में ही ऐसे विकट प्रवास के लिये जिनकी धड़क खुलती हमने देखी, उन्हीं को पीछे चौदह वर्ष वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए जगत् को क्षुब्ध करनेवाले कुंभकर्ण और रावण ऐसे राक्षसों को मारते हुए हम देखते हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियों के बीच वीर-जीवन का विकाश होता है, उनकी परंपरा का निर्वाह हम क्रम से रामचरित में देखते हैं। राम और लक्ष्मण ये दो अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनों पात्रों में नहीं कर सकते। पर सीता के स्वयंवर में दोनों भाइयों के स्वभाव में जो पार्थक्य दिखाई पड़ा उसका निर्वाह हम अंत तक पाते हैं। जनक के परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गंभीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं, वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गंभीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता। सारे अवध-वासियों को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कु-अवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू॥

और तुरंत इस अनुमान पर उनकी त्योरी चढ़ जाती है—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥

पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा संदेह होता ही नहीं है। अपनी सुशीलता के बल से उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरंत समझाते हैं—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥
भरतहि होइ न राज-मद बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ ॥

सुमंत जब राम लक्ष्मण को विदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचंद्र जी अत्यन्त प्रेम-भरा सँदेसा पिता से कहने को कहते हैं जिसमें कहीं से खिन्नता या उदासीनता का लेश नहीं है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सब बिधि सोइ करतव्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे ॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने में आकर बनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवशता की ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत न थी कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हें रोका और सारथी से बहुत बिनती की कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना।

पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥
सकुचि राम निज सपथ दिवाई। लषन-सँदेसु कहिय जनि जाई ॥

यह 'सकुचि' शब्द कितना भाव-गर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाज-बद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता, अपने कुटुम्बी, इष्टमित्र या साथी के भद्दे आचरण पर भी होता है। पुत्र की करतूत सुनकर पिता का सिर नीचा होता है, भाई की करतूत सुनकर भाई का। इस बात का अनुभव तो

हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसी से बात चीत करते समय भद्दे या अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है, तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह संकोच राम की सुशीलता और लोकमर्यादा का भाव व्यंजित करता है। मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र ऐसे ही कवि के हाथ में पड़ने योग्य था।

सुमंत ने अयोध्या लौटकर राजा से लक्ष्मण की कही हुई बातें तो न कहीं, पर इस घटना का उल्लेख बिना किए उससे न रहा गया। क्यों ? क्या लक्ष्मण से उससे कुछ शत्रुता थी ? नहीं। राम के शील का जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदय में न रख सका। सुशीलता के मनोहर दृश्य का प्रभाव मानव अंतःकरण पर ऐसा ही पड़ता है। सुमंत को राम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ, पर उस शील-सौंदर्य की झलक अपने ही तक वह न रख सका, दशरथ को भी उसे उसने दिखाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अंतिम झलक ने राजा को और भी उस मृत्यु के पास तक पहुँचा दिया होगा जो आगे चलकर दिखाई गई है। इसे कहते हैं घटना का सूक्ष्म क्रम-विन्यास।

राम और लक्ष्मण के स्वभाव-भेद का बस एक और चित्र दिखा देना काफ़ी होगा। समुद्र के किनारे खड़े होकर समुद्र से विनय करते करते राम को तीन दिन बीत गए। तब जाकर राम को क्रोध आया और "भय बिनु होइ न प्रीति" वाली नीति की ओर उनका ध्यान गया। वे बोले—

लछिमन बान-सरासन आनू। सोखउँ बारिधि बिसिख-कृसानू॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

जिसके बाण खींचते ही "उठी उदधि उर-अंतर ज्वाला" उसने पहले तीन दिनों तक हर एक प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया

जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ। विनयवाली नीति उन्हें पसंद न थी। एक बार,दो बार कह देना ही वे काफ़ी समझते थे।

वाल्मीकि ने राम के बनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण का महा क्रोध वर्णन किया है। पर न जाने क्यों वहाँ तुलसीदास जी इसे बचा गए हैं।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार बार इसलिये मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी ग्लानि दूर हो। वे बार बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। अपने साथ बुराई करनेवाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ, जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत हो गया था कि शील का संस्कार उस पर सब दिन के लिये जम सकता था। गोस्वामी जी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयी जौ लौं जियति रही।
तौलौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही।
मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही॥

इतने पर भी कहीं गाँस रह सकती है?

गार्हस्थ्य जीवन के दाम्पत्य भाव के भीतर सब से मनोहर वस्तु है उनकी 'एक भार्या' की मर्यादा। इसके कारण यहाँ से वहाँ तक जिस गौरवपूर्ण माधुर्य का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वचनीय है। इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा।

को सबसे अधिक वश में करनेवाला राम का गुण है शरणा-

गत की रक्षा। अत्यंत प्राचीन काल से ही शरण-प्राप्त की रक्षा करना भारतवर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है। इस विषय में भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य जगत् में थी। सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् दारा जब भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारों ने विश्वासघात करके उसे मार डाला। उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप वरजयंत था। जब सिकंदर ने दंड देने के लिये इन तीनों विश्वासघातियों का पीछा किया, तब वरजयंत ने भारतवासियों के यहाँ आकर शरण ली और बच गया। प्राचीन यहूदियों के एक जत्थे का गांधार और दक्षिण में शरण पाना प्रसिद्ध है। इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्य-धर्म की रक्षा के लिये भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया; क्योंकि शरणागत की रक्षा यहाँ प्राण देकर की जाती थी। अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बड़ा भारी पाप माना जाता है—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहिं विलोकत हानि॥

शरणागत की रक्षा की चिन्ता रामचंद्र के हृदय से दारुण शोक के समय में भी दूर न हुई। सामने पड़े हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु सुग्रीव! साँचहू मो सन फेर्यो बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं शाखामृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥

राम के चरित्र की इस उज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है वालि को छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसी-दास जी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफ़ेद रंग पोतने का प्रयत्न

किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही सम्पूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य कीसी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते। उनका चरित भी उपदेशक महात्माओं की केवल महत्वसूचक फुटकर बातों का संग्रह होता, मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई बन्धु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुख दुःख भोगकर चले गए। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आए थे, मनुष्यता दिखाने आए थे। भूल चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हें मानव जीवन से तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते हैं।

अब थोड़ा भरत के लोकपावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम की वन-यात्रा के पहले भरत के चरित्र की शृंखला संघटित करनेवाली कोई बात हम नहीं पाते। उनकी अनुपस्थिति में ही राम के अभिषेक की तैयारी हुई, राम वन को गए। नानिहाल से लौटने पर ही उनके शील-स्वरूप का स्फुरण आरम्भ होता है। नानिहाल में जब दुःस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे माता-पिता और भाइयों का मंगल मनाते हैं। कैकेयी के कुचक्र में अणु मात्र योग के सन्देह की जड़ यहीं से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का संवाद सुन वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वन-गमन की बात सामने आती है जिसके साथ अपना संबंध—नाम मात्र का सही—समझकर वे एक दम ठक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ संबंध जोड़नेवाली माता के रूप में नहीं दिखाई देती। थोड़ी देर के लिये उसकी ओर से मातृ-भाव हट सा जाता है। ऐसा उज्वल अन्तःकरण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श

तक सहन नहीं कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे, इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का यह संताप बिना शान्ति-शील-समुद्र राम के सम्मुख हुए दूर नहीं हो सकती। वे चट विरह-व्यथित पुरवासियों को लिए-दिए चित्रकूट में जा पहुँचते हैं और अपना अन्तःकरण भरी सभा में लोकादर्श राम के सम्मुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उसकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस बात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोक-लज्जावश किया? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा सन्ताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्मग्लानि ही उनकी सात्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्मग्लानि के कारण का अनुसंधान करने पर हम उस तत्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्मग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोचकर होती है। भरत जी कोई बुरी बात अपने मन में लाए तक न थे। फिर यह आत्मग्लानि कैसी? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से क्या होता है? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं। आत्मपक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने सम्बन्ध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विकशील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्विक-शीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी

से है, और शील का हृदय से। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अन्तर्गत है। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शील के अंतर्गत हैं। नियम के लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नहीं देखा जाता। केवल नाम की इच्छा रखनेवाला पाषंडी भी नियम का पालन कर सकता है—और पूरी तरह कर सकता है। पर शील के लिये सात्त्विक हृदय चाहिए। कभी कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एक को राह देने से दूसरे का उल्लंघन अनिवार्य हो जाता है। किसी निरपराध को फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा सा झूठ बोल देने से उसकी रक्षा हो सकती है। अतः एक ओर तो दया हमें झूठ बोलने की प्रेरणा कर रही है; दूसरी ओर 'नियम' हमें ऐसा करने से रोक रहा है। इतने भारी शील-साधन के सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है। पर जहाँ शीलपक्ष इतना ऊँचा नहीं है, वहाँ उभयपक्ष की रक्षा का मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

दशरथ के सामने दोनों पक्ष प्रायः समान थे—बल्कि यों कहिए कि नियम की ओर का पलड़ा कुछ झुकता हुआ था। एक ओर तो सत्य की रक्षा थी, दूसरी ओर प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्र का स्नेह। पर पुत्र-वियोग का दुःख दशरथ के ही ऊपर पड़नेवाला था (कौशल्या के दुःख को भी परिजन का दुःख समझकर दशरथ का ही दुःख समझिए)। इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख के डर से सत्य का त्याग उनसे न करते बिना। उन्होंने सत्य की रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख की परमावस्था को पहुँचकर स्नेह की भी रक्षा की। इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनों की रक्षा हो गई। रामचंद्र जी भरत को समझाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं—

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी॥

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय

द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुख रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है। वह धर्म के किसी अंग को नोचकर दिखानेवाला ग्रंथ नहीं है। यह देखकर बारबार प्रसन्नता होती है कि आर्य्य-धर्म का यह सार-संपुट हिन्दी कवियों में से एक ऐसे महात्मा के हाथ में पड़ा जिसमें उसके उद्घाटन की सामर्थ्य थी। देखिए, किस प्रकार उन्होंने राम के मुख से उपर्युक्त विवेचन का सार चौपाई के दो चरणों में ही कहला दिया।

रामायण की घटना के भीतर तो दशरथ का यह महत्व ही सामने आता है। पर कथोपकथन रूप में जो कवि-कल्पित चित्रण है, उसमें वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने दशरथ की अंतर्वृत्ति का कुछ और भी आभास दिया है। विश्वामित्र जब बालक राम-लक्ष्मण को माँगने लगे, तब दशरथ ने देने में बहुत आगापीछा किया। वे सब कुछ देने को तैयार थे, पर पुत्रों को देना नहीं चाहते थे। वृद्धावस्था में पाए हुए पुत्रों पर इतना स्नेह स्वाभाविक ही था। वे मुनि से कहते हैं—

चौथे पन पाएउँ सुत चारी। विप्र वचन नहिं कहेहु विचारी।
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रीय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥

इससे प्रकट होता है कि उनका वात्सल्य स्नेह ऐसा न था कि वे साधारण कारणवश उसकी प्रेरणा के विरुद्ध कुछ करने जाते। मुनि के साथ जो उन्होंने बालकों को कर दिया, वह एक तो शाप के भय से, दूसरे उनकी अस्त्रशिक्षा की आशा से।

उस वृद्धावस्था में वे अपनी छोटी रानी के वश में थे, यह उस घबराहट से प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केहि दुइ सिर, केहि जम चह लीन्हा॥

कहु कहि रंकहि करहुँ नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकासउँ देसू॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन-चंद-चकोरू॥
प्रिया! प्रान, सुत, सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे॥

प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सब को कैकेयी के वश में कहना स्वयं राजा का कैकेयी के वश में होना अभिव्यंजित करता है। एक स्त्री के कहने से किसी मनुष्य को यमराज के यहाँ भेजने के लिये, किसी दरिद्र को राजा बनाने के लिये, किसी राजा को देश से निकालने के लिये तैयार होना स्त्रैण होने का ही परिचय देना है। कैकेयी के सामने जाने पर न्याय और विवेक थोड़ी देर के लिये विश्राम ले लेते थे। वाल्मीकि जी ने भी इसी प्रकार की बातें उस अवसर पर दशरथ से कहलाई हैं।

दशरथ के हृदय की इस दुर्बलता के चित्र के भीतर प्रचलित दाम्पत्य विधान का वह दोष भी झलकता है जिसके पूर्ण परिहार का पथ आगे चलकर मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण द्वारा प्रदर्शित किया। आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अंत में एक ऐसा बे-मोल जोड़ा होता है जो सब मामलों का मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है। एक में तो प्रेम रहता है, दूसरे में स्वार्थ। अतः एक तो दूसरे के वश में हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है। एक तो प्रेमवश दूसरे के सुख संतोष के प्रयत्न में रहा करता है, दूसरा उसके सुख सन्तोष की वहीं तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थ-साधन होता है। राम ने 'एक भार्य्या' की मर्य्यादा द्वारा जिस प्रकार प्रेम के अपूर्व माधुर्य्य और सौंदर्य्य का विकास दिखाया, उसी प्रकार अपने पिता की परिस्थिति से भिन्न अपनी परिस्थिति भी लोक को दिखाई। कैकेयी ने एक बार दशरथ के साथ युद्ध-स्थल में जाकर पहिए में उँगली लगाई थी और उसके बदले में दो बरदान लिए थे, तो सीता चौदह वर्ष राम के साथ जंगलों-पहाड़ों में मारी

मारी फिरी, और उस मारे मारे फिरने को ही उन्होंने अपने लिये बड़ा भारी वरदान समझा। अन्त में जब राजधर्म की विकट समस्या सामने आती है, तब हम राम को ठीक उसका उलटा करने में समर्थ पाते हैं जो दशरथ ने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये कहा था। दशरथ एक मात्र कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये किसी राजा को विना अपराध देश से निकालने के लिये तैयार हुए थे। पर राम प्रजा को प्रसन्न करने के लिये बिना किसी अपराध के प्राणों से भी प्रिय सीता को निकालने को तैयार हुए। दशरथ अपनी स्त्री के कहने से किसी राजा तक को देश से निकालते, पर राम ने एक धोवी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया। इतने पर भी सीता और राम में जो परस्पर गूढ़ प्रेम था, उसमें कुछ भी अंतर न पड़ा। सीता ने स्वामी के इस व्यवहार का कारण राज-धर्म की कठोरता ही समझा। यह नहीं समझा कि राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया।

सात्त्विक, राजस् और तामस् इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामीजी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्त्विक और तामस् दोनों आते हैं। राजस् को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श-चित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्त्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति-भेद-सूचक अनेकरूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान ये सात्त्विक आदर्श हैं, रावण तामस आदर्श है।

सात्त्विक आदर्शों का वर्णन हो चुका। हनुमान के संबंध में इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक भाव का पूर्ण स्फुरण उनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्व परिचय के राम को देखते ही उनके शील, सौन्दर्य्य और शक्ति

के साक्षात्कार मात्र पर मुग्ध होकर पहले पहल आत्म-समर्पण करनेवाले भक्तिराशि हनुमान ही हैं। उनके मिलते ही मानों भक्ति के आश्रय और आलंबन दोनों पक्ष पूरे हो गए और भक्ति की पूर्ण स्थापना लोक में हो गई। इसी रामभक्ति के प्रभाव से हनुमान सब राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

सेवक में जो जो गुण चाहिएँ, सब हनुमान में लाकर इकट्ठे कर दिए गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है निरलसता और तत्परता स्वामी के कार्य्यों के लिये, सब कुछ करने के लिये, उनमें हम हर समय पाते हैं। समुद्र के किनारे सब बंदर बैठे समुद्र पार करने की चिंता कर ही रहे थे, अंगद फिरने का संशय करके आगा पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गए। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी तब वैद्य को भी चट हनुमान ही लाए और ओषधि के लिए भी पवन-वेग से वे ही दौड़े। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य्य-साधन में उसे अपने मान अपमान का ध्यान न रखना चाहिए। अशोक-वाटिका में से पकड़कर राक्षस उन्हें रावण के सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इस पर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगद की तरह "हैं तव दसन तोरिबे लायक" वे नहीं कहते हैं। ऐसा करने से प्रभु के कार्य्य में हानि हो सकती थी। अपने मान का ध्यान करके स्वामी का कार्य्य बिगाड़ना सेवक का कर्त्तव्य नहीं। वे रावण से साफ़ कहते हैं—

मोहिं न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥

जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान् को उन ललकारनेवालों में से था जिसकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। बालकांड में गोस्वामी जी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन करके जिनसे पीड़ित होकर दुनियाँ पनाह माँगती थी, तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसों का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट

करते थे, ऋषियों को यज्ञ आदि नहीं करने देते थे, किसी की कोई अच्छी चीज़ देखते थे तो छीन ले जाते थे और जिनके खाए हुए लोगों की हड्डियों से दक्खिन का जंगल भरा पड़ा था। चंगेज़खाँ और नादिरशाह तो मानों लोगों को उसका कुछ अनुमान कराने के लिये आए थे। राम और रावण को चाहे अहुरमज़्द और अह्रमान समझिए, चाहे खुदा और शैतान। फ़र्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लड़ाई का मैदान इस दुनियाँ से ज़रा दूर पड़ता था और राम-रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।

ऐसे तामस आदर्श में धर्म के लेश का अनुसंधान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँ की पुरानी अक्ल के अनुसार धर्म के कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य्य के साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनों तक पृथ्वी पर रहा। अतः उसमें धर्म का कोई न कोई अंग अवश्य था। वह अंग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता में भी कोई संदेह नहीं है। भाई, पुत्र जितने कुटुँबी थे, सब के मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लड़ता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अंग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिये आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसों के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस-कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक-व्यापकत्व में है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार में धर्म बनाए रखते हैं। लोक-धर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दुःख न पहुँचे; यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगों को पहुँचता है, उससे कम लोगों को। सारांश यह कि रावण में केवल अपने लिये और अपने कुल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज में उस शक्ति का सदुप-योग करनेवाला धर्म नहीं था। रावण पंडित था, तपस्वी था, राज-

नीति-कुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणों का उसने दुरुपयोग किया। उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख में समा गया। सत् से निकलकर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी, वह फिर सत् में विलीन हो गई।

अब सामान्य चित्रण लीजिए। राम के साथ लक्ष्मण का शील-निरूपण कुछ हो चुका है। यहाँ केवल यही कहना है कि उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरों पर भी कोमलता या आर्द्रता न आने दे। सीता को जब वे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ने गए थे, तब वे करुणभाव में मग्न थे। उनके मुँह से कोई बात न निकलती थी। वे राम के बड़े भारी आज्ञाकारी थे। वे अपने हृदय के वेग को सहकर भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। क्रोध उन्हें कटुवचन के लिये उभारता था, पर राम का रुख़ देखते ही वे चुप हो जाते थे। सीता के वनवास की कठोर आज्ञा राम के मुख से सुनते ही वे सूख गए, करुणा से विह्वल हो गए। पर जी कड़ा करके वे सीता को पहुँचा आए। आज्ञाकारिता के लिये वे आदर्श हुए। पर यह नियम भी ऐसे अवसरों पर उन्होंने शिथिल कर दिया जब आज्ञा के पालन में उन्होंने अधिक हानि देखी और उल्लंघन का परिणाम केवल अपने ही ऊपर देखा। इन सब बातों के विचार से उनका चरित्र सामान्य के भीतर ही रखा है।

गृहनीति की दृष्टि से विभीषण शत्रु से मिलकर अपने भाई और कुल का नाश करानेवाले दिखाई पड़ते हैं, पर और विस्तीर्ण क्षेत्र के भीतर लेकर देखने से उनके इस स्वरूप की कलुषता प्रायः नहीं के बराबर हो जाती है। गोस्वामी जी ने इसी विस्तृत दृष्टि से उनके चरित्र का चित्रण किया है। विभीषण रामभक्त थे, अर्थात् सात्विक गुणों पर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे राम के लोक-विश्रुत शील, शक्ति और सौंदर्य्य पर मुग्ध थे। भाई के राज्य के लोभ के कारण वे राम से नहीं मिले थे। इस बात का निश्चय उनके बार

बार तिरस्कृत होने पर भी रावण को समझाते जाने से हो जाता है। यदि उन्हें राज्य का लोभ होता तो वे एक ओर तो रावण को युद्ध के लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर भीतर से शत्रु की सहायता करते। पर वे रावण की लात खाकर खुल्लमखुल्ला राम की शरण में यह कहते हुए गए—

राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालवस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ, देहु जनि खोरि॥

लोभवश न सही, शायद विभीषण भाई के व्यवहार से रूठ कर क्रोधवश राम से जा मिले हों। इस संदेह का निवारण रावण के लात मारने पर विभीषण का कुछ भी क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामी जी ने किया है। लात मारने पर विभीषण इतना ही कहते हैं—

तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।
राम भजे हित, नाथ, तुम्हारा॥ *

इस स्थल पर गोस्वामी जी का चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ी सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिए जाते, तो जिस रूप में विभीषण का चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता। अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोध के आवेश में विभीषण ने रावण का साथ छोड़ा। कवि ने विभीषण को साधु प्रकृति का बनाया है। हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लड़ने के लिये तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी, जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामी जी का पक्ष यह है। विभीषण की साधुता औसत दरजे की थी। वह इतनी बढ़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिए हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।

---

* वाल्मीकि का वर्णन भी इसी प्रकार है।

सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दरजे का है। न उसकी भलाई ही किसी भारी हद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही। राम के साथ उन्होंने मैत्री की और राम का कुछ कार्य्य साधन करने के पहले ही बड़े भाई का राज्य पाया। पर जैसा कि साधारणतः मनुष्य का स्वभाव (बंदर का स्वभाव कहने से और कुछ कहते ही नहीं बनेगा) होता है, वे सुखविलास में फँसकर राम का कार्य्य भूल गए। जब हनुमान ने चेताया, तब वे घबराए और अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्त हुए।

अब तक जिस चित्रण का वर्णन हुआ है, वह एक व्यक्ति का चित्रण है। इसी प्रकार किसी समुदाय-विशेष की प्रकृति का भी चित्रण होता है, जैसे स्त्रियों की प्रकृति का, बालकों की प्रकृति का। स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्या कांड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिन्दी कवि में नहीं पाते। नीची श्रेणी की स्त्रियों के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिये उसे कुछ न कुछ चाहिए। वह ख़ाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेष के अनेक आधार यों ही बिना कारण ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियों के बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोड़े दिनों में देखेंगे कि कुछ तो उनके अनुराग के पात्र हो गए हैं और कुछ द्वेष के। मूर्ख स्त्रियों की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेष का पात्र चुन लेने पर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाक के लिये सहयोगी ढूँढती हैं। मंथरा का इसी अवस्था में हम पहले पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यों कौशल्या अच्छी नहीं लगतीं, कैकेयी लगती हैं *। राम के अभि-

* वाल्मीकि जी ने उसे "कैकेयी के मातृकुल की दासी" कहकर कारण

षेक की तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाए कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाहे रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिलकुल नहीं है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती है। तब—

उतरु देइ नहिं, लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाँड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥

उसकी इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नहीं दिया था; यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयी के लिये बिलकुल नई है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंग से कहे, यह सोचने में उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किए गए दुःख के वेग का भार भी दबाए हुए है। इतने में "गाल बड़ तोरे" इस वाक्य से जी की बात धीरे धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा क़ायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई?

"किसका बल पाकर गाल करूँगी?" इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की पटुता स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, क्योंकि पुरुषों के दबाव

का पूरा संकेत कर दिया है। इस प्रकार की दासी का व्यवहार घर के और लोगों के साथ कैसा रहता है, यह हिन्दू गृहस्थ मात्र जानते हैं। पर गोस्वामी जी ने कारण का संकेत न देकर उसकी प्रवृत्ति को मूर्ख स्त्रियों की सामान्य प्रवृत्ति—नारिचरित—के अंतर्गत रखा है।

में रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, संकोच के कारण ऐसे भावों के वेग को एक-बारगी निकालने का अवसर उन्हें कम मिलता है।

रानी पूछती है कि "सब लोग कुशल से तो हैं?" इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू। जिनहिं जनेसु देइ जुवराजू॥
भयेउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिं न॥

किसी को क्रमशः अपनी भाव-पद्धति पर लाना, थोड़ा बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचार-पद्धति पर लाने के लिये क्रमशः प्रमाण पर प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमशः किसी के हृदय को किसी भाव-पद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है। राम के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न करने के लिये मंथरा सपत्नी को सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमान को न सह सकना स्त्रियों में स्वाभाविक होता है। सपत्नी के घमंड की बात जी में आने पर कहाँ तक ईर्ष्या न उत्पन्न होगी? इस ईर्ष्या के साथ भरत के प्रति वात्सल्य-भाव भी तो कुछ जगाना चाहिए। इस विचार से फिर मथरा कहती है—

पूत बिदेसु न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाहु हमारे॥

इतना होने पर भी राजा की कुटिलता के निश्चय द्वारा जब तक राजा के प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न न होगा, तब तक कैकेयी में आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँ से आवेगी? कैकेयी के मन में यह बात जम जानी चाहिए कि भरत जान बूझकर हटा दिए गए हैं। इसके लिये ये वचन हैं—

नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥

इस पर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार बार उसके खेद का कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसी से उसके परम हित की बात कहना चाहता

है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नहीं देता। उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसर पर स्त्रियों के मुख से निकलते हैं—

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥
फोरइ जोगु कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥
कहहिं झूँठ फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं, करुइ मैं माई॥
हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिनराती॥
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा।

मंथरा अब अपने उस भाग्य को दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई, दासी के घर उसका जन्म हुआ, उसकी बात की कोई कुछ कद्र ही नहीं करता, वह अच्छा भी कहती है तो लोगों को बुरा लगता है। विश्वास न करनेवाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य को दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न करने का एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग, विशेषतः स्त्रियाँ, स्वभावतः काम में लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सचाई पर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यंजना प्रायः 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है; जैसे "हमें क्या करना है? हमने आप के भले के लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसी का अहित देखा नहीं जाता।" मंथरा के कहे हुए खेद-व्यजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही झगड़ा लगानेवाली स्त्री का रूप सामने खड़ा हो जाता है—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी?
जारइ जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिषेक से होनेवाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा

लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नहीं है; पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी, यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहिं तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहँ विपति-बीज विधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥
जौं सुतसहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

इस भावी दृश्य की कल्पना से भला कौन स्त्री क्षुब्ध न होगी? किसी बात पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नहीं होती है। जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य को रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं, सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मंथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने की रुचि भिन्न भिन्न मनोविकारों के उद्दीपन द्वारा कैकेयी में उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंतःकरण भी उसके समर्थन में तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिनि आँख नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने। कहौं न तोहिं मोहबस अपने॥
काह करौं सखि, सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानौं काऊ॥

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन में जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई॥
अरि बस दैव जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीव न चाही॥

इस दशा में मंथरा उसे सँभालती है और कार्य में तत्पर करने के लिये आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जेइ राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥
पूछेउँ गुनिन्ह, रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥

इस प्रसंग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने मानव अंतःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन

किया है। ऐसी गूढ़ उद्भावना बिना सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के नहीं हो सकती।

बालकों की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में पाते हैं। अकारण चिढ़नेवालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है। चिड़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानों समाज ने बालकों ही को दे रखा है। राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्यों ही लक्ष्मण चिढ़ते देखते हैं, त्यों ही उनकी बाल-प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच बीच में क्रोध का भी आभास हमें मिलता है। परशुराम की आकृति जब अत्यंत भीषण और वचन अत्यंत कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यंग्य वचन न निकलकर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं। परशुराम जब कुठार दिखाने लगे, तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और वे बोले—

भृगुवर, परसु देखावहु मोही। विप्र विचारि बचेउ नृप-द्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥

गोस्वामी जी ने लक्ष्मण की इस बाल-वृत्ति को लोक-व्यवहार से बिल्कुल अलग नहीं रखा है, इसे परशुराम की क्रोधशीलता की प्रतियोगिता में रखा है। यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है। यदि परशुराम मुनियों की तरह आते, जो शांत और क्षमाशील होते हैं, तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता। रामचंद्र जी कहते हैं—

जौ तुम अवतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय विप्र उर कृपा घनेरी॥

बाह्य-दृश्य-चित्रण

यहाँ तक तो गोस्वामी जी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का कुछ वर्णन हुआ। अब पदार्थों के बाह्य स्वरूप के निरीक्षण और प्रत्यक्षीकरण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि ये

भी कवि के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। प्रबंधगत पात्र के चित्रण में जिस प्रकार उसके शील-स्वरूप को, उसके अंतस् की प्रवृत्तियों को, प्रत्यक्ष करना पड़ता है, उसी प्रकार उसके अंग-सौष्ठव आदि को भी प्रत्यक्ष करना पड़ता है। यहीं तक नहीं, प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य दिखाने और प्रतिष्ठित करने के लिये उसे वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि अनेक पदार्थों को ऐसी स्पष्टता के साथ अंकित करना पड़ता है कि श्रोता या पाठक का अंतःकरण उनका पूरा बिंब ग्रहण कर सके। इस संबंध में पहले ही यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदास जी में ही।

दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ-ग्रहण कराना नहीं होता, बिंब-ग्रहण कराना भी होता है। यह बिंब-ग्रहण किसी वस्तु का नाम ले लेने मात्र से नहीं हो सकता। आसपास की और वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा। "कमल फूले हैं" "भौंरे गूँज रहे हैं" "कोयल बोल रही है" यदि कोई इतना ही कह दे तो यह चित्रण नहीं कहा जायगा। 'लहराते हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमलनाल निकले हैं जिनके झुके हुए छोरों पर रक्ताभ कमल दल छितराकर फैले हुए हैं' इस प्रकार का कथन चित्रण का प्रयत्न कहा जायगा। यह चित्रण वस्तु और व्यापार के सूक्ष्म निरीक्षण पर अवलंबित होता है। आदि कवि वाल्मीकि तथा कालिदास आदि प्राचीन कवियों में ऐसा निरीक्षण करानेवाली समग्र बाह्य दृष्टि से संयुक्त सहृदयता थी जो पिछले कवियों में बराबर कम होती गई और हिंदी के कवियों के तो हिस्से ही में न आई। उन्होंने तो कुछ इनी-

गिनी वस्तुओं का नाम ले लिया, बस पुरानी रस्म अदा हो गई। फिर भी कहना पड़ता है कि यदि प्राचीन कवियों की थोड़ी बहुत छाया कहीं दिखाई पड़ती है, तो तुलसीदास जी में।

चित्रकूट, पंचवटी आदि स्थानों में गोस्वामी जी राम-लक्ष्मण को ले गए हैं; पर उनके राम-लक्ष्मण में प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों के प्रति वह हर्षोल्लास नहीं है जो वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण में है। वाल्मीकि के लक्ष्मण पंचवटी पर जाकर हेमन्त ऋतु की शोभा का अत्यंत विस्तीर्ण और सूक्ष्म वर्णन करते हैं, उसके एक एक ब्योरे पर ध्यान ले जाते हुए अपनी रागात्मिका वृत्ति को लीन करते हैं; पर गोस्वामी जी के लक्ष्मण बैठकर राम से 'ज्ञान, विराग, माया और भक्ति' की बात पूछते हैं। वाल्मीकि के लक्ष्मण तो जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक का एक एक ब्योरा इस प्रकार आनन्द से सामने ला रहे हैं—

अवश्याय निपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा।
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यंत तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्।
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसा रसा।
हिमार्द्र वालुकैस्तीरैः सरिता भाति साम्प्रतम्।
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाति कमलाकरः।

और तुलसीदास जी के लक्ष्मण राम से यह सुन रहे हैं कि—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥

इतना होने पर भी गोस्वामी जी सच्चे सहृदय भावुक भक्त थे; इस जगत् के 'सियाराममय' स्वरूपों से वे अपने हृदय को अलग कैसे रख सकते थे। जब कि उनके सारे स्नेह-संबंध राम के नाते से थे,

तब चित्रकूट आदि रम्य स्थलों के प्रति उनके हृदय में गूढ़ अनुराग कैसे न होता, उनके रूप की एक एक छटा की ओर उनका मन कैसे न आकर्षित होता? जिस भूमि को देखने के लिये उत्कंठित होकर वे अपने चित्त से कहते थे—

अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।

भूमि बिलोकु राम पद-अंकित बन बिलोकु रघुबर बिहार-थलु।

उसके रूप की ओर वे कैसे ध्यान न देते? चित्रकूट उन्हें कैसे अच्छा न लगता? गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन शुष्क प्रथा-पालन नहीं है, उस भूमि की एक एक वस्तु के प्रति उमड़ते हुए अनुराग का उद्गार है। उसमें कहीं कहीं प्रचलित संस्कृत कवियों का सूक्ष्म निरीक्षण और संश्लिष्ट योजना पाई जाती है; जैसे—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि-भृंगनि॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग॥
मदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भगति के पाछे॥

इस दृश्य की संश्लिष्ट योजना पर ध्यान दीजिए। इसमें यों ही नहीं कह दिया गया है कि 'बादल छाए हैं' और 'बगलों की पाँति उड़ रही है'। मंद मंद गरजते हुए काले बादल गेरू से रँगे (लाल) शृंगों से लगे दिखाई देते हैं और उन शिखरस्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बकपंक्ति दिखाई दे रही है। केवल 'जलद' न कहकर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। वर्ण के उ`_ से "जलद" पद में बिंबग्रहण कराने की जो सामर्थ्य आई

थी, वह रक्ताभ शृंग के योग में और भी बढ़ गई और बगलों की श्वेत पंक्ति ने मिलकर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुएँ—मेघमाला, शृंग और बकपंक्ति—अलग अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना न की गई होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता। तीनों का अलग अलग अर्थ-ग्रहण मात्र हो जाता, बिंबग्रहण न होता। इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिंब देखना भी सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है। अलंकारों पर 'वाह वाह' न कहने पर शायद अलंकार-प्रेमी लोग नाराज़ हो रहे हों; उनसे अत्यंत नम्र निवेदन है कि यहाँ विषय दूसरा है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि गोस्वामी जी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया। गोस्वामी जी हिंदी कवियों की परंपरा से लाचार थे। कहीं कहीं इस प्रकार की संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का जो विधान दिखाई पड़ता है, उसे ऐसा समझिए कि वह उनकी भावमग्नता के कारण आप से आप हो गया है। तुलसीदास जी के पहले तीन कैंड़े के कवि हिंदी में हुए थे—एक तो वीरगाथा गानेवाले पुराने चारण; दूसरे प्रेम की कहानी कहनेवाले मुसलमान कवि; और तीसरे केवल वंशीवट और यमुना-तट तक दृष्टि रखनेवाले पद गानेवाले कृष्णभक्त कवि। इनमें से किसी की दृष्टि विश्वविस्तृत नहीं थी। भक्तिमार्ग के संबंध से तुलसीदास जी का सान्निध्य सूरदास आदि तीसरे वर्ग के कवियों से ही अधिक था। पर उक्त वर्ग में सब से श्रेष्ठ कवि जो सूरदास जी हैं, उन्होंने भी स्थलों और ऋतुओं आदि का जो कुछ वर्णन किया है, वह एक दूसरे भाव के उद्दीपन की दृष्टि से। वर्णन की शैली भी उनकी वही पिछले खेवे के कवियों की है जिसमें गिनाई हुई वस्तुओं का उल्लेख मात्र अलंकारों से लदा हुआ होता है। ऐसी अवस्था में भी गोस्वामी जी की लेखनी से जो कहीं कहीं प्राचीन कवियों के अनुरूप संश्लिष्ट

चित्रण हुआ है, वह उनके हृदय का स्वाभाविक विस्तार प्रकट करता है और उन्हें हिंदी के कवियों में सब से ऊँचे ले जाता है।

पर गोस्वामी जी के अधिकांश वर्णन पिछले कवियों के ढंग पर शब्द-सौन्दर्य्य-प्रधान ही हैं जिनमें वस्तुओं का परिगणन मात्र है, जैसे—

(क) झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिबिध-ताप-हर त्रिबिध बयारी॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥

सरनि सरोरुह जल बिहग कूजत, गुंजत भृंग।
बैर-बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहुरंग॥

(ख) बिटप बेलि नव किसलय, कुसुमित सघन सुजाति।
कंद मूल जलथल रुह अगनित अनवन भाँति॥
मंजुल मंजु, बकुल कुल, सुर तरु, ताल तमाल।
कदलि कदंब सुचंपक पाटल, पनस रसाल॥
सरित सरन सरसीरुह फूले नाना रंग।
गुंजत मञ्जु मधुपगन कूजत बिबिध बिहग॥

पिछले कवियों की शैली पर वर्णन करने में भी वे सबसे बढ़े चढ़े हैं। यह चित्रकूट-वर्णन देखिए—

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनी तटिनि तीर, मञ्जुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर,
जल कन, छन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार बाटिका नृप पंच-बान की॥

इस वर्णन से इस बात का इशारा मिलता है कि गोस्वामी जी ऋतु-वर्णन करने में रीति-ग्रंथों में गिनाई वस्तुओं तक ही नहीं रहते हैं—वे अपनी आँखों से भी पूरा काम लेते हैं। "ऋतुपति" की शोभा के भीतर केवल रीति पर चलनेवाले मोर नहीं लाया करते; पर तुलसीदास जी ने उनकी बोली नहीं बंद की। केवल पद्धति का अनुसरण करनेवाले कवि वर्षाकाल में कोकिल को मौन कर देते हैं। पर तुलसीदास अपने कानों की कहाँ तक उपेक्षा करते? वे गीतावली के उत्तर कांड में हिंडोले के प्रसंग में वर्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमग जनु अनुराग।
पिक, मोरे, मधुप, चकोर चातक सोर उपवन बाग॥

उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि के साथ गुथे वर्णन भी बहुत से हैं, पर उनमें वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख बहुत पूर्ण है। चित्रकूट की वस्तुओं और व्यापारों को लेकर उन्होंने होली का उत्सव खड़ा किया है—

आजु बन्यो है बिपिन देखो रामधीर। मानो खेलत फागु मुद मदनबीर॥
बट बकुल कदंब पनस रसाल। कुसुमति तरु निकर, कुरव तमाल॥
मानो बिबिध वेष धरे छैल जूथ। बिच बीच लता ललना बरूथ॥
पन वानक निर्झर, अलि उपंग। बोलत पारावत मानौ डफ मृदंग॥
गायक सुक कोकिल, झिल्लि ताल। नाचत बहु भाँति बरहि मराल॥

पर उनकी यह उत्प्रेक्षा भी उल्लास-सूचक है। इसी प्रकार भागवत के दृष्टांत—उदाहरण लेकर उन्होंने किष्किंधा कांड में वर्षा और शरद् का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत वस्तु और व्यापार दृष्टांतों के सामने दबे से हैं। श्रोता या पाठक का ध्यान वर्ण्य वस्तुओं की ओर जमने नहीं पाता। फिर भी जहाँ जहाँ स्थल-वर्णन का अवसर आया है, वहाँ वहाँ उन्होंने वस्तुओं और व्यापारों का प्रचुर उल्लेख करते हुए विस्तृत वर्णन किया है। केशवदास के समान नहीं

किया है कि पचवटी का प्रसग आया तो बस "सब जाति फटी दुख की दुबरी" करके और अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने—

सोभत दंडक की रुचि बनी। भाँतिन भाँतिन सुदर घनी ॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै। श्रीफल भूरि भाव जहँ लसै ॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै ॥

अब कहिए, इसमें "श्रीफल" "बेर" और "अर्क" पदों के श्लेष के सिवा और क्या है? चित्रण क्या, यह तो वर्णन भी नहीं है। इसमें "हृदय" का तो कहीं पता ही नहीं है। क्या "बेर" को देखकर भयानक प्रलय काल की ओर ध्यान जाता है और आक को देख प्रलय काल के अनेक सूर्य्यों की ओर? इससे तो साफ़ झलकता है कि पंचवटी क वन-दृश्य से केशव के हृदय का कुछ भी सामजस्य नहीं है। उस दृश्य से उनके हृदय में किसी प्रकार के भाव का उदय नहीं हुआ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों ने वृक्षों आदि के उल्लेख में देश का पूरा ध्यान रक्खा है—जैसे, हिमालय के वर्णन में भूर्ज, देवदारु आदि, दक्षिण के वर्णन में एला, लवग, ताल, नारिकेल, पुंगीफल आदि का उल्लेख है। गोस्वामी जी ने भी देश का ध्यान रक्खा है। चित्रकूट के वर्णन में कहीं एला, लवंग, पुंगीफल का नाम वे नहीं लाए हैं। पर केशवदास जी मगध के पुराने जंगल के वर्णन में, वृक्षों के जो जो नाम याद आए हैं, उन्हें अनुप्रास की बहार दिखाते हुए जोड़ते चले गए हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल वर ॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी सुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै ॥

केशवदास जी ने इस बात का कुछ भी विचार न किया कि

एला, लवंग और पुंगीफल अयोध्या और मिथिला के बीच के जंगलों में होते भी हैं या नहीं।

भिन्न भिन्न व्यापारों में तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण भी रूप-प्रत्यक्षीकरण में बहुत प्रयोजनीय है। पर यह हम गोस्वामी जी को छोड़ और किसी में पाते ही नहीं। और कवियों ने केवल अनुभव के रूप में भ्रूभंग आदि का वर्णन किया है; पर लक्ष्य साधने, किसी का मार्ग देखने आदि व्यापारों में जो स्वाभाविक मुद्रा मनुष्य की होती है, उसके चित्रण की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। गोस्वामी जी ने ऐसा चित्रण किया है। देखिए, आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचंद्र का कैसा चित्र उन्होंने सामने खड़ा किया है—

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसती सो मृदुमूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहे तकत सुभौंह सकोरे॥

मारीच के पीछे लक्ष्य साधते हुए राम की छवि देखिए—

जटा मुकुट कर सर धनु संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच॥

एक और चित्र देखिए। शबरी की झोपड़ी की ओर राम आनेवाले हैं। वह उनके लिये मीठे मीठे फल इकट्ठे करके कभी भीतर जाती है, कभी बाहर आकर भौं पर हाथ रक्खे हुए मार्ग की ओर ताकती है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै।
सुंदर सनेह-सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै।
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।

निशाना साधने में भौं सिकोड़ना और रास्ता देखने में माथे पर हाथ रखना कैसी स्वाभाविक मुद्राएँ हैं।

दृश्यों को सामने रखने में गोस्वामी जी ने अत्यन्त परिमार्जित

रुचि का परिचय दिया है। वे ऐसे दृश्य सामने नहीं लाए हैं जो भद्दे या कुरुचि-पूर्ण कहे जा सकें। उदाहरण के लिये भोजन का दृश्य लीजिए। 'मानस' में दो प्रसंगों में इसके अवसर आए हैं— राम की बाल-लीला के प्रसंग में और विवाह के प्रसंग में। दोनों अवसरों पर उन्होंने भोजन के दृश्य का विस्तार नहीं किया है। दशरथ भोजन कर रहे हैं, इतने में—

धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहँसि गोद बैठाए॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥

भोजन का यह उल्लेख बाल-क्रीडा और बाल चपलता का चित्रण करने के लिये है। पकवानों के नाम गिनाते हुए भोजन के वर्णन का विस्तार उन्होंने नहीं किया है। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर भी भोजन का वर्णन नहीं है। किसी भद्दी रुचिवाले को यह बात खटकी और उसने उनके नाम पर रामकलेवा बना डाला।

अब सूर और जायसी को देखिए। वे लड्डू, पेड़ा, जलेबी, पूरी, कचौरी, बड़ा, पकौड़ी, मिठाइयों और पकवानों के जितने नाम याद आए हैं—या लोगों ने बताए हैं—सब रखते चले गए हैं। जायसी तो कई पृष्ठों तक इसी तरह गिनाते गए हैं—

लुचुई पूरि सोहारी पूरी। इक तौ ताती औ सुठि कौंवरी॥
० भूँजि समोसा घी मँह काढ़े। लौंग मिरिच तेहि भीतर ठाढ़े॥

इसी प्रकार चावलों और तरकारियों के पचीसों नाम देख लीजिए। सूरदास जी ने भी यही किया है। 'नंदबबा' कृष्ण को लेकर खाने बैठे हैं। उनके सामने क्या क्या रक्खा है, देखिए—

लुचुई, लपसी, सद्य जलेबी सोइ जेंवहु जो लगै पियारी॥
घेवर, मालपुवा, मोति लाड़ू सुघर सजूरी सरस सँवारी॥
दूध वरा, उत्तम दधि, बाटी, दाल मसूरी की रुचि न्यारी।
आछो दूध औटि धौरी को मैं ल्याई रोहिणि महतारी॥

इन नामों को सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय। भोजन का ऐसा दृश्य सामने रखना साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य्यों ने भी काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझा था; इसीसे उन्होंने नाटक में इसका निषेध किया था—

दूराह्वानं, बधो, युद्धं, राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यूरतं तथाः॥

कुछ हिन्दी कवियों ने बहुत सी वस्तुओं की लंबी सूची देने को ही वर्णन-पटुता समझ लिया था। इसके द्वारा मनुष्य के भिन्न भिन्न व्यवसाय-क्षेत्रों की अपनी जानकारी भी वे प्रकट करना चाहते थे। घोड़ों का प्रसंग आया तो बस "ताज़ी, अरबी, अवलक, मुश्की" गिना चले। हथियारों का प्रसंग आया तो सैंकड़ों की फिहरिस्त मौजूद है। महाराज रघुराजसिंह ने तो यह समझिए कि अपने समय के राजसी ठाठ और जलूस के सामान गिनाने के लिये ही "राम-स्वयंवर" लिखा। इस प्रणाली का सब से अधिक अनुसरण सूदन ने किया है। उनके 'सुजान-चरित्र' को तो हथियारों, घोड़ों, कपड़ों, सामानों की एक पुस्तकाकार नामावली समझिए।

गोस्वामी जी को यह हवा बिल्कुल न लगी। इस अनर्गल विधान से दूर रहकर उन्होंने अपने गौरव और गांभीर्य्य की पूर्ण रक्षा की।

वस्तु-प्रत्यक्षीकरण के संबंध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह काव्य का साध्य नहीं है। यदि वह साध्य या चरम लक्ष्य होता तो किसी कुरसी या गाड़ी का सूक्ष्म वर्णन भी काव्य कहला सकता। पर काव्य में तो उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जो विभाग के अंतर्गत होती हैं अथवा उनसे सम्बद्ध होती हैं। अतः "काव्य एक अनुकरण कला है" यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिए। कवि और चित्रकार का साध्य एक ही नहीं है। जो चित्रकार का साध्य है, वह कवि का साधन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि यह साधन सब से आवश्यक

और प्रधान है। इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता।

अलंकार-विधान

भावों का जो स्वाभाविक उद्रेक और विभावों का जो स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण गोस्वामी जी में पाया जाता है, उसका दिग्दर्शन तो हो चुका। अब जरा उनके अलंकारों की बानगी भी देख लेनी चाहिए। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की परीक्षा हम इसी दृष्टि से करेंगे कि वे कहाँ तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र हैं। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता—जैसे श्लेष और यमक—द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातों में से किसी एक में भी जिस अलंकार से सहायता पहुँचती है, उसे हम अच्छा कहेंगे और जिससे कई एक में एक साथ सहायता पहुँचती है, उसे बहुत उत्तम कहेंगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णनशैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कहीं सादृश्य-योजना का उद्देश बोध कराना मात्र है तो वह काव्यालंकार नहीं। "नीलगाय गाय के सदृश होती है" इसे कोई अलंकार नहीं कहेगा। इसी प्रकार "एक रूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारेउ ओऊ॥" में भ्रम अलंकार नहीं है। केवल "वस्तुत्व" या "प्रमेयत्व"

जिसमें हो, वह अलंकार नहीं*। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के उपर निकले हुए चंद्रमा को देख यदि कोई कहे कि "मानो ऊँट की पीठ पर घंटा रक्खा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर-ही वाह वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता। बादल के ऊपर निकलते हुए चंद्रमा को देख हृदय में स्वभावतः सौंदर्य्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रक्खा हुआ घंटा कोई ऐसा सुंदर दृश्य नही जिसकी योजना से सौंदर्य्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

अब गोस्वामी जी के कुछ अलंकारों को हम इस क्रम से लेते हैं (१) भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक (२) वस्तुओं के रूप (सौदर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।

(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक अलंकार

अशोक के नीचे राम के विरह में सीता को चाँदनी धूप सी लगती है—

डहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम॥

---

* साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कान्तिमत्त्वादि न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि ग्राह्यम्।
—विद्याधर।

यह निश्चयालंकार सीता के विरह-संताप का उत्कर्ष दिखाने में सहायक है। इसी विरहसंताप की प्रचंडता असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा द्वारा भी दिखाई गई है—

जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वाँस समीर भेंट भइ, भोरेहु तेहि मग पगु न धस्यौ तिहुँ पौन॥

मरते हुए जटायु से राम कहते हैं कि मेरे पिता से सीता-हरण का समाचार न कहना।

सीता-हरन, तात, जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन आइ॥

यह 'पर्यायोक्ति' राम की धीरता और सुशीलता की व्यंजना में कैसी सहायता करती हुई बैठी है। राम सीता-हरण के समाचार द्वारा अपने पिता को स्वर्ग में भी दुखी करना नहीं चाहते। साथ ही अपनी धीरता भी अत्यंत संकोच और शिष्टता के साथ प्रकट करते हैं। 'राम' कैसा अर्थान्तरसंक्रमित पद है।

राम की चढ़ाई का हाल सुनकर इतनी घबराहट हुई, इतनी आशंका फैली कि "बसत गढ़ लंक लंकेस रावन अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो।" यहाँ आशंका को व्यक्त करने में लक्षणा और व्यंजना के मेल से 'विभावना' कितना काम दे रही है।

देखिए, यह रूपक रतिभाव की अनन्यता दिखाने के लिये कैसा दृश्य ऊपर से ला रहा है—

तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।
वपुष-बारिद बरषि छबि-जल हरहु लोचन प्यास॥

एक नई उपमा देखिए। जब कोई राजा धनुष न तोड़ सका, तब जनक ने क्षोभ से भरे उत्तेजक वचन कहे जिन्हें सुनकर लक्ष्मण को तो अमर्ष हुआ, पर अभिमानी राजाओं की यह दशा हुई—

"जनक-बचन छुए बिरवा लजारू के से बीर रहे सकल सकुच सिर नाइ कै।"

इस उपमा में "लज्जा" का उत्कर्ष भी है और क्रिया भी ठीक बिंब-प्रतिबिंब रूप में है; अतः यह बहुत ही अच्छी है।

उन्हीं राजाओं की ईर्ष्या इस विभावना द्वारा कही गई है—
"नीच महिपावली दहन बिनु दही है।"

राम की निस्पृहता और संतोष का ठीक अंदाज कराने के लिये उपमा और रूपक के सहारे कैसी बातें सामने लाए हैं—

असन अजरनि को समुझि तिलक तज्यो,
बिपिन गवनु भले भूखे अब सुनाजु भो।
धरमधुरीन धीर वीर रघुबीर जू को,
कोटि राज सरिस भरत जू को राज भो॥

दो भावों के द्वंद्व का कैसा सुंदर और स्पष्ट चित्र इस रूपक में मिलता है—

मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन-नयन भरे नीर।
गड़त गोंड़ मानो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम-बल धीर॥

कौशल्या अपने गंभीर वात्सल्य प्रेम का प्रकाश इस पर्यायोक्ति द्वारा जिस प्रकार कर रही है, वह अत्यंत उत्कर्ष-सूचक होने पर भी बहुत ही स्वाभाविक है—

राघव एक बार फिरि आवौ।
ए बर बरजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥
जे पय प्याइ पोषि कर-पंकज बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो॥

जिसके वियोग में घोड़े इतने विकल हैं; उसके वियोग में माता की क्या दशा होगी यह, समझने की बात है।

"जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। कहहु मातु पितु जीवहिं कैसे॥

सोहै सितासित को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरे।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥

एक और सुंदर 'उत्प्रेक्षा' लीजिए—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥

इस उत्प्रेक्षा में मेघखंड के बीच से प्रकट होते हुए चंद्रमा का मनोरम दृश्य लाया गया है जो प्रस्तुत दृश्य की मनोहरता के अनुभव को बढ़ानेवाला है। नेत्र शीतल करने का गुण भी राम-लक्ष्मण और चद्रमा दोनों में है।

'रूपकातिशयोक्ति' का प्रयोग बहुत से कवियों ने इस ढग से किया है कि वह एक पहेली सी हो गई है। पर गोस्वामी जी ने उसे अपनी प्रबंध-धारा के भीतर बड़े स्वाभाविक ढंग से बैठाया है—ऐसे ढंग से बैठाया है कि वह अलकार जान ही नहीं पड़ती, क्योंकि उसमें अप्रस्तुत भी बन के भीतर प्रस्तुत समझे जा सकते हैं। सीता के वियोग में बन बन फिरते हुए राम कहते हैं—

खंजन, शुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुदकली, दाडिम, दामिनी। शरद कमल, शशि, अहि-भामिनी॥
वरुण पाश मनोज, धनु, हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल, कमल, कदलि, हरखाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

गोस्वामी जी की प्रवध-कुशलता विलक्षण है जिससे प्रकरण-प्राप्त वस्तुएँ अलकार-सामग्री का काम भी देती चलती हैं। इससे होता यह है कि अलंकारों में कृत्रिमता नहीं आने पाती। रंग-भूमि में इधर राम आते हैं, उधर सूर्य का उदय होता है। इस बात पर कवि को यह अपन्हुति सूझती है—

रवि निज उदय-व्याज रघुराया। प्रभुप्रताप सब नृपन दिखाया॥

भिन्न भिन्न गुणों के आश्रयत्व से एक ही राम को गोस्वामी जी ने इतने विभिन्न (कहीं कहीं तो बिलकुल विरुद्ध) रूपों में 'उल्लेख' के

सहारे दिखाया है कि जो बेचारे अलंकार-सलंकार नहीं जानते, वे इसे राम की दिव्य विभूति समझकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। देखिए—

जिनकै रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन्ह तैसी॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन-सुखदाई॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥

अलंकार के निर्वाह का वे पूरा ध्यान रखते थे। हिरन के पीछे दौड़ते हुए राम को पंचशर कामदेव बनाना है, इसके लिये देखिए इस भ्रमालंकार में वे शरों की गिनती किस प्रकार पूरी करते हैं—

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥

प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं के भीतर से ही वे प्रायः अलंकार की सामग्री चुनते हैं। इस 'निदर्शना' में उसका एक और सुंदर उदाहरण लीजिए। विश्वामित्र के साथ जाते हुए बालक राम-लक्ष्मण उनकी नजर बचाकर कहीं धूल कीचड़ में खेल भी लेते हैं जिसके दाग कहीं कहीं बदन पर दिखाई पड़ते हैं—

सिरनि सिखंड सुमन-दल मंडन बाल सुभाय बनाए।
केलि-अंक तनु रेनु पंक जनु प्रगटत चरित चुराए॥

कवि लोग कभी कभी दूर की उड़ान भी मारा करते हैं। गोस्वामी जी ने भी कहीं कहीं ऐसा किया है। सीता के रूप-वर्णन में यह "अतिशयोक्ति" देखिए—

जो छबि-सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सृंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू॥

यहि विधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल॥

चंद्रमा के काले दाग पर यह अप्रस्तुत प्रशंसा देखिए—

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि सम देखिय नभ परछाहीं॥

रूप-संबंधी कुछ और उक्तियाँ देखिए—

(क) सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर॥
सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥ (व्यतिरेक)

(ख) सिय तुव अंग रग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥ (मीलित)

(ग) चपक-हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाइ॥ (उन्मीलित)

(घ) केस मुकुत, सखि, मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥ (अतद्गुण)

(च) मुख-अनुहरिया केवल चद समान। (प्रतीप)

(छ) द्वैभुज कर हरि रघुवर सुदर बेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष॥

(हीन अभेद रूपक)

जहाँ वस्तु या व्यापार अगोचर होता है, वहाँ अलंकार उसके अनुभव में सहायता गोचर रूप प्रदान करके करता है, अर्थात् वह पहले गोचर-प्रत्यक्षीकरण करके बोध-वृत्ति की कुछ सहायता करता है, तब फिर रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करता है। जैसे, यदि कोई आनेवाली विपत्ति या अनिष्ट का कुछ भी ध्यान न करके अपने रंग में मस्त रहता हो और कोई उसको देखकर कहे कि—"चरै हरित तृण बलि पशु जैसे" तो इस कथन से उसकी दशा का प्रत्यक्षीकरण

कुछ अधिक हो जायगा जिससे उसमें भय का संचार पहले से कुछ अधिक हो सकता है।

'भव-बाधा' कहने से कोई विशेष रूप सामने नहीं आता, सामान्य अर्थ ग्रहण मात्र हो जाता है। इससे गोस्वामी जी उसे व्याल का गोचर रूप देते हुए 'परिकरांकुर' का अवलंबन करते हुए कहते हैं—

तुलसिदास भवव्याल-ग्रसित तव सरन उरगरिपु गामी॥

इसी प्रकार कैकेयी की भीषणता सामने खड़ी की गई है—

लखी नरेस बात यह साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची॥

(३) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिये प्रस्तुत अप्रस्तुत वस्तु के बीच या तो 'अनुगामी' (एक ही) धर्म होता है, या 'वस्तु-प्रति-वस्तु' या उपचरित। सीधी भाषा में यों कह सकते हैं कि अलंकार के लिये लाई हुई वस्तु और प्रसंग प्राप्त-वस्तु का धर्म या तो एक ही होता है, या अलग अलग कहे जाने पर भी दोनों के धर्म समान होते हैं; अथवा एक के धर्म का उपचार दूसरे पर किया जाता है; जैसे, उसका हृदय पत्थर के समान है।

देखिए, केवल क्रिया की तीव्रता का अनुभव कराने के लिये इस 'ललितोपमा' का प्रयोग हुआ है—

मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो।

सीता के प्रति कहे हुए रावण के वचन को सुनकर हनुमान जी को जो क्रोध हुआ, उसके वर्णन में इस रूपक का प्रयोग भी ऐसा ही है—

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध-विंध्य बढ़ोइ।
सकुचि राम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ॥

इनमें क्रिया या वेग को छोड़ प्रस्तुत अप्रस्तुत में रूप आदि का

कोई सादृश्य नहीं है । पर गोस्वामी जी के ग्रंथों में ऐसे स्थल भी बहुत से मिलते हैं जिनमें बिंब-प्रतिबिंब भाव से प्रस्तुत और अप्रस्तुत की स्थिति भी है और धर्म भी वस्तु-प्रतिवस्तु है। एक उदाहरण लीजिए—

बालधि बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप
कैधौं चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है।

इसमें 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' का व्यवहार किया गया है। इधर उधर घूमती हुई जलती पूँछ तथा काल की जीभ और तलवार में बिंब-प्रतिबिंब भाव (रूपसादृश्य) भी है तथा संहार करने और दाह करने में वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म भी है। इस दृष्टि से यह अलंकार बहुत ही अच्छा है।

दो एक जगह ऐसे उपमान भी मिलते हैं जिनमें कवि के अभिप्रेत विषय में तो सादृश्य है, पर शेष विषयों में इतना अधिक असादृश्य है कि उपमान की हीनता खटकती है, जैसे—

सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

पर कहीं कहीं इस हीनता को कुछ अपने ऊपर लेकर गोस्वामी जी ने उसका सारा दोष हर लिया है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुबंस निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

नीचे लिखे 'रूपक' में उपमान और उपमेय का अनुगामी (एक ही) धर्म बड़ी ही सुंदर रीति से आया है—

नृपन केरि आसा-निसी नासी। बचन-नखत-अवली न प्रकासी॥
मानी-महिप-कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥

इसमें ध्यान देने की पहली बात यह है कि केवल क्रिया का सादृश्य है, रूप आदि का कुछ भी सादृश्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि यहाँ 'सकुचना' और 'लज्जित होना' आए हैं, पर रूपक का उद्देश्य इन भावों का उत्कर्ष दिखाना नहीं है, बल्कि एक साथ इतनी भिन्न भिन्न क्रियाओं का होना ही दिखाना है।

एक ही क्रिया का संबंध अनेक पदार्थों से दिखाती हुई यह 'तुल्ययोगिता' भी बड़ी ही सटीक बैठी है—

सब कर संसय अरु अज्ञानू। मद महीपन कर अभिमानू।
भृगुपति केरि गर्व गरुआई। सुर मुनिवरन केरि कदराई॥
सिय कर सोच, जनक-परितापा। रानिन कर दारुन दुख दापा॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥

प्रबंधधारा के बीच यह अलंकार ऐसा मिला हुआ है कि ऊपर से देखने में इसकी अलंकारता प्रकरण से अलग नहीं मालूम होती। 'बोहित' को छोड़ और कोई सामग्री कवि-प्रतिभाप्रदत्त या ऊपर से लाई हुई नहीं है। हाँ, वस्तुओं की जो सुंदर योजना है, वह अवश्य कवि की प्रतिभा का फल है। यही प्रतिभा कवि को प्रबंध-रचना का अधिकार देती है; कौतुकी कवियों की वह प्रतिभा नहीं जो पंचवटी की शोभा के वर्णन के समय प्रलयकाल के बारहो सूर्य उतार लाती है। प्राप्त प्रसंग के गोचर अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है। जी न चाहने पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिंदी के और किसी कवि में वह प्रबंधपटुता नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिये आवश्यक है। प्रकरण-प्राप्त विषयों को अलंकार-सामग्री बनाते हुए किस प्रकार वे स्थान स्थान पर प्रबंधप्रवाह के भीतर ही अलंकारों का

विधान भी करते चलते हैं, यह हम दिखाते आ रहे हैं। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें 'सहोक्ति' द्वारा एक ही क्रिया (धनुर्भंग) का कैसा विशद संग्राहक रूप दिखाया गया है—

गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो।
नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥
आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक हियो।
भंज्यो भृगुपति-गर्व-सहित, तिहुँ लोक बिमोह कियो॥

परिणाम का स्वरूप आगे रखकर कर्म की भयकरता अनुभव कराने का कैसा प्रकृत प्रयत्न इस 'अप्रस्तुत प्रससा' में दिखाई पड़ता है—

मातु-पितहि जनि सोच-बस करसि महीपकिसोर।

इसी प्रकार कर्म के स्वरूप को एकबारगी नजर के सामने लाने के लिये 'ललित' अलंकार द्वारा उसका यह गोचर स्वरूप सामने रखा गया है—

यहि पापिनिहि सूझि का परेऊ। छाए भवन पर पावक धरेऊ॥

क्रूर और नीच मनुष्य यदि कभी आकर नम्रता प्रकट करे तो इसे बहुत डर की बात समझना चाहिए। नीचों की नम्रता की यह भयंकरता गोस्वामी जी ने बड़े ही अच्छे ढंग से गोचर की है—

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस, धनु, उरग, बिलाई।

यही बात दोहावली में दूसरे ढंग से कही गई है—

मिलै जो सरलहि सरल ह्वै, कुटिल न सहज बिहाइ।
सो सहेतु, ज्यों बक्रगति ब्याल न बिलै समाइ॥

जिसे हम पचासों बार दुष्टता करते देख चुके हैं, वह यदि कभी बहुत सीधा बनकर आवे तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अपना कोई मतलब निकालने के लिये तैयार हुआ है। मतलब निकालने के लिये तैयार दुष्ट संसार में कितनी भयंकर वस्तु है!

क्रोध से भरी कैकेयी राम को बन भेजने पर उद्यत होकर खड़ी

होती है। उस समय उसके कर्म और संकल्प की सारी भीषणता गोचर नहीं हो रही है। देश और काल का व्यवधान पड़ता है। इससे गोस्वामी जी रूपक द्वारा उसे प्रत्यक्ष कर रहे हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल, कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-वचन प्रचारा॥
ढाहत भूप-रूप तरु-मूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला॥

'पाप' और 'पहाड़' तथा 'क्रोध' और 'जल' में यहाँ अनुगामी धर्म है, शेप में वस्तु-प्रतिवस्तु। जैसे नदी के दो कूल होते हैं, वैसे ही उसके क्रोध के दो पक्ष दोनों वर हैं; जैसे धारा में वेग होता है, वैसे ही हठ में है जैसे: भँवर मनुष्य का निकलना कठिन कर देता है, वैसे ही कूबरी के वचन परिस्थिति और कठिन कर रहे हैं। यह सांग रूपक कैकेयी के कर्म की भीषणता को खूब आँख के सामने ला रहा है। भाव या क्रिया की गहनता द्योतित करने के लिये गोस्वामी जी ने प्राय: नदी और समुद्र के रूपक का आश्रय लिया है। चित्रकूट में अपने भाइयों के सहित रामचंद्र जनक से मिलकर उन्हें अपने आश्रम पर ले जा रहे हैं। वह समाज ऐसे शोक से भरा हुआ था जिसका प्रत्यक्षीकरण इस 'रूपक' के ही द्वारा अच्छी तरह हो सकता था—

आश्रम-सागर-सांतरस पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना-सरित लिए जाहिं रघुनाथ॥

बोरति ज्ञान बिराग करारे। वचन ससोक मिलत नदनारे॥
सोच-उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुवर कर भंगा॥
बिषम बिषाद तुरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त्त अपारा॥
केवट बुध, विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ एक नहिं आवो॥
आश्रम-उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥

(४) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

देखिए, इस 'व्यतिरेक' की सहायता से संतों का स्वभाव किस सफ़ाई के साथ औरों से अलग करके दिखाया गया है—

संत-हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहइ न जाना ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवैं सुसंत पुनीता ॥

संतों और असंतों के बीच के भेद को थोड़ा कहते कहते 'व्याघात' द्वारा कितना बड़ा कह डाला है, जरा यह भी देखिए—

बंदौं संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय, बीच कछु बरना ॥
मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ॥

इस इतने बड़े भेद को थोड़ा कहनेवाले का हृदय कितना बड़ा होगा !

. कवि लोग अपनी चतुराई दिखाने के लिये श्लेष, कूट, प्रहेलिका आदि लाया करते हैं, पर परम भावुक गोस्वामी जी ने ऐसा कहीं नहीं किया। एक स्थान पर ऐसी युक्ति-पटुता है, पर वह आख्यान-गत पात्र का चातुर्य्य दिखाने के लिये ही है। लक्ष्मण से शूर्पणखा के नाक-कान काटने के लिये राम इस तरह इशारा करते हैं—

वेद नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास ॥
(वेद = श्रुति = कान। आकाश = स्वर्ग = नाक)

गोस्वामी जी की रचना में बहुत से स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ यह निश्चय करने में गड़बड़ी हो सकती है कि यहाँ अलंकार है या भाव। इसकी संभावना वहीं होगी जहाँ स्मरण, सन्देह और भ्रान्ति का वर्णन होगा। स्मरण का यह उदाहरण लीजिए—

बीच वास करि जमुनहिं आए। निरखि नीर लोचन जल छाए।

इसे न विशुद्ध अलंकार ही कह सकते हैं, न भाव ही। उपमेय और उपमान (राम का शरीर, जमुना का जल) के सादृश्य की

ओर ध्यान देते हैं तो स्मरण अलंकार ठहरता है; और जब अश्रु सात्त्विक की ओर देखते हैं तो स्मरण संचारी भाव निश्चित होता है। सच पूछिए तो इसमें दोनों हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि भाव का उद्रेक अत्यंत स्वाभाविक है और यहाँ वही प्रधान है, जैसा कि "लोचन जल छाए" से प्रकट होता है। विशुद्ध अलंकार तो वहीं कहा जा सकता है जहाँ सदृश वस्तु लाने में कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है। अलंकार का स्मरण प्रायः वास्तविक नहीं होता; रूप गुण आदि के उत्कर्ष-प्रदर्शन का एक कौशल मात्र होता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि स्मरण भाव केवल सदृश वस्तु से ही नहीं होता, संबंधी वस्तु से भी होता है। शुद्ध 'स्मरण' भाव का यह उदाहरण बहुत ही अच्छा है—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नयननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ।

अब भ्रम का एक ऐसा ही उदाहरण लीजिए। सीता जी अपने जलने के लिये अशोक से अंगार माँग रही थीं। इतने में हनुमान ने पेड़ के ऊपर से राम की 'मनोहर मुद्रिका' गिराई और—

"जानि असोक-अँगार सीय हरषि उठि कर गह्यो"।

इसी प्रकार जहाँ उत्तरकांड में अयोध्या की विभूति का वर्णन है, वहाँ कहा गया है कि—

"मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं"।

इन दोनों उदाहरणों में 'भ्रम' अलंकार नहीं है। अलंकार में भ्रम के विषय की विशेषता होती है, भ्रान्त की नहीं। भ्रान्त की विशेषता में तो पागलों का भ्रम भी अलंकार हो जायगा। सीता का जो भ्रम है, वह विरह की विह्वलता के कारण और बंदरों का जो भ्रम है, वह पशुत्व के कारण। इस प्रकार का भ्रम अलंकार नहीं, यह बात आचार्य्यों ने स्पष्ट कह दी है—

मर्मप्रहारकृत–चित्तविक्षेप–विरहादिकृतोन्मादादि–
जन्य भ्रान्तेश्च नालंकारत्वम् ।

—उद्योतकर ।

संदेह के संबंध में भी यही बात समझिए जो ऊपर कही गई है। तीनों में सादृश्य आवश्यक है। संदेह तो अलंकार तभी होगा जब उस को लाने का मुख्य उद्देश्य रूप, गुण, क्रिया का उत्कर्ष (अपकर्ष भी) सूचित करना होगा। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है, पर वहाँ अलंकारत्व कुछ दबा सा रहेगा। जैसे, "की मैनाक कि खग-पति होई" में जो सदेह है, वह कवि के प्रबध–कौशल के कारण वास्तविक भी है तथा आकार की दीर्घता और वेग की तीव्रता भी सूचित करता है। पर नीचे लिखा उदाहरण यदि लीजिए तो उसमें कुछ भी अलंकारत्व नहीं है—

की तुम हरिदासन महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥
की तुम राम दीन–अनुरागी। आए मोहिं करन बड़भागी ॥

अलंकार का विषय समाप्त करने के पहले दो चार बातें कह देना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि सब अलंकार आने पर भी गोस्वामी जी की रचना कहीं ऐसी नहीं है कि पहले अलं-कार का पता लगाया जाय तब अर्थ खुले। जो अलंकार का नाम तक नहीं जानते, वे भी अर्थ ग्रहण करके पूरा आनंद उठाते हैं। एक विहारी हैं कि पहले 'नायिका' का पता लगाइए, फिर अलंकार निश्चित कीजिए, और तब दोनों की सहायता से प्रसंग की ऊहा कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेंट हो। गोस्वामी जी की इस अद्भुत विशेषता का कारण है उनकी अपूर्व प्रबंध-पटुता जिसके बल से उन्होंने अपनी प्रबंधधारा के साथ, अधिकतर प्रकरण–प्राप्त वस्तुओं को ही लेकर, अलंकारों को इस सफ़ाई से मिलाया है कि जोड़ मालूम नहीं पड़ता।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि गोस्वामी जी श्लेष, यमक, मुद्रा आदि खेलवाड़ों के फेर में एक तरह से बिल्कुल नहीं पड़े हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि शब्दालंकार का सौन्दर्य्य उनमें नहीं। ओज, माधुर्य्य आदि का विधान करनेवाले वर्णविन्यास का आश्रय उन्होंने लिया है। उनकी रचना शब्दसौन्दर्य्य-पूर्ण है। अनुप्रास के तो वे बादशाह थे। अनुप्रास किस ढंग से लाना चाहिए, उनसे यह सीखकर यदि बहुत से पिछले फुटकरिए कवियों ने अपने कवित्त सवैये लिखे होते, तो उनमें वह भद्दापन और अर्थन्यूनता न आने पाती। तुलसी की रचना में कहीं कहीं एक ही वर्ण की आवृत्ति सारे चरण में यहाँ से वहाँ तक चली गई है, पर प्रसंग-बाह्य या भरती का शब्द एक भी नहीं। दो नमूने बहुत होंगे—

(क) जग जाँचिए कोउ न, जाँचिए जौ, जिय जाँचिए जानकी-जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि रे॥

(ख) खल परिहास होहि हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥

और उदाहरण ढूँढ़ लीजिए; कुछ भी कष्ट न होगा: जहाँ ढूँढ़िएगा, वहीं मिलेंगे।

अर्थश्लेष, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लानेवाले अलंकारों का व्यवहार भी इनकी रचनाओं में नहीं मिलता। इस प्रसिद्ध उदाहरण को छोड, हम समझते हैं, परिसंख्या का शायद ही कोई और उदाहरण इनकी रचनाओं भर में मिले—

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्त्तक नृत्य-समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जग रामचंद्र के राज॥

शब्दश्लेष का उदाहरण भी बहुत ढूँढ़ने पर शायद ही इस तरह का कोई और मिल जाय—

रावण सिर-सरोज-बनचारी। चली रघुवीर-शिलीमुख धारी॥

पर न मिलना ही अच्छा है। यहीं उसकी करतूत देख लीजिए कि वह क्या कर रहा है। रावण के सिर पर जाकर बाण-भ्रमर सिवा इसके कि मकरंद-पान करें और गुंजार कर क्या सकते हैं

जिससे रावण का कुछ बिगड़े ? पर बेचारे गोस्वामी जी करते क्या ? उन्हें तो रामचरित की ओर सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था, जो जिस रुचि से आकर्षित हो, उसी से सही। इससे उन्होंने अलंकार की भद्दी रुचि रखनेवालों को भी निराश नहीं किया और इस तरह के भी कुछ अलंकार कहे जिस तरह का विनय-पत्रिका में यह 'सांग रूपक' है—

सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
मरजादा चहुँओर चरन बर सेवत सुरपुरबासी॥
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अविनासी।
अंतरअयन अयन भल थन, फल बच्छ बेदबिस्वासी॥
गलकंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरितासी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥

कहिए, काशी की इन वस्तुओं का सींग, पूँछ, गलकंबल आदि के साथ कहाँ तक सादृश्य है ! अनुगामी धर्म, वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म, उपचरित धर्म, बिंबप्रतिबिंब रूप आदि ढूँढ़ने से कहाँ तक मिल सकते हैं ? 'घंटा' और 'करनघंटा' में तो केवल शब्दात्मक सादृश्य ही है। इसी प्रकार विनयपत्रिका में अर्द्धनारीश्वर शिव को वसंत बनाया है और गीतावली में चित्रकूट की वनस्थली को होली का स्वाँग। पर फिर भी यही कहना पडता है कि इसमें गोस्वामी जी का दोष नहीं, यह एक वर्ग विशेष की रुचि का प्रसाद है। इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो चार ऐसे स्थलों से उनके रुचिसौन्दर्य्य में अणु-मात्र भी संदेह नहीं उत्पन्न हो सकता।

उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति-वैचित्र्य से यहाँ हमारा अभिप्राय उस वेपर की उड़ान से नहीं है जिसके प्रभाव से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता, वहाँ से अपनी उत्प्रेक्षा, उपमा आदि के लिये सामग्री लिया करते

हैं। मेरा अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को और विषयों से कुछ अलग करके दिखलाता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्य्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का। ऐसी उक्तियाँ गोस्वामी जी की रचनाओं में भरी पड़ी हैं; अतः केवल दो चार का दिग्दर्शन ही यहाँ हो सकता है।

राम की शोभा वर्णन करते हुए एक स्थान पर कवि कहता है—"मनहुँ उमगि अँग अँग छवि छलकै"। इस 'छलकै' शब्द में कितनी शक्ति है! इसका वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत है। लक्षणा से इसका अर्थ होता है—"प्रभूत परिमाण में प्रकट होना"। पर 'अभिधा' द्वारा इस प्रकार कहने से वैसी तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकती।

'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी राम से कहते हैं—

"हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहूँ अनाथपति जौ लघुतहि न भितैहौ"

'लघुता से भयभीत होना' कैसी विलक्षण उक्ति है, पर साथ ही कितनी सच्ची है! शानदार अमीर लोग ग़रीबों से क्यों नहीं बातचीत करते? उनकी 'लघुता' ही के भय से न? वे यही न डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बातचीत करते लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। अतः लघुता से भयभीत होने में जो एक प्रकार का विरोध सा लक्षित होता है, वह हृदय पर किस शक्ति के साथ प्रभाव डालता है!

राम के वन चले जाने पर कौशल्या दुःख से विह्वल होकर कहती हैं—

"हौं घर रहि मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो है"।

कौशल्या को घर श्मशान सा लग रहा है। इस श्मशान की अग्नि में कौशल्या को भस्म हो जाना चाहिए था। पर वे कहती हैं कि इस अग्नि में भस्म होना चाहिए था मुझे, पर जान पड़ता है कि

के सभ्य भाषण का अत्यंत सुंदर नमूना उन्होंने चित्रकूट में एकत्र सभा के बीच दिखाया है। पर राक्षसों के बीच शिष्टता, सभ्यता आदि का उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।

हिंदी-साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान

जो कुछ लिखा जा चुका, उससे तुलसीदास जी की विशेषताएँ कुछ न कुछ अवश्य स्पष्ट हुई होंगी। काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में हमने उन्हें उस स्थान पर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्र का बड़े से बड़ा कवि है। मानव अंतःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों तक हमने उनकी पहुँच देखी। बाह्य जगत् के नाना रूपों के प्रत्यक्षीकरण में भी हमने उन्हें तत्पर पाया। काव्य के बहिरंग विधान की सुंदर प्रणाली का परिचय भी हमें मिला। अब उनकी सब से बड़ी विशेषता की ओर एक बार फिर ध्यान आकर्षित करके यह वक्तव्य समाप्त किया जाता है।

यह सबसे बड़ी विशेषता है उनकी प्रबंधपटुता जिसके बल से आज 'रामचरितमानस' हिंदी समझनेवाली हिन्दू जनता के जीवन का साथी हो रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य-जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुँचनेवाली है, क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है। रामचरित जीवन की सब दशाओं की समष्टि है, इसका प्रमाण "रामाज्ञाप्रश्न" है जिससे लोग हर एक प्रकार की आनेवाली दशा के संबंध में प्रश्न करते और उत्तर निकालते हैं। जीवन की इतनी दशाओं का पूर्ण मार्मिकता के साथ जो चित्रण कर सका, वही सब से बड़ा भावुक और सबसे बड़ा कवि है, उसीका हृदय लोक-हृदय-स्वरूप है। शृंगार, वीर आदि कुछ गिने गिनाए रसों के वर्णन में ही निपुण कवि का अधिकार मनुष्य की दो एक वृत्तियों पर ही समझिए, पर ऐसे महाकवि का अधिकार मनुष्य की संपूर्ण भावात्मक सत्ता पर है।

अत: केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के

लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में हृदय का तो कहीं पता ही नहीं। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का संबंध-निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह सी जान पड़ती है। वीरसिंहदेवचरित में उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं, प्रबंधरचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। विहारी रीति-ग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी जी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेमस्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदास जी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदीभाषी हैं, तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर जैसा कि दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने 'यमक' के लोभ से यह दोहा कह डाला कि "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास"। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारतीकंठ भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।

आषाढ़ी पूर्णिमा,
संवत् १९८०। } रामचंद्र शुक्ल।

तुलसी-निबंधावली



(१) तुलसी-पंचक

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी. ए.]

छप्पय

हृदय कमठ दृढ़ धारि धर्म्म ध्रुव मंजुल मंदर।
अति अनंत विश्वास वासुकी पास सुविस्तर॥
बहु विधि तर्क वितर्क सुरासुर करि सहकारी।
आगम निगम पुरान सिंधु मथि सुधा निकारी॥
सुभ छंद प्रबंधनि बाँधि बँध अजर अमर तासौं भर्यो।
इमि तुलसीदास ललाम यह रामचरितमानस कर्यो॥१॥

भाषा जगत प्रकास पूरि जड़ता तम नास्यौ।
उक्ति जुक्ति बहु रंग बनज बन बिमल बिकास्यौ॥
रसिक मलिंदनि रंजि रुचिर रस पान छकायौ।
कपटी क्रूर उलूक वृंद करि मूक चकायौ॥
जिहिं निर्गुन सगुन सुरूप भ्रम भाप झाप झाई झई।
श्री तुलसिदास की अति अमल कल कविता सविता भई॥२॥

विमल विसद वर राम-चरित-मानस अन्हवायौ।
अलंकार ध्वनि भेद सुभूषन बसन धरायौ॥
भूरि भाव सुभ सुमन बासना विविध धूप धरि।
सगुन रूप रस रुचिर रचित मोदक अर्पित करि॥
बहु दिव्य उक्ति मनि दीप सों उमगि उतारी आरती।
इमि तुलसिदास भासा भवन चिर थिर थापी भारती॥३॥

हरिहर चरित अनूप पूप मंजुल मन भाये।
अपर प्रसंग बिधान बिबिध पकवान पकाये॥
साधु माधुरी गान पान रोचक सुखदायी।
खल दल तीछन भाय राय चटनी मिरचाई॥
श्री तुलसिदास जस चारु चिर लह्यौ बिसद कविता अजिर।
श्रुतिधारी रसिकनि हित रुचिर थापि भूरि भंडार थिर॥४॥

कविता सृष्टि उदार चारु रचना विरचि वर।
भक्ति भाव प्रतिपाल विस्नु मद मोह आदि हर॥
बोध विबुध बिबुधेस सेस ध्रुव धर्म धराधर।
सब्द सिंधु सुभ वरुन अर्थ धन धन्य धनाकर।
भ्रम विटप प्रभंजन कुमति बन अगिन तेज रवि सुजस ससि।
गुनि तुलसिदास सब देव-मय प्रनवत 'रतनाकर' हुलसि॥५॥

---

(२) गोस्वामी तुलसीदास का महत्व

[ले० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय]

सवैया

बन राम रसायन की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके जन मानस का मल सारा टला।
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला॥

"हरिऔध"

कसौटी

समालोचकों में मैथ्यू आर्नोल्ड का स्थान बहुत ऊँचा है। वे कहते हैं—"कविता यथार्थ में मानव जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। कवि की महत्ता इसी में है कि वह विचारों को बड़ी कुशलता से जीवन के उपयुक्त कर दे। जब मनुष्य सत्य को सब से श्रेष्ठ भाषा में प्रकट करता है, तब वही भाषा कविता हो जाती है।" *

आलफ्रेड लायल कहते हैं—"किसी युग के प्रधान भावों और उच्च आदर्शों को प्रभावोत्पादक रीति से प्रकट कर देना ही कविता है" †

स्वर्गीय बाबू द्विजेन्द्रलाल राय का कथन है—"कविता का राज

---

* "Poetry is at bottom a criticism of life The greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life.........Poetry is nothing less than the most perfect speech of man in which he comes nearest to being able to utter the truth."

† "Poetry is the most intense expression of the dominant emotions and the higher ideals of the age"

सौन्दर्य्य है। वह सौन्दर्य्य बहिर्जगत् में भी है और अन्तर्जगत् में भी है। जो कवि केवल बाहर के सौन्दर्य्य का ही वर्णन सुन्दर रूप से करते हैं, वे कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो कविजन मनुष्य के मन के सौन्दर्य्य का भी सुन्दर रूप से वर्णन करते हैं, वे बड़े कवि या महाकवि हैं।"

"बाह्य सौन्दर्य्य के वर्णन की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य्य के वर्णन में कवि की अधिक कवित्व शक्ति प्रकट होती है। बाहरी सौन्दर्य्य भीतरी सौन्दर्य्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है।"

"मनुष्य के हृदय में घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति होती है और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो सकता है। जो कवि इस परिवर्तन को दिखा सकता है, जिसने अन्तर्जगत् के इस विचित्र रहस्य को खोलकर देखा है, उसके आगे मानसिक पहेलियाँ आप ही स्पष्ट हो गई हैं, उसके निकट मनुष्य हृदय की गूढ़तम जटिल समस्याएँ सरल और सहज हो जाती हैं। उसकी इच्छा के अनुसार नई नई मोहिनी मानसी प्रतिमाएँ मूर्ति धारण करके पाठकों की आँखों के आगे खड़ी होती हैं; उसके इशारे से अंधकार दूर हो जाता है। उसकी जादू की लकड़ी के स्पर्श से निर्जीव सजीव हो जाता है। उसका कवित्व राज्य दिगन्त-प्रसारित उच्छ्वासपूर्ण समुद्र के समान रहस्यमय है"।

कालिदास और भवभूति।

कवीन्द्र रवीन्द्र रामायणी कथा की भूमिका में कहते हैं—

"जिसकी रचना के भीतर एक समस्त देश, एक समग्र युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को व्यक्त कर उसको मानव जाति की चिरन्तन सामग्री बना देता है, उसी कवि को महाकवि कहा जाता है। समग्र देश की और समस्त जाति की सरस्वती उसका आश्रय ग्रहण कर सकती है—वह जो रचना करता है, वह व्यक्ति विशेष की रचना नहीं मानी जा सकती। ऐसा ज्ञात

होता है, मानों वह वृहत् बनस्पति के समान देश के भूतल—जठर से उत्पन्न होकर उस देश को ही आश्रयच्छाया प्रदान करती है। शकुंतला और कुमारसंभव में विशेष भाव से कालिदास के निपुण हस्त का परिचय मिलता है: किन्तु रामायण और महाभारत के विषय में यह ज्ञात होता है कि भगवती भागीरथी अथच हिमाचल की भाँति वे भारत के ही हैं, व्यास और वाल्मीक उपलक्ष्य मात्र हैं।".

कसौटी का परिमाण कुछ बढ़ गया, किन्तु यदि वह उपयोगी है तो अपेक्षित है। किसी का महत्व प्रतिपादन सहज साध्य नहीं, उसके लिये उपपत्ति चाहिए। उस समय यह कार्य्य और दुस्तर हो जाता है, जब वह तुलनामूलक होता है। गोस्वामी जी का व्यक्तिगत महत्व बहुत कुछ है। वह शरद् ऋतु के सुनील नभोमण्डल के समान निर्मल अथच राका रजनी के मयंक समान कमनीय कान्ति निकेतन है। किन्तु मेरा प्रतिपाद्य वह नहीं है। मुझको उनके काव्य का महत्व देखना है, मैं उनकी कविता की गौरव-गरिमा का निरूपण करना चाहता हूँ। कविता कवि के हृदय का प्रतिबिम्ब है; वह उसमें वैसा ही प्रतिबिम्बित रहता है, जैसे दर्पण में छाया। किन्तु वह परोक्ष विषय है, मैं प्रत्यक्ष विषय से काम लेना चाहता हूँ। मैं देखूँगा कि हिन्दी संसार में कविकुलतिलक तुलसीदास की कविता का क्या महत्व है; इसी लिये मुझको कसौटी की आवश्यकता हुई। जो कसौटी सामने रखी गई है, आइए, उसपर हम आप गोस्वामी जी की रचना और हिन्दी के अन्य कतिपय लब्धप्रतिष्ठ महाकवियों की कृतियों को कसें। देखें, उन कृतियों से उनकी रचना में कुछ महत्व है या नहीं। और यदि है तो वह साधारण है या असाधारण, उसमें कुछ विशेषता है या नहीं: और यदि है तो क्या?

कसौटी में मानव जीवन, मानव आदर्श, मानव उच्च भाव और मानव के महान् हृदय की ओर ही लक्ष है। चिन्त्य यह है कि मानवता

क्या है ? आहार, विहार, निद्रा, भय, मैथुन और स्वार्थ-साधन में मानव एवं पशु में कोई भिन्नता नहीं है, इन विषयों में दोनों समान हैं। अतएव मनुष्य यदि आहार विहार के लिये ही उद्योगशील रहा, रात्रि में नींद भर सोया और प्रातःकाल उठकर जीवन यात्रा में संलग्न हुआ, भय से त्राण पाने के लिये प्रतिपक्षियों का सामना करता रहा, अथवा उनसे सुरक्षित रहने के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न सोचता रहा, कामिनी कुल के कमनीय वदनारविंद का भ्रमर बना रहा, उनके हाव, भाव, विभ्रम और विलासों पर ही लोट पोट होता रहा, स्वार्थ-रक्षा को ही आत्म सर्वस्व समझता रहा, तो पशुता ही उसका आदर्श रही, मानवता उसमें कहाँ है। वास्तव बात यह है कि मानवता आत्मत्याग में है। जब मनुष्य स्वार्थ की उपेक्षा करके परमार्थ की ओर दत्तचित्त होता है, जब सत्य और न्याय पर अपने जीवन के सुख समूह को उत्सर्ग करता है, जब कर्तव्य-ज्ञान उसकी दृष्टि में त्रिलोक के राज्य को अकिञ्चित्कर बनाता है, तभी वह मानवता के उच्च सोपान पर आरूढ़ होता है। जब हृदय में द्वंद्व उपस्थित होने पर मानव धर्म्म-संगत व्यापार को सुसंगत समझता है, जब उदरम्भरी कामनाओं की नरक-यंत्रणा से त्राण पाकर वह लोक-हित रुचि अमरावती में सानन्द विचरण करता है, जब वह जानता है कि आत्म-नियमन मन्दान्दोलित मलय पवन है, समाज उन्नयन नन्दन कानन है, परहित-कुसुम-संचयन स्वर्गीय सुख है, संसार सुख समृद्धि सम्वर्द्धन कामद कल्पतरु है, तभी उसमें मानवता स्वीकृत हो सकती है। जिस रचना में इस मानवता के आदर्श चरित चित्रित हों, जो कविता उसके अलौकिक आलोक से आलोकित हो, जो काव्य उसकी पवित्रता से पवित्री-भूत हो, जो भारती उसके भव्य भावों से भरित हो, जो विचार-माला उसकी महत्ता से महिमामयी हो, यदि दिया जा सकता है तो उसी को महत्व दिया जा सकता है। जिस रचना अथवा कविता-

कलाप में जितनी अधिक मात्रा में मानवता का प्रदर्शन होगा, वह कविता अथवा रचना उतनी ही अधिक मात्रा में महत्व की अधिकारिणी होगी।

इन बातों पर दृष्टि रखकर अब हम हिन्दी संसार के शिरोमणि कविवृन्द की रचनाओं और कविता-कलाप की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं; और देखना चाहते हैं कि किसकी कविता अथवा ग्रंथ में कितना महत्व है।

महाकाव्यकार

इस अवसर पर हिन्दी संसार के प्रसिद्ध महाकाव्यकार ही तुलना के लिये मनोनीत किए जा सकते हैं, क्योंकि "योग्यं योग्येन युज्यते।" तारे तारापति का सामना नहीं कर सकते, पावन सलिला भगवती भागीरथी की तुलना एक साधारण तरंगिणी से नहीं हो सकती। इस सूत्र से जब हम अग्रसर होते हैं, तब सब से पहले एक वीरधर्म्मा महाकवि पर हमारी दृष्टि पड़ती है। जिस प्रकार उसकी राज्य-परिचालन शक्ति लोकोत्तरा है, उसी प्रकार उसकी लेखनी-परिचालना भी मनोमुग्धकारिणी है। जिस प्रकार वह समरांगण में अवतीर्ण होकर कीर्ति-कला से अलंकृत होता है, उसी प्रकार वह साहित्य-क्षेत्र में भी पदार्पण कर सुयश-कुसुम-संचयन में निपुणता का परिचय देता है। यदि उसके शिर पर राजमंत्री होने का सुन्दर मुकुट सुशोभित है, तो उसके विशाल मस्तक पर महाकवि हाने का भी कलित क्रीट विराजमान है। वह नवरस-सिद्ध महाकवि है, वह हमारा चॉसर है, उसकी कविता सुन्दरी समलंकृता है, वह रस की निर्भरिणी है। वह कविकुल गुरु वाल्मीक के समान हिन्दी का आदि कवि है, उन्हीं के समान प्रकाण्ड और कमनीय काव्य का रचयिता है। उसने बड़े अनूठे वेल बूटे तराशे हैं, बड़े कान्त कुसुम चुने हैं, भाव-प्रवाह उसका विशद है और उसकी

प्रतिभा चमत्कारिणी है। वह साहित्य-कानन-केशरी है, वीर रस का अवतार है, अतएव उसके प्रसिद्ध काव्य पृथ्वी राजरासो में विचित्र तर्जन गर्जन है। किन्तु उल्लिखित कसौटी के आलोक में जब हम इस ग्रंथ का अवलोकन करते हैं, तब अवगत होता है कि मानवता के वे मनोहर चरित, जो किसी जाति की सम्पत्ति होते हैं, इस ग्रथ में विरल हैं। कविवर चन्द वरदायी का काव्य एक प्रकार का इतिहास है, और उसका अधिकांश भाग पृथ्वीराज के आहार-विहार, युद्ध-विग्रह, राग-रंग, क्रीडा-कौतुक, आनन्द-विनोद इत्यादि के वर्णन से परिपूर्ण है। उसमें उदात्त भाव भी हैं, लोकोत्तर चरित भी हैं, सामाजिक और धार्मिक भावों का संकलन भी है, आत्म-त्याग के चित्र भी हैं, किन्तु गौणीभूत, प्राधान्य उनका नहीं है। प्राधान्य पृथ्वीराज के व्यक्तिगत कार्य्य-कलाप को ही है, और इसी लिये पृथ्वीराज रासो उसका सार्थक नाम है। किसी व्यक्ति के चरित्र-चित्रण में वह सामाजिक आदर्श जो किसी समाज को समुन्नत बनाता है, रहन-सहन की वह प्रणाली जो परम्परागत जाति-जीवन का पाथेय होती है, वह महान् कार्य्य-कलाप जिसकी व्यापकता कल-कौमुदी के समान जाति-हृदयतल-गगन-रजिनी होती है, वह मनोहर झनकार जो समाज और देश के प्रत्येक सहृदय की हृत्तन्त्री निनादित करती है, न तो इस ग्रंथ में दृष्टिगत होती है और न श्रवणगोचर। अतएव वह महत्व इस ग्रन्थ को नहीं प्राप्त होता, जो उल्लिखित कसौटी के आदर्श का आधार हो सके।

दूसरी ओर दृष्टि डालने पर काव्य-जगत् का प्रथित प्रभाकर प्रभा वितरण करता हुआ दृष्टिगत होता है। यह प्रभाकर बाल विभाकर है। यदि वह समुदित होकर व्योमतल को अरुण राग द्वारा आभूषित करता है, तो यह भी आविर्भूत होकर साहित्य नभतल को अभूतपूर्व अनुराग राग से अनुरंजित बनाता है। यदि वह जलद-जाल उत्पन्न कर जीवों को जीवन प्रदान करने में समर्थ होता है,

तो यह भी अलौकिक काव्य कला की सृष्टि कर उस सरस रस की वृष्टि करता है, जिसको पुनः पुनः पान करके भी चित्त को तृप्ति नहीं होती। यदि उसके आलोक से विपुल तारकचय आलोकित हैं, तो इसकी ज्योतिर्माला भी विपुल कविकुल मानस को ज्योतिर्मयी बनाती है। हमारा यह कविता-कामिनी-कान्त सूर होकर भी वह ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल नेत्र रखता है, जिसकी दर्शन-शक्ति महती और अवलोकन-सामर्थ्य असीम है। वह भाव राज्य का चक्रवर्ती सम्राट् है, प्रतिभा कुलवधूका शृंगार है, नव-रस मधुमास का वसन्त समीर है, उक्ति आलापिनी का मधुर निनाद है, व्यंजना अमरावती का पुरन्दर है, अलंकार विकच कमल का लावण्य है और सरसता-सौभाग्यवती-सीमन्त का सिन्दूर है। उसका सूर-सागर भाव का सुमेरु, मधुरता का मन्दिर, कान्त कवितावली का निकेतन, वाणी-विलास का विलास भवन और वर्णना का विचित्र क्रीड़ास्थल है। किन्तु उसमें मानवता की विविध आदर्शमयी लोकपावन मूर्ति का दर्शन दुर्लभ है।

सूर-सागर के बालचरित-वर्णन की चारुता अवर्णनीय है, वात्सल्य रस उसमें छलकता मिलता है, कहीं कहीं शान्त रस की उच्छ्वासमयी पावन धारा प्रखर गति से प्रवाहित है, वीर रस का भी अभाव नहीं है, अन्य रस भी यथा स्थान बड़ी निपुणता के साथ अंकित हैं; किन्तु शृंगार रस ही उसका प्रधान वर्णनीय विषय है, समस्त ग्रंथ शृंगार रस से प्लावित है। इस प्लावन का प्रेम-प्रवाह बड़ा ही मनोहर है, किन्तु उसमें शृंगार रस के अभव्य और अमनोरम आवर्त्त भी विद्यमान हैं। प्रेम का वह उच्च आदर्श जिसका स्पर्श मर्मस्थल को नन्दन कानन में परिणत करता है, मानवता की वह महिमामयी मूर्ति जिसके पुनीत पदतल पर जातीय गौरव का कमनीय कुसुम कदम्ब सादर समर्पित होता है, पारिवारिक परस्पर सम्बन्ध के वे आदरणीय व्यापार जो सांसारिक जनों के संसार को स्वर्गीय सुख का

आधार बनाते हैं, कौटुम्बिक प्रथा के वे सुन्दर निदर्शन जो कुटुम्ब में सुख शान्ति सम्वर्धन के सूत्र होते हैं, व्यावहारिक वे कार्य्य कलाप जिनमें आत्मोत्सर्ग की अद्भुत आभामयी मूर्ति विराजमान होती है, धार्मिक भाव के वे महान् रहस्य समूह जो स्वार्थ-संघर्षण जनित उत्तापतप्त प्राणि पुंज को पारिजात तरुछाया के समान सुखद अथच शान्तिप्रद होते हैं, पूर्ण कला से विकसित सूर-सागर में नहीं पाए जाते, उनके किसी किसी अंश का आभास उसमें भले ही हो।

सामने देखिए, एक शान्तिमयी मूर्त्ति खड़ी है। पावनता उस पर पुष्प वर्षण कर रही है, मर्य्यादा उत्सर्ग हो रही है, सहृदयता स्तवपाठ में संलग्न है और भावुकता उसकी प्रशंसा में सहस्र-मुख है। उसके विशाल भाल पर विवेक का भव्य तिलक विराजमान है, प्रसन्न वदन मण्डल पर वंदनीय भावों का विकाश है, विस्फारित उज्वल नेत्र-द्वय से जगत्-विमुग्धकरी पवित्र ज्योति विकीर्णित है, और 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के आनन्द कोलाहल से उसका पुनीत हृदय-देश स्फीत है। यह शान्तिमयी मूर्ति साहित्य मानसरोवर का मराल है, जो नीर-क्षीर का सच्चा विवेक रखता है, जब चुगता है तब मोती ही चुगता है, और अपनी गौरवमयी गति से अपरिमित मानव के मानसों को गौरवित बनाता है। उसकी पूत लेखनी के स्पर्श से सरसता पवित्रीभूत हुई, मधुरता स्वर्गीय मन्दाकिनी बनी, व्यंजना में मानवता व्यंजित हुई, ध्वनि में धर्म्म-धुरंधरता ध्वनित हो पड़ी, और कविता में लोकहितकारिता सुर-सरिता की पवित्र धारा प्रवाहित होने लगी। उसकी प्रतिभा भगवती भारती की कमनीय कीर्ति है, सुरुचि मालिका की कलित कुसुमावली है, मानसिक महत्ता मनोरम कमलकलिका की विकास-क्रिया है और भाव-भव्यता कान्त कादम्बिनी की निर्मल सलिल धारा है। वह उस रामचरित-मानस का रचयिता है, जो सत्साहित्य का सर्वस्व, लोकोत्तर चरित का भाण्डार, महान् आदर्श का आदर्श, मानवीय महत्व का

निदर्शन, और पुनीत कार्य कलाप-पयोधि का धीर प्रवाह है। वह मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की मर्य्यादाशीलता से मर्य्यादित है, पतिप्राणा विदेहनन्दिनी के प्रसिद्ध पातिव्रत प्रसंग से प्रतिष्ठा-प्राप्त है, भारत भुविभूषण महाप्राण भरत की महाप्राणता से महाप्राणित है, और तेजस्विता-मूर्ति सुमित्रा सुवन की चकितकरी तेजस्विता से तेजःपुंजकलेवर है। उसमें सत्यव्रत महाराज दशरथ जैसे आदर्श पिता का, नितान्त तरल-हृदया औदार्य्यमयी कौशल्या जैसी आदर्श माता का, आत्मोत्सर्ग-व्रतरता सुमित्रा देवी जैसी आदर्श सपत्नी का, लोकोत्तर प्रेम-परायणा पूजनीया जनकजा जैसी आदर्श पत्नी का, आत्मत्याग मंत्र के प्रसिद्ध देवता भरत और सुमित्रा-कुमार जैसे आदर्श भ्राता का, और सेवा समान कठोर कर्म्म के कर्म्मठ व्यक्ति पवनकुमार जैसे आदर्श सेवक का उदात्त चरित बड़ी ही ज्वलन्त भाषा में बहुत ही निपुणता के साथ वर्णित है। वृद्ध-विवाह का क्या बुरा परिणाम होता है, स्त्री-वश्यता कितनी अनर्थमूलक है, कुटिला दासी सोने के संसार को कैसे धूल में परिणत करती है, भ्रातृ-विरोध एक विशाल राज्य को भी कैसे भस्मीभूत करता है, सर्वलोक-विजेता होने पर भी एक अत्याचारी नृपति का किस प्रकार अचाञ्चक अधःपात होता है, ये बातें इस ग्रंथ में ऐसी शिक्षाप्रद रीति से अंकित हैं, कि उनका पठन और मनन एवं उनसे समुचित उपदेश ग्रहण करके एक अनुन्नत समाज भी उन्नत हो सकता है, और एक पतनप्राय देश भी विनाश गर्त्त में निपतित होने से बच सकता है। परम्परागत आर्य्य सभ्यता का जो उद्देश है, आर्य्य जाति की हृदय वीणा का जो अत्यन्त प्रिय मधुर निनाद है, उसका चिर अर्जित ज्ञान-आलोक जो संसार को आलोकित करने का मूलमंत्र है, उसका वह उच्च विचार जो प्राणिमात्र पर सुधा वर्षण करता है, उसका वह आत्म-उत्सर्गमूलक प्रेम जो जीवमात्र का जीवन सर्वस्व है, उसका वह उदार भाव जो भावु

कता देवी का हृदय-विलम्बी रत्नहार है, उसका वह अद्भुत ईश्वरीय संगीत जो आज भी जगत् को विमुग्ध बना रहा है, यदि आप ढूँढ़ेंगे तो सांगोपांग इसी ग्रंथ-रत्न में पावेंगे। ऐसी अवस्था में आप देखेंगे कि जो कसौटी मैंने आपके सामने उपस्थित की थी, उस पर कसने पर यही ग्रंथ आदरणीय ठहरा। अतएव जिन ग्रंथों को मैंने पहले तुलना के लिये सामने रखा था, उनसे और उनके रचयिताओं से इस ग्रथ और इस ग्रंथ के रचयिता का महत्त्व कितना अधिक है, मैं समझता हूँ यह प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं रही, तथापि मैं कुछ उदाहरण और प्रमाण भी उपस्थित करूँगा।

उदाहरण और प्रमाण

गोस्वामी जी ने मर्य्यादा और सामंजस्य स्थापन का रामचरित मानस में बड़ा ध्यान रखा है। हिन्दी संसार का कोई महाकवि इस विषय में उनका सामना नहीं कर सकता। वे धर्म्म नीति, समाजनीति और राजनीति के निरूपण में अपने उदाहरण आप हैं। आज तक उनका समकक्ष उत्पन्न नहीं हुआ, आगे क्या होगा, इस विषय में कुछ कथन करना उचित न होगा, इसको समय स्वय बतलावेगा। खेद है कि लेख लम्बा हो जाने के कारण मैं सब विषयों का उदाहरण नहीं दे सकता, तथापि दो चार विषयों का उदाहरण देने की चेष्टा करता हूँ।

कविपुंगव कालिदास रघुवंश के आदि में लिखते हैं—"वागर्थमिवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" किन्तु इन्हीं "जगत. पितरौ" में से जगज्जननी पर्वतनन्दिनी की कुमारसंभव के सप्तम सर्ग में वह पूजा की गई है, और उन पर मर्य्यादा की वह पुष्पाञ्जलि चढ़ाई गई है, कि लिखते लज्जा को भी लज्जा लगती है। उस काल से अब तक शृंगार रस से कविगण इसी प्रकार मर्य्यादा को तिलाञ्जलि देते आए हैं, और अपनी पूज्य और माननीया देवियों के नखशिख-वर्णन के समय उनके अवर्णनीय

अंगों के वर्णन में भी संकुचित नहीं हुए हैं। जहाँ उनको दम्पति-विलास वर्णन का अवसर हाथ आया, वहाँ उन्होंने उस विलास को इस प्रकार अंकित किया है, कि एक साधारण मानवी का भी ऐसा विलास-वर्णन मर्य्यादाशील पुरुषों की दृष्टि में समुचित और सुसंगत न ठहरेगा। जब अपनी माता के अंगों की भी वर्णना हम इस प्रकार नहीं कर सकते, जब ऐसा करते हमारी आत्मा संकुचित होती है, हमारे ऊपर सैंकड़ों घड़े जल पड़ते हैं, भद्र समाज में मुख दिखाना दुस्तर हो जाता है, तब जगज्जननी के अंगों की वर्णना इस प्रकार क्यों की जाती है, और क्यों ऐसा करते हमको आत्मग्लानि नहीं होती, यह बात समझ में नहीं आती। जो जगज्जननी ही नहीं हमारी इष्टदेवी है, हमारे मुक्ति-पथ की आधारभूता है, क्या उसके अवर्णनीय अंगों का वर्णन कर, उसके गोपनीय विहारों का स्वच्छन्द निरूपण कर हमारा घोर मानसिक अधःपात नहीं होता। अवश्य होता है। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् बाबू द्विजेन्द्रलाल राय लिखते हैं—

"माता के रूप का वर्णन ही क्या हो सकता है। सर्वांग में, भीतर बाहर, बात चीत और हाव भाव में माता सर्वत्र माता ही है, और कुछ नहीं।"

कालिदास और भवभूति।

किन्तु समय का प्रवाह बड़ा प्रबल होता है। सामयिक प्रवाह में सभी पड़ जाते हैं, उससे सुरक्षित रहना किसी लोकोत्तर पुरुष का ही कार्य्य है। भक्तप्रवर भक्ति और श्रद्धाभाजन हमारे कविकुल-गुरु सूरदास जी शृंगार रस के आचार्य्य और आदर्श हैं। इस क्षेत्र में जो कार्य्य उनका है, वह अभूतपूर्व है। आज तक उसीका अनुकरण होता आ रहा है। उन्होंने इस विषय में लेखनी तोड़ दी है, कमाल कर दिया है। और यही कारण है कि पश्चाद्वर्ती कविगण आज भी उनके प्रभाव से प्रभावित हैं। यदि वे चाहते तो प्रवाह की गति बदल देते किन्तु ऐसा नहीं हुआ। वे स्वयं प्रवाह में पड़े और

प्रवाहित हुए। यदि इस प्रवाह में नहीं पड़े तो महात्मा तुलसीदास ही नहीं पड़े; क्योंकि उनका आदर्श था—'सरस कवित कीरति विमल' और यही कारण है कि मर्य्यादा को मर्य्यादा उन्होंने सदा रखी, और यह उनके महत्व का एक ज्वलन्त उदाहरण है। परमाराध्या श्रीमती राधिका देवी और लोकललाम भगवान् व्रजवल्लभ का परस्पर प्रथम सन्दर्शन जब हुआ, उस काल का वर्णन सूरदास जी इस प्रकार करते हैं—

चितै रही राधा हरि को मुख।
भृकुटी विकट विशाल नयनयुग देखत मनहिं भयो रतिपति दुख॥
उतहिं श्याम इक टक प्यारी छवि अंग अंग अवलोकत।
रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत॥
सखिन कह्यो वृखभानु सुता सों देखे कुँवर कन्हाई।
सूरश्याम एई हैं व्रज में जिनकी होति बड़ाई॥१॥

सूरसागर पृष्ठ २७०

अब गोस्वामी जी के भगवान् रामचन्द्र और सती शिरोमणि जनकनन्दिनी के प्रथम सन्दर्शन का वर्णन देखिए।

चौपाई

कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व-विजय कहँ कीन्ही॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सियमुख-ससि भए नयन चकोरा॥
भए विलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥
देखि सीय-सोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचनु न आवा॥
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि दिखाई॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं विदेहकुमारी॥

सिय-सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा विचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय-अनुहारि॥

तात जनक-तनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लै आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरैं न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥

भगवान रामचन्द्र की मानव स्वभावसुलभ स्वाभाविकता, मर्यादा-शीलता, धर्म्मपरायणता आपने देखी! इन चौपाइयों में 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु' 'बोले सुचिमन अनुज सन' 'सहज पुनीत मोर मन छोभा' इत्यादि वाक्य और अंतिम तीन चौपाइयाँ कितनी भाव-व्यंजक हैं, और उनकी ध्वनि कितनी पावनतामयी है, इसको आप लोग स्वयं अनुभव करें; मैं उनकी व्याख्या करके इस लेखको बढ़ाना नहीं चाहता।

अब श्रीमती जनकनन्दिनी की स्त्रीस्वभाव-सुलभ प्रीति-प्रवणता, लज्जाशीलता और मर्य्यादा-महत्ता देखिए—

"चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता।
जहँ बिलोक मृग-सावक-नयनी। जनु तहँ बरिस कमल-सित-श्रेनी।
लता-ओट तब सखिन लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए।
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति-छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेखें।
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरदससिहिं जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।

* * * * *

धरि धीरज एक आलि सयानी। सीतासन बोली गहि पानी।
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप-किसोर देखि किन लेहू।
सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे।
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा।

*   *   *   *   *

धरि बडि धीर राम उर आने। फिरि आपुनपौ पितु-बस जाने।"

इसके उपरान्त वे जगज्जननी गिरिराज-नन्दिनी की सेवा में उपस्थित होती हैं, और उनकी स्तुति करके कहती है—

पतिदेवता सुतीय महँु मातु प्रथम तव रेख।

फिर निवेदन करती हैं—

मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सबही के।
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे वैदेही।

इस स्थल पर गोस्वामीजी ने श्रीमती जनकनन्दिनी की जो महिमामयी मूर्ति अंकित की है, वह बडी ही गंभीरतामयी है। उनको अपने हृदय का भाव प्रकट करने में मूर्ति के सामने भी संकोच है। वह कहती हैं तो वही कहती है—'मोर मनोरथ जानहु नीके' क्योंकि 'बसहु सदा उरपुर सबही के'। कैसी अद्भुत् लज्जाशीलता है! अपने हृदय के एक परम उदात्त भाव का संकेत उन्होंने इस पद्य में किया है—"पतिदेवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख"। जो पतिव्रता है, वही पतिव्रता के मर्म्म को समझ सकती हैं, अतएव भगवती पार्वती को इस पद्य द्वारा वे यह व्यंजित करती हैं, कि जब मैं भगवान् रामचन्द्र को लोचन मार्ग से हृदय में ला चुकी, 'लोचन मग रामहिं उर आनी' तो यह पातिव्रत धर्म्म के विरुद्ध होगा कि मै फिर किसी अन्य पुरुष को हृदय में स्थान दूँ। देखा आपने कवि-कर्म्म का महत्व! अधिक मैं क्या लिखूँ, दोनो महाकवियों की रचनाओं को स्वय मिलाकर देखिए और निश्चित कीजिए कि किसकी रचना कितनी महत्तामयी है।

एक उदाहरण और दूँगा। श्री सूरदासजी परम पूजनीया अपनी इष्टदेवी की शोभा यों वर्णन करते हैं—

आज अति, राधा नारि बनी।
प्रति प्रति अंग अनंग बिराजत रसवत करि त्रयलोक धनी।

शोभित केस विचित्र भाँति दुति शिखि शिखंड हरनी।
विरची माँग सभाग रागनिधि काम धाम सरनी।
अलक तिलक राजत अकलंकित मृगमद अंकवनी।
खुभी जराव फूल दुति यों मनुँ दुर्धरगति रजनी।
भौंह कमान समान वान मनों हैं युगनैन अनी।
नासातिलक प्रसून विम्बाधर अमल कमल वदनी।
चिबुक मध्य मेचक रुचि राजति विंद कुंद रदनी।
कंबुकंठ विधि लोक विलोकत सुंदरि एक गनी।
बाँह मृणाल लाल कर पल्लव मद गजगति-गवनी।
पति-मन मणि कंचन संपुट कुच रोमराजि तटनी।
नाभि भँवर त्रिवली तरंग गति पुलिन तुलिन ठटनी।
कृशकटि पृथु नितंब किंकिनियुत कदलि खंभ जघनी।
रचि आभरण शृंगार अंग सजि रतिपति ज्यों सजनी।
जीते सूरश्याम गुन कारण मुख न मुख्यो लजनी॥ १॥

[सूरसागर।]

अब गोस्वामीजी का वर्णन सुनिए। देखिए, वे श्रीमती जनकराज-दुहिता की शोभा किस प्रकार वर्णन करते हैं—

सिय-सोभा नहिं जाय वखानी। जगदंबिका रूप-गुन-खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत-नारि-अंग-अनुरागी।
जौ पटतरिअ तीय महुँ सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया।
गिरामुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
विस्व वारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमासम किमि वैदेही।
जौ छवि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मन्दरु सिंगारू। मथइ पानि पंकज निज मारू।

एहि विधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहँहि सीय सम तूल॥

गोस्वामीजी ने सौंदर्य्य-वर्णन की पराकाष्ठा कर दी है। इससे

अधिक रूप-वर्णना क्या होगी। किन्तु यह वर्णना कितनी मर्य्यादित, कितनी महत्वमय और कितनी भावपूर्ण है, इसको सहृदयगण स्वयं अनुभव करें। साथ ही यह भी सोचें कि इस वर्णना के सामने श्री सूरदासजी के छवि-वर्णन का क्या महत्व है। जो अंतर स्वर्गीय मंदाकिनी और कलिंदनन्दिनी की धाराओं में है, क्या वही अंतर इन दोनों वर्णनाओं में नहीं है? पहली उज्वला, निर्मला, पावनतामयी अथच स्वर्ग-विहारिणी है, दूसरी मनोरमा, सुंदर सलिला, ललित तरंगवती होकर भी कालिमा-रहिता नहीं है।

समग्र रामचरित मानस में मर्य्यादा के ऐसे ऐसे मनोरम और पूत आदर्श हैं, ऐसे उच्च विचारमय गार्हस्थ्य जीवन के निदर्शन हैं, जिनका आभास भी हिन्दी भाषा के अन्य ग्रथों में नहीं मिलता। खेद है कि स्थान-संकोचवश मैं उन सब का दिग्दर्शन मात्र भी नहीं करा सकता।

गोस्वामीजी का सामंजस्य-स्थापन भी अभूतपूर्व है। उनका पदानुसरण आज तक हिंदी संसार का कोई कवि उस सौंदर्य्य और निपुणता के साथ नहीं कर सका। हिंदू समाज का अधिकांश पंचदेवोपासक है। विष्णु-शिव-विरोध उसके हृदय की प्यारी सामग्री नहीं। आज भी हिंदू समाज में सर्व कार्य्य के प्रथम गणेशजी की अर्चना होती है, आज भी भगवती वीणापाणि हिंदुओं के हृदय-मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी हैं, आज भी दुर्गतिनाशिनी भगवती दुर्गा की आराधना गृह गृह में होती है। गोस्वामीजीने अपने ग्रंथों में सबका समादर किया है, सबकी उचित स्तुति की है, और इनके भक्ति भाव को इस प्रकार अंकित किया है, कि वह चिरप्रचलित हिंदू उपासना-पद्धति का आदर्श बन गया है। तथापि एकेश्वर-वाद का जीता जागता चित्र उसमें वर्त्तमान है, और वह इतना रहस्यपूर्ण है कि उसीके अन्तर्गत समस्त देवताओं की उपासना का अन्तरभाव हो गया है। क्योंकि वह जानते थे कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म

नेहजानास्ति किञ्चन' यह भाव उनके हृदय में इतना जाग्रत था कि उनकी लेखनी यह उदात्त भाव प्रगट करने में समर्थ हुई—

सिया राममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुगपानी।

वास्तव बात तो यह है कि उनका यह व्यापक विचार ही उनकी सर्वप्रियता की कुंजी है। हमारे प्रियबंधु गोस्वामीजी के प्रसिद्ध जीवनीकार श्रीयुत बाबू शिवनंदन सहाय ने इस विषय में जो कुछ लिखा है, उसको भी मैं यहाँ अविकल उद्धृत कर देता हूँ—

"गोस्वामी जी धन्य हैं। उन्होंने ऐसे समय में केवल अपनी बुद्धि और लेखनी के बल से अत्याचारियों का दर्प चूर्ण और मान मर्दन कर स्वदेशियों को सच्चे धर्म्म-मार्ग में अटल रखने का दृढ़ तथा प्रबल उद्योग किया। जिस समय अत्याचारियों का खड्ग चतुर्दिक् चमाचम चमकता हुआ सर्वदा हिन्दुओं का विशेषतः तीर्थस्थ हिन्दुओं का कलेजा कँपाया करता था, जब मत-मतान्तर के झगड़ों से लोगों की बुद्धि भ्रमित हो रही थी, जब वैष्णवगण शैवों से विरोध करने में ही ईश्वर की प्रसन्नता समझते थे, जब शैव वैष्णवों से द्वेष रखने में ही अपनी कृतज्ञता मानते थे, जब रामोपासक तथा कृष्णोपासक में भी वैमनस्य आ घुसा था, और लोग एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे। उस उद्योग से लोग आजतक लाभ उठा रहे हैं, तथा आगे भी उठाते ही जावेंगे। क्योंकि गोसाईं जी के जीवित काल की अपेक्षा आज उनकी रचनाएँ हिन्दू धर्म्म एवं जगत् पर निश्चय अधिकतर प्रभाव दिखा रही हैं। विशेष प्रशंसा की बात यह है कि सब संप्रदाय के अनुगामी, क्या वैष्णव, क्या शैव, क्या शाक्त, क्या नानकशाही, क्या वेदान्ती, सभी लोग निर्द्वेष भाव से इस का आदर करते हैं, और इससे शिक्षा ग्रहण कर आनन्द पाते हैं। जो रामोपासक हैं उनका तो कहना ही क्या ?"

श्रीमान् सत्यदेव जी ने लिखा है "जैसे अंकिल टाम्स केबिन" का उपन्यास उत्तरीय तथा दक्षिणीय अमेरिका से हबशी गुलामों का

वाणिज्य रोकने का कारण हुआ, जैसे हालही में अप्टन सिङ्क्लेयर ने अपने उपन्यास के बल से शिकागो के कसाई-घर का सुधार कराया, रूसो एमिली ने स्व लिखित उपन्यास द्वारा शिक्षा के प्राचीन ढग का प्रचार किया, जैसे इटली की स्वतंत्रता-प्राप्ति का कारण गिबन कृत "रोमन राज्य का उत्थान और पतन" नामक ग्रंथ हुआ, जैसे अगणित उपन्यासों द्वारा ईसाई धर्म्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई, वैसे ही गोसाइँ जी की रचनाओं ने शैव तथा वैष्णवों के परस्पर द्रोह एवम् रामोपासक तथा कृष्णोपासक के परस्पर वैमनस्य और रागद्वेष को दूरकर हिन्दू धर्म्म की श्रेष्ठता पूर्ण रूपेण प्रतिपादित कर देश को महान् लाभ पहुँचाया।"

हिन्दी के कतिपय और प्रसिद्ध महाकाव्यकार हैं। उनमें विवुध-वृन्द-विभूषण मैथिल-कोकिल विद्यापति, मूर्तिमान सहृदयता मलिक मुहम्मद जायसी, हिंदी साहित्य के आद्य आचार्य्य मम्मट के समान मान्य महाकवि केशवदास, और हिन्दी संसार के कालिदास कवि-वृन्द वन्द्यदेव का नाम आदर सहित लिया जा सकता है। किन्तु यदि इन लोगों की रचना साधारण आभामयी रजनी है, तो गो-स्वामी जी की रचना उज्वल आलोक अलंकृता राका निशा है। इसके अतिरिक्त वे विशेषताएँ इन लोगों के काव्यों में भी मौजूद नहीं हैं, जिनके कारण रामचरित मानस का महत्व है। महात्मा कबीर-दास धर्मोपदेशक हैं, सामाजिक उदात्त आदर्श और गार्हस्थ्य जीवन के लोकोत्तर चरित उनकी रचनाओं के विषय नहीं; अतएव इन लोगों को सामने न लाकर अब मैं यह देखूँगा कि गोस्वामी जी के विषय में देश और विदेश के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मति क्या है। रामायण के प्रसिद्ध अनुवादक ग्रीफ्स साहब अपने ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं—

"रामायण केवल हिन्दुओं का राष्ट्रीय महाकाव्य ही नहीं है, किन्तु उसमें यह विशेष गुण भी है कि वह अपने देशवासियों के

विश्वास तथा चरित्र का चित्र अत्यन्त सत्यतापूर्वक चित्ताकर्षक रूप में खींचती है। इसका फल यह होता है कि उसके अनुशीलन से योरपवासियों के बहुत से मिथ्या विश्वास और दुर्भाव जो इस संबंध में हैं, दूर हो जाते हैं; और दोनों जातियों में परस्पर सहानुभूति की वृद्धि होती है"।*

माननीय विद्वान् डाक्टर सर जी० ए० ग्रियर्सन अपने भारतवर्षीय साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—

"भारतवर्ष के इतिहास में तुलसीदास की महत्ता के विषय में इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। साहित्य की दृष्टि से रामायण के गुणों को एक ओर रखकर यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ यहाँ की सर्व जातियों द्वारा अंगीकृत है। पंजाब से भागलपूर तक और हिमालय से नर्मदा पर्य्यंत उसका प्रभाव है। वह राजमहल से लेकर झोंपड़ी तक प्रत्येक मनुष्य के हाथों में देखी जाती है, और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ण द्वारा, चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो अथवा वृद्ध, एक रूप से पढ़ी-सुनी जाती अथच आदृत होती है। वह हिन्दू जनता के जीवन, भाषा अथच चरित में प्रायः तीन सौ वर्ष से ओतप्रोत है और केवल अपने कविता-गत सौंदर्य्य के लिये ही आदर तथा प्रेम नहीं लाभ करती है, वरन् यह उनसे पवित्र धर्म्म पुस्तक की भाँति सम्मानित होती है। जिस धर्म्म का उसने प्रचार किया है, वह सादा और उच्च है, एवं ईश्वर के नाम के पूर्ण विश्वास पर निर्भर है"।

---

* The Ramayan is not only their (Hindus) national epic, but has also this further merit, that it depicts the faith and character of their countrymen in the most truthful and at the same time the most engaging light, so that a knowledge of it can not but correct many false European prejudices on the subject and conduce to a greater sympathy between the two races."

"मनुष्य का अपने पड़ोसी के प्रति क्या कर्तव्य है, तुलसीदास इसके बड़े प्रचारक थे। वाल्मीक जी ने भरत जी की धर्म्म-परायणता, लक्ष्मणजी के भ्रातृ-प्रेम और सीताजी के स्त्री-धर्म्म की प्रशंसा की थी, किन्तु तुलसीदास ने उन्हें आदर्श बना कर दिखला दिया।"*

एक दूसरे स्थान पर वही महोदय लिखते हैं—

"भारतवर्षीय धर्मोन्नति के इतिहास में जो आसन तुलसीदास जी को प्रदान किया जाता है, उससे कहीं उच्चतर आसन के अधिकारी वे देखे जाते हैं; क्योंकि हम लोग धर्म्म-प्रचारक की श्रेष्ठता की अटकल उसके कार्य्य-फल से लगाते हैं। यह कहने में कि ठीक नौ करोड़ मनुष्य इनके लेखों पर ही अपने धर्म्म तथा सदाचार के तत्वों को स्थापित किए हुए हैं, हम सामान्य गणना से बहुत ही कम अनुमान करते हैं। वर्त्तमान काल में इनकी रचनाएँ लोगों पर जो प्रभाव दिखाती हैं, यदि हम लोग उसीसे जाँच करें तो एशिया के तीन या चार बड़े बड़े लेखकों में से एक यही महाशय हैं।"

* "The importance of Tulsi Das in the history of India cannot be overrated. Putting the literary merits of his Ramayan out of question, the facts of its universal acceptance by all classes from Bhagalpur to the Panjab, and from the Himalaya to the Narbada is surely worthy of note The book is in everyone's hands from the court to the cottage, and is read or heard, and appreciated alike by every class of the Hindu community whether high or low, rich or poor, young or old It has been interwoven into the life, character and speech of the Hindu population for more than three hundred years, and is not only loved and admired by them for its poetic beauty, but is revered by them as their Scriptures The religion he preached was simple and sublime one—a perfect faith in the name of God

"Tulsi Das was the great preacher of one's duty towards one's neighbour. Valmiki praised Bharat's sense of duty, Lachman's brotherly affection, and Sita's wifely devotion, but ulsi taught them as an example"

"इस (रामायण) की सुख्याति पर्य्याप्त होने में तनिक भी संदेह नहीं है। अपने देश में इसने सब ग्रंथों पर प्राधान्य लाभ किया है और सर्व साधारण पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ रहा है कि उसे बढ़ा चढ़ाकर कहना कठिन कार्य्य है।"

"विलायत में जितना बाइबिल का प्रचार है, उससे कहीं अधिक बंगाल और पंजाब एवं हिमालय और विंध्य के मध्यस्थ प्रदेशों में इस महान् ग्रंथ का प्रचार पाया जाता है।" *

गोस्वामीजी के जीवनी-लेखक सहृदयवर बाबू शिवनंदन सहाय लिखते हैं—

"रामायण में प्रदर्शित चित्रों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सद्धर्म-निरूपण तथा सत्-शिक्षा-प्रदान के निमित्त ही इस ग्रंथ की अवतारणा हुई है। ग्रन्थरूपी नाट्यशाला में खड़े होकर इसके पात्रगण आज भी अपने उदाहरणों से आर्य्यत्व के परमोत्तम गुण सद्धर्मानुराग, सत्यता, सरलता, धीरता, वीरता, उदारता, सहनशीलता, दयालुता आदि की सुंदर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।"

---

* We judge of a prophet by his fruits, and I give much less than usual estimate when I say that fully ninety millions of people have heard their theories of moral and religions conduct upon his (Tulsi Das's) writings If we take the influence excercised by him at present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia J R A. Society July, 1903, Article XVI P. 455.

I do not think that there can be any doubt as to its reputation being deserved In its own country it is supreme over all other literatures and excerises an influence which it would be difficult to describe in exaggerated terms J R A Society 1903, P 451.

Over the whole of the Gangetic Valley his great work (the Ramayan) is better known than the Bible is in England. Ibid. P. 459.

"लाखों जन इसे अपना जीवन-सर्वस्व समझते हैं, करोड़ों इसीका आश्रय ग्रहण करके कतिपय कुत्सित कर्मों से बचते हैं। कितने इसके पाठ से विरक्त साधु बन जाते हैं। एवं कितने पण्डित और ज्ञानी कहलाने लगते हैं।"

"रामायण केवल कविता-रस के प्रेम ही से नहीं पढ़ी जाती, यह धर्म्म का एक अंग और धर्म्म-शास्त्र की एक प्रधान पुस्तक बन गई है। धर्म्म-शास्त्र हीं क्यों? समाज नीति, व्यवहार नीति, राजनीति इत्यादि सब नीतियों का शास्त्र कहलाने का यह ग्रंथ अधिकारी है।"

"अँगरेजी कवि वर्डस्वर्थ के समान गोसाईं जी प्राकृतिक सौंदर्य्योपासक थे, एवं स्वच्छता तथा सत्यता को उसका प्रधान अंग मानते थे। वे अपने सौंदर्य्यदेव को विषय के गँदले जल से स्नान नहीं कराते थे, वरन् पवित्रता के स्वच्छ गंगा-जल से स्नान कराकर उसे रचना मन्दिर में स्थापित करते थे।"

"श्रीयुत ज्ञानमोहन दत्त ने "प्रवासी" भाग ११ खण्ड २ में लिखा है कि इस पुस्तक में धर्म्म भाव जिस रूप से जाग्रत है, वैसी धर्म्म-भाव-समन्वित दूसरी और कोई पुस्तक नहीं देखी जाती। कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज श्रीमान् बाबू शारदाचरण मित्र ने एक लेख में रामायण के कुछ पद उद्धृत करते हुए गोस्वामी जी को "भक्तिभाजन भावुक श्रेष्ठ कवीश्वर" तथा "भारतवर्षीय कविगण में अग्रणी" लिखा है।"

गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी।

समय का प्रभाव बदल गया है। आज दिन पुनीत भारतवर्ष में यूरोपियन आदर्श का बोलबाला है, 'यथाराजा तथा प्रजा' की चरितार्थता हो रही है। आत्मत्याग का स्थान आत्मगौरव, सौजन्य का स्थान अहंभाव, कर्तव्यनिष्ठा का स्थान कामुकता, धर्म्म-परायणता का स्थान अहमहमिकता, पवित्र नीति का स्थान पॉलिसी, सत्यता का स्थान प्रवंचना, लोकहितकारिता का स्थान स्वार्थलोलुपता और

उदारता का स्थान अनुदारता ग्रहण कर रही है। आज गुरुजन-गौरव-गरिमा से मनोवृत्ति का समादर अधिक है, पावन पति-प्रेम से साम्यवाद का महत्व विशेष है और भ्रातृ-प्रीति उदरम्भरिता के सामने तिरस्कृत है। आज आलुलायित-कुन्तला अविकच-वदना आर्य्य सभ्यता धीरे धीरे अपना चिर अधिकृत उच्च सिंहासन परित्याग कर रही है, और उस पर धीर-पादविक्षेप-परायणा उल्लासमयी सभ्यता नाम-धारिणी एक अर्द्ध सभ्यता क्रमशः आरोहण कर रही है। नहीं कहा जा सकता, ऊँट किस करवट बैठेगा, और कविकुल-तिलक महात्मा तुलसीदास और उनकी अद्भुत रामायण का महत्व अब सुरक्षित रहेगा या नहीं। किन्तु मैं यही कहूँगा, "सत्यमेव जयते नानृतम्"। भगवान कमलिनी कुलवल्लभ कब तक घनपटल से आच्छन्न रहेंगे? वे यथा-समय मुक्त होंगे और उनकी आभा से गगनमण्डल जगमगाने लगेगा। जब तक संसार में ज्ञान-पिपासा रहेगी, सदुपदेश का समादर होगा, आदर्श चरित लोक-हृदय को उत्फुल्ल करेंगे, मर्य्यादा समादृत होगी, आत्मोत्सर्ग का महत्व समझा जायगा, और पवित्र आर्य्य सभ्यता धरातल को पावन करती रहेगी, उस समय तक गोस्वामीजी मानव हृदय के उच्च आसन पर विराजमान रहेंगे, और उनका लोकोत्तर रामचरित मानस गौरव की दृष्टि से देखा जायगा। सत्कवि और सत्कविता यदि संसार में अजर अमर नहीं है, तो फिर नश्वर जगत् में अजर अमर का प्रश्न ही व्यर्थ है। मैं निम्नलिखित श्लोकों के साथ इस लेख को समाप्त करता हूँ।

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाःकवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजम् भयम्।
ते धन्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरंयशः।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्येषु कीर्तिताः"

---

(३) गोस्वामी तुलसीदास

[लेखक—डाक्टर सर जार्ज ए० ग्रियर्सन]

जीवनचरित

मध्य-कालीन उत्तरीय भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास के जीवन के संबंध में दो तीन तिथियों तथा कुछ प्रासंगिक विवरणों को छोड़कर उनकी रचनाओं से वस्तुतः कुछ अधिक नहीं ज्ञात होता। कहा जाता है कि उनके मित्र वेणीमाधव दास ने उनका जीवनचरित लिखा था। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में लेखक शिव-सिंह ने उसका उल्लेख किया है, पर उसकी कोई प्रति प्राप्य नहीं है। कवि के तत्कालीन दो लेख मिलते हैं—एक पंचनामा और दूसरा रामचरित मानस का एक पूर्ण कांड। ये दोनों उन्हीं के हाथ के लिखे हुए हैं।

उनके संबंध में बहुत सी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनमें से कुछ विश्वास के सहित मानी जा सकती हैं। संयुक्त प्रांत के बाँदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में इनका सन् १५३२ ई० में जन्म हुआ था। ये पराशर गोत्र के सरवरिया ब्राह्मण* थे। इनके पिता का नाम आत्माराम, माता का हुलसी और इनका रामबोला था। एक पद† में लिखा है कि जन्म के अनंतर ही इन्हें माता पिता ने त्याग दिया था। अधिक संभव है कि ये उन अभागे बच्चों में से रहे हों जो अभुक्त-मूल कहलाते हैं अर्थात् जो मूल नक्षत्र के आरंभ में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के बच्चे पिता के घातक होते हैं। उनके दोष के परिहार का

---

* चार स्थान इनके जन्मस्थान होने के लिये स्वत्व प्रकट करते हैं, पर राजापुर का ही अधिक स्वत्व है। इनकी जाति के बारे में भी झगड़ा है। कुछ इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहते हैं।

† विनयपत्रिका, २२७, २।

यही उपाय है कि उन्हें त्याग दे या ऐसा प्रबंध करे कि उनके जीवन के पहले आठ वर्ष तक उनका मुख पिता न देखे। उन्हें एक रमते साधु ने उठा लिया जिसने तुलसी-पत्र के नाम पर जो बच्चों की शुद्धि में काम आता है, इनका नाम तुलसीदास रखा। तब से इसी नाम से वे प्रसिद्ध हुए। इस नरहरिदास साधु के साथ जो उनके गुरु भी हो सकते हैं, ये सारे उत्तर भारत में घूमे। गुरु से इन्होंने रामकथा * सुनी थी पर (संस्कृत की †) अज्ञता के कारण ये पहले उसके महत्व को पूर्णतया न समझ सके। कई बार सुनने पर इनकी बुद्धि ने यथाशक्ति उसे ग्रहण किया और तब उसे अपने लाभ के लिये तथा अपने ही से लोगों के लिये भाषा में लिखने का विचार किया। बड़े होने पर ये गृहस्थ हुए और दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से विवाह किया जिससे इन्हें तारक नामक पुत्र हुआ जो छोटी अवस्था ही में मर गया। इनका स्त्री पर बड़ा प्रेम था और उसका विरह ये नहीं सह सकते थे। वह पक्की वैष्णवी थी। एक समय जब वह मायके गई थी, तब ये भी वहाँ तक पीछे पीछे गए थे। इस पर उसने स्त्री पर इतना प्रेम रखने और राम में इतना प्रेम न रखने के लिये भर्त्सना की। पश्चात्ताप के कारण तुलसीदास ने उसे उसी समय छोड़ दिया और साधु हो गए। कहा जाता है कि उन्होंने उसे एक बार फिर देखा था, पर पहचाना नहीं। पहले अयोध्या में और फिर काशी में स्थान बनाकर ये उत्तरीय भारत में दूर दूर तक घूमकर राम नाम का उपदेश देते रहे। पहले इन्हें बहुत झगड़ों का सामना करना पड़ा, पर इनके पवित्र जीवन और आकर्षक मूर्त्ति ने सब रुकावटों पर विजय प्राप्त की। काशी ऐसे स्थान में जहाँ शिवपूजा ही प्रधान है, इन्होंने सार्वजनिक प्रतिष्ठा

---

* राम०, १. ३०।

† यह कभी संस्कृत-विज्ञ नहीं थे और इनके कुछ श्लोकों में व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं।

प्राप्त की थी। इनके कवित्व की प्रसिद्धि बहुत दूर तक फैल गई और इनके अनेक मित्र तथा मतानुयायी हो गए जिनमें सब से अधिक प्रसिद्ध अंबर-नरेश राजा मानसिंह (१६१४) और अब्दुर्रहीम खानखाना (१५५६–१६२७) थे। काशी का धनी भूम्याधिकारी टोडर मल (जो उसी नाम के अकबर के कोष मंत्री से भिन्न था) इनके अंतरंग मित्रों में से था जिसकी मृत्यु पर इन्होंने ने एक मार्मिक कविता लिखी थी। यह कविता अत्युत्तम है। टोडरमल की मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारियों में बँटवारे के लिये झगड़ा हुआ जिसमें तुलसीदास पंच माने गए थे। वह पंचनामा उन्हीं के हाथ का लिखा हुआ है और उस पर संवत १६६९ (१६१२ ई०) दिया हुआ है।

सन् १६१६ में भारत में प्लेग आया और आठ वर्ष तक रहा। कवि को भी यह रोग हुआ था, क्योंकि उनकी एक छोटी रचना हनुमान बाहुक में इसी प्रकार के रोग का वर्णन है। कुछ स्वस्थ होने के अनंतर फिर रोग का आक्रमण हुआ जिससे ये सन् १६२३ ई० में काशी में मर गए।

रचनाएँ

अनेक छोटी कविताओं के सिवा बीस से अधिक ग्रंथ तुलसीदास कृत बतलाए जाते हैं, पर उनमें से कुछ तो अवश्य ही दूसरों की कृति हैं और कुछ के रचयिता के बारे में शंका है। अधिक मान्य सूची में बारह ग्रंथों का वर्णन है जिनमें छः छोटे और छः बड़े ग्रंथ हैं। छोटी रचनाओं के नाम ये हैं—(१) रामलला नहछू (२) वैराग्य संदीपिनी (३) बरवै रामायण (४) जानकी मंगल (५) पार्वती मंगल (६) रामाज्ञा। छः बड़े ग्रंथ ये हैं—(७) कृष्णगीतावली (८) विनय-पत्रिका (९) गीतावली (१०) कवितावली (११) दोहावली (१२) रामचरित मानस।

तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे अर्थात् रामचंद्र के उपासक होते

हुए भी वे सनातन धर्म की स्मृतियों को मानते थे तथा वर्ण-विभाग की प्रथा का भी सम्मान करते थे। स्मार्त्त धर्म में अन्य बातों के साथ शिव का पूजन और चौका अलग रखना भी है। इन दोनों बातों में ये कट्टर वैरागी वैष्णवों से भिन्न थे जो पुरानी प्रथा को छोड़कर केवल विष्णु के किसी एक अवतार का पूजन करते थे और एक साथ खाते-पीते थे। जब ये अयोध्या में ठहरे हुए थे, तब इनका इन वैरागियों का साथ था और यहीं इन्होंने रामचरितमानस के प्रथम तीन कांड लिखे थे। इसके पीछे उनसे आचार व्यवहार आदि को लेकर मतभेद हुआ। तब ये काशी चले आए और यहीं उस काव्य को पूर्ण किया।

ईश्वर के अवतार रामचंद्र में इनकी कितनी भक्ति थी, यह इनके ग्रंथों की सूची से ही विदित है। केवल दो (५ वीं और ७वीं संख्या) को छोड़कर अन्य सब ग्रंथ उन्हीं के कीर्त्तन में लिखे गए हैं। संख्या ७ विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की स्तुति के कुछ पदों का संग्रह है। संख्या ५ एक छोटा काव्य है जिसमें शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। इस विषय पर कुछ विस्तार के साथ रामचरितमानस में भी लिखा गया है। जैसा लिखा जा चुका है, तुलसीदास की शिव पर बड़े और कृपालु देवता होने के कारण भक्ति थी, पर वैसी नहीं जैसी रामचंद्र पर थी। शिव ही ने संसार के उद्धारार्थ रामकथा पार्वती से कही थी और इस प्रकार वह मनुष्यों को ज्ञात हुई थी।

पूर्वोक्त ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय यहाँ उचित होगा।

(१) रामलला नहछू—इस ग्रंथ के असली होने में संदेह है। इस छोटे काव्य में रामचंद्र के उपनयन संस्कार के समय नख काटे जाने का वर्णन है। यह ग्रामीण रीति अभी तक ऐसे अवसरों पर और अवध तथा बिहार में विवाह के समय होती है। पूरा काव्य ग्रामीण शैली तथा छंद में है।

(२) वैराग्य-संदीपिनी–इसमें पवित्रता का सच्चा स्वरूप वर्णित है और वैराग्य का उपदेश दिया गया है। अपने उपास्य देवता को पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देने से होनेवाली पूर्ण शांति का इसमें जो वर्णन है, वह कवित्व-सौंदर्य से हीन नहीं है।

(३) बरवै रामायण–इसमें रामचंद्र का संक्षिप्त इतिहास बरवै छंद में लिखा गया है। यह बहुत छोटा है और जैसा मिलता है, वह अपूर्ण है। कुछ लोग इसे सूची से निकाल देते हैं।

(४) जानकी-मंगल और (५) पार्वती-मंगल–इन दो छोटी रचनाओं में सीता और रामचंद्र तथा पार्वती और शिव के विवाहों का वर्णन है। इन दोनों के असली होने में भी शंका है। संख्या ४ का घटनाक्रम कवि के अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथों में दिए हुए क्रम से भिन्न है। पार्वती-मंगल में संवत् १६४३ (१५८६ ई०) दिया है।

(६) रामाज्ञा—यह दोहों का संग्रह है जिससे यात्रा या अन्य बड़े कामों के समय शकुन देखा जाता है। इसका विषय भी राम-कथा है और यह सात अध्यायों में है जिनमें से प्रत्येक सात दोहों के सात सप्तपदों में विभाजित है; अर्थात् इसमें कुल ३४३ दोहे हैं। शकुन क्रम से—जिस प्रकार वर्जित क्रम है—एक दोहा निकालने पर मिलता है। इसमें सं० १६५५ (१५९८ ई०) दिया है।

(७) कृष्ण गीतावली—बड़े ग्रंथों में यह प्रथम है जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। इसके विषय के अनुरूप ही तुलसीदास ने इसे अपनी रीति के अनुसार अवधी में न लिखकर ब्रजभाषा में लिखा है। कवि के ग्रंथों में यह बहुत कम पढ़ा जाता है, पर पढ़ना सुफल हो जाता है, क्योंकि इसमें बहुत से अच्छे पद हैं। इन्होंने शृङ्गार रस-पूर्ण कुशिक्षादायक अंग को छोड़ दिया है जो कृष्ण-भक्ति के साहित्य को गंदा किए है।

(८) विनयपत्रिका—यह कवि के अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथों में से है जिसमें उन्होंने अपने उपास्य देवता के संबंध में अपने भावों को

और सांसारिक जीवों के संबंध में उस उपास्य देवता के भावों को ऐसा हृदय खोलकर और रसोद्गार के साथ व्यक्त किया है जिसकी तुलना शायद ही कभी हो सके।

इसकी रचना के बारे में एक मनोहर कथा कही जाती है। तुलसीदास ने अत्यंत कष्ट पाकर दयालु परब्रह्म परमेश्वर रामचंद्र को उन कष्टों से त्राण पाने के लिये यह पत्रिका लिखी। कुल ग्रंथ विनय के पदों से पूर्ण है जिनमें पहले क्रम से परब्रह्म के द्वारपाल, सभासद आदि छोटे छोटे देवताओं की प्रार्थनाएँ की गई हैं और तब उनके इष्ट देवताओं की प्रार्थना है जो आत्म-समर्पण और दैन्य भाव के मार्मिक उद्गार हैं। अंतिम पद में लिखा है कि किस प्रकार सांसारिक राजाओं के समान इस पत्रिका का स्वीकार कर रामचंद्र ने इसपर हस्ताक्षर करके सही की।

विनयपत्रिका कवि के स्तुत्य ग्रंथों में से एक है; पर भाषा की क्लिष्टता के कारण बहुत से पढ़नेवाले इसको पढ़ने का साहस नहीं करते। लेखक के भाव का वेग कभी कभी हृदयोद्गार की चरम सीमा तक पहुँच जाता है जिससे शैली में ऐसी क्लिष्टता आ गई है कि वह उनके कथा-काव्य की प्रकृत सुंदर शैली से भिन्न हो गई है। इस काव्य की शैली ही सुगम विचारों के प्रतिकूल है। यह एक महाराज को लिखा हुआ प्रार्थनापत्र है जिसमें उच्च कोटि के शब्दों तथा मुहावरों का समावेश है। अतः यह शैली विषय के अनुकूल तथा उपयुक्त है। पर संस्कृतविज्ञ पाठकों के ही समझने के योग्य है। इन बाह्य दोषों के रहते भी यह प्रशंसित ग्रंथ उनके लिये पठनीय है जो भारत के धार्मिक इतिहास को जानना चाहते हैं। ये एक ऐसे पुरुष हैं जिनका हिन्दुओं की कई पीढ़ियों पर जो प्रभाव पड़ा है, वह बढ़ा कर नहीं कहा जा सकता और जिन्होंने अपने हृदय के उन आंतरिक भावों को बाहर निकालकर सब पर प्रकट कर दिया है जिन्हें अन्य लेखकों ने जानकर भी केवल गुप्त रूप से कहने का साहस किया है।

यह हृदय के उद्गारों का ग्रंथ है, पर ये उद्गार एक पत्रिका और भक्त आत्मा के हैं।

(९) गीतावली में तुलसीदास ने मागध का नया रूप धारण किया है। दयालु तथा स्नेही ईश्वर के प्रति पाठकों में श्रद्धा बढ़ाने के लिये लिखे गए भजनों का यह संग्रह है। अन्य ग्रंथों के समान इसमें भी यह वही प्रेम दिखलाते हैं जो पुत्र को पिता के प्रति होता है। इन भजनों की भाषा इन्होंने कवि-परंपरागत व्रजभाषा ही रखी है और विनय-पत्रिका के समान इसका भाव उद्गारपूर्ण न होकर माधुर्य तथा सौंदर्य से पूर्ण है। इस प्रकार रामचंद्र की सारी कथा का इन्होंने ऐसी मनोहर शैली में वर्णन किया है जो इनके बड़े काव्य से पूर्णतया भिन्न है। इस ग्रंथ में ऐसा कोई पद नहीं है जो पूरा छोटा चित्र न हो। पहले कांड के पद तो बहुत ही मनोमोहक हैं जिनमें इन्होंने अपने नायक तथा उनके भाइयों की बाललीला का वर्णन किया है। बाल-स्वरूप राम का इसमें सच्चा उपदेश है।

(१०) कवितावली भी सब से भिन्न है। इसमें कवि भाट के समान राम की कीर्ति का वर्णन करता है जिससे उपास्य देव के बल-विक्रम का चित्र देखकर भक्तों का उत्साह बढ़े। इसकी भाषा अवधी है जिसमें व्रजभाषा भी मिली हुई है। इस ग्रंथ से बढ़कर तुलसीदास के और कोई ग्रंथ उनके शब्दकोष की प्रधानता नहीं प्रकट करते। इसमें वीररस प्रधान है और इसे बिना संस्कृत के अनावश्यक सहारे के इन्होंने वीरोचित शैली में लिखा है। युद्ध-दृश्य में शब्द-योजना ऐसी है कि उससे शस्त्रों की खड़खड़ाहट और प्रतिद्वंद्वियों का कलकल प्रकट होता है। इसी प्रकार लंका-दहन के वर्णन में ज्वाला की लपटों के शब्द का आभास मिलता है। कथा-वर्णन छः कांड में समाप्त होता है। सातवाँ, जो पूर्ण ग्रंथ के आधे के लगभग है, भिन्न भिन्न समयों की बनी हुई कविताओं का संग्रह है। इसके पहले के कांडों से इसका कोई संबंध नहीं है। निज की बातों के

उल्लेख के कारण कवि के समय तथा अनुभवों के ज्ञान के लिये यह बड़े काम का है। इससे इनके जन्म, माता-पिता तथा उन कष्टों का वृत्तांत जो इन्हें सहने पड़े थे, मालूम पडता है: और एक पद से यह भी ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ को रचना सन् १६१२ और सन् १६१४ के वीच में हुई थी। हनुमान वाहुक भी इसी ग्रंथ में सम्मिलित है जिसका उल्लेख हो चुका है और जिसमें इन्होंने लिखा है कि मैं महामारी से किस प्रकार आक्रांत हुआ।

(११) दोहावली—इसका अर्थ दोहों का संग्रह है, पर यह निश्चित नहीं है कि इसका भाव क्या है। इस नाम का एक ग्रंथ है (नीचे देखो)। कुछ विज्ञों का कथन है कि सूची में एक राम-सतसई का [राम की प्रशंसा में सात सौ छंद (इसी छंद में)] उल्लेख है। पर वहुत से विद्वानो का मत है कि यह ग्रंथकार की रचना न होकर उसी नाम के दुसरे मनुष्य की है। यह ग्रंथ उत्तम नहीं है। पर यदि सच्चा हो तो इस कारण महत्व का है कि पाँचवें अध्याय में कवि ने धर्म के विरुद्ध कर्मों के संवंध में उपदेश दिया है। सूची में उल्लिखित ग्रंथ दोहावली को मान लेने में केवल यह कठिनाई है कि इसमें राम-चरित मानस, रामाज्ञा और राम सतसई के वहुत से दोहे सम्मिलित हैं। ५७२ दोहों में इस प्रकार के २४८ दोहे अभी तक मिले हैं; और इससे अधिक हो सकते हैं। यदि यह सच्चा ग्रंथ है तो अवश्य कुछ मौलिक दोहे रहे होंगे जिनमें उनके भक्तों ने और दोहे जोड़कर कवि के अत्युत्तम दोहों का संग्रह कर लिया है। वर्तमान लेखक की यही सम्मति है; और यदि यह ठीक है तो राम-सतसई के वनने के इतनों दिनों वाद यह संग्रह तैयार हुआ कि वह कवि का स्वतंत्र ग्रंथ मान लिया गया था।

(१२) रामचरित मानस (राम-चरित्र का सरोवर) तुलसी-कृत रामायण के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति यही ग्रंथ है और समय के अनुसार यही पहला ग्रंथ है जो

सन् १५७४ ई० में जब कवि की अवस्था ४३ वर्ष की थी, आरंभ हुआ था। इसी पर कवि की ख्याति निर्भर है। इसे नौ करोड़ मनुष्यों की बाइबिल कहते हैं और वस्तुतः उत्तरीय भारत के प्रत्येक हिंदू को इसका जितना ज्ञान है, उतना मध्य कक्षा के अँग्रेज़ किसान को बाइबिल का भी नहीं है। भारत का एक भी हिंदू, राजा या कुटीनिवासी ऐसा न होगा जो इसके प्रचलित दोहों को न जानता हो या जिसकी बात-चीत में इसका रंग न हो। भारतीय मुसलमानों की भाषा में इसकी उपमाएँ घुस गई हैं और उनके बहुत से मामूली मुहावरों का, यद्यपि वे यह नहीं जानते, पहले पहल इसी ग्रंथ में प्रयोग हुआ है।

परमेश्वर के अवतार रूप में रामचंद्र का चरित्र इस ग्रंथ में वर्णित है। इसका विषय वही है जो वाल्मीकि के प्रसिद्ध संस्कृत रामायण का है। पर तुलसीदास का ग्रंथ उसका किसी प्रकार अनुवाद नहीं है। उसी घटना पर नई कथा रची गई है, पर घटनाओं के वर्णन तथा महत्व के विवरणों में भिन्नता है*। ग्रंथकर्ता स्वयं लिखते हैं कि उन्होंने यह चरित्र अनेक ग्रंथों से लिया है। उनमें से वाल्मीकि की कृति को छोड़कर मुख्य मुख्य ग्रंथ अध्यात्म रामायण (ब्रह्मांड पुराण का एक खंड), भुशुंडि रामायण, वसिष्ठ संहिता और जयदेव कृत प्रसन्नराघव हैं।

इस काव्य के प्रति भारत की श्रद्धा दिखलाने को एक कथानक यहाँ उद्धृत किया जाता है। रामचन्द्र ने वाल्मीकि के ग्रंथ पर प्रसन्नता दिखलाने को हस्ताक्षर किए। इस पर हनुमानजी एक शिला पर नख से दूसरी रामायण लिखकर रामजी के पास ले गए। उन्होंने इसे भी पसंद किया, पर कहा कि हम वाल्मीकि की रामायण पर हस्ताक्षर कर चुके हैं, इसलिए दूसरी पर नहीं कर सकते;

---

* जैसे लंका के बाहर की बड़ी लड़ाई का वर्णन भिन्न है।

श्रौर अब उन्हें अपनी कृति कवि को दिखलानी चाहिए । उन्होंने ऐसा ही किया। वाल्मीकि जी ने जब यह देखा कि यह ग्रंथ हमारी रचना को दबा लेगा, तब उन्होंने ऐसा चक्र रचा कि हनुमानजी को उसे समुद्र में फेंक देना पड़ा । हनुमानजी ने ऐसा करते समय भविष्यद्वाणी की कि भविष्य में तुलसी नामक ब्राह्मण को हम अपनी शक्ति देंगे जिससे वह हमारी रामायण को उस समय के मनुष्यों की भाषा में कहेगा और वाल्मीकि के ग्रंथ की ख्याति नष्ट करेगा।

निस्संदेह इसकी प्रसिद्धि उचित है। रामचरित मानस बड़े ग्रंथों में से है। इसमें दोष भी हैं और इसकी घटनाएँ यूरोपियन विचारों के प्रतिकूल भी हैं; तिसपर भी कोई पढ़ने पर उसके उच्च काव्यगुणों पर विना मोहित हुए नहीं रह सकता। भिन्न भिन्न पात्र ऐसी विशुद्धता से वर्णित किए गए हैं कि वे वीर-काल के स्वभावानुकूल जीवित से और चलते फिरते हैं। शैली भी बड़ी सुदरता से बदली गई है। यदि रामजी का माता से विदा लेने का वर्णन हृदयद्रावक है, तो युद्धस्थल की भीषणता का कठोर तथा कर्णकटु भाषा में वर्णन है । किसी किसी अवसर पर ये वर्णन सूत्रवत् छोटे छोटे सजीव वाक्यों में हैं जिनमें उपमा आदि पिष्टपेषित न होकर प्रकृति से ली हुई हैं और शुद्ध काव्य रूपी प्राणदान देनेवाली वायु द्वारा संचरित हैं। जो भाव हम लोगों के लिये अत्यंत निर्बल है, वही हिंदुओं के लिये सबसे अधिक सबल है-अर्थात् नायक का चरित्र-चित्रण। कवि के लिये रामचन्द्र पूर्ण ईश्वर के अवतार होने के कारण आवश्य ही निर्दोष नायक रखे गए हैं । जहाँ प्राचीन कथाएँ उनका वीरों के अनुपयुक्त कार्य करना बतलाती है, वहाँ तुलसीदास उसे गुण बतलाते हैं और कर्म के फल के अनुसार विचार करते हैं। निकृष्ट कपटाचरण की भी, जैसा कि विभीषण ने अपने भाइयों से किया था. इसलिये उन्होंने प्रशंसा की है कि नायक ने उस कपटी को शरण दी थी और पुरस्कृत किया था । पर यह उस कथा के एक संबंध से

और कवि की राय में दैवी भावना के कारण है। मानुषिक पात्र हमारे विचार से अधिक सहृदय हैं। इनमें क्रोधी पर स्नेहार्द्रचित्त लक्ष्मण, आदर्श हिन्दू स्त्री और माता सीता, सत्यप्रिय, प्रेमी तथा आदर्श भक्त भरत और राक्षस-राज रावण है जिसके भाग्य में विफलता लिखी थी, पर जो अपने कुल पैशाचिक बल से भाग्य के विरुद्ध लड़ रहा था।

ग्रंथ की अत्युज्वल बातों में से एक लेखक की निरीक्षण शक्ति है। अन्य (देशीय) साहित्यों से अधिक भारतीय कविता की कुछ निश्चित उपमाएँ हैं—कमल, कुमुदिनी, भ्रमर, चंद्र आदि। संस्कृत के अत्युत्तम ग्रंथों से भी बहुधा यही प्रकट होता है कि वे गृह के भीतर ही के अधिकतर कार्य हैं, न कि बाह्य ससार के। तुलसीदास ने भी उन प्राचीन उपमाओं का प्रयोग किया है और यदि वे छोड़ देते तो भारतीय न कहलाते। पर उनकी निज की उपमाएँ भी सहस्रों हैं। छोटी उक्तियों, वाक्य-विन्यास और उपयुक्त कहावतों से ज्ञात होता है कि इन्होंने संसार का स्वयं निरीक्षण और मनन किया था।

इन्हें केवल साधु समझना भूल है। यह वह मनुष्य थे जिन्होंने जीवन यात्रा की थी। यह गृहस्थ हो चुके थे। यह शब्द भारतीयों में बहुव्यापी अर्थ में लिया जाता है। इन्होंने विवाहित अवस्था का सुख, छोटे से पुत्र के प्रेमालिंगन का माधुर्य तथा अवस्था प्राप्त होने के पहले उसकी मृत्यु का दुःख भी उठाया था। इन्होंने विद्वानों के लिये नहीं पर अपने सभी स्वदेशवासियों के लिये लिखा है जिन्हें वे जानते थे। ये उनमें रह चुके थे, उनसे भिक्षा ली थी, उनके साथ प्रार्थना की थी, उनके सुख और दुःख के साथी हुए थे। दूसरी ओर ये सम्राट् के बड़े बड़े सामंतों से मित्रता रखते थे। इनकी रचना में न सबकी झलक दिखलाई पड़ती है।

भारत के अन्य प्रसिद्ध लेखकों के ग्रंथों के समान इनके ग्रंथों भी दुर्दशा हुई है। अनुयायियों ने कविताएँ लिखकर इनका

नाम रख दिया और इनके ग्रंथों में बहुत से क्षेपक मिला दिए गए। इन्हें टीकाकारों की कृपा से भी कष्ट मिला है जिनमें से बहुतों ने इनके सीधे सादे पदों में गूढ़ अर्थ खोज निकालने का व्यर्थ परिश्रम किया है, पर जो चालाकी से सच्ची कठिनाइयों को छोड़ गए हैं। अंत में इस ग्रंथ का संस्कृत अनुवाद भी निकल गया और कुछ ऐसे समालोचक भी मिल गए जो अनुवाद को मूल कहने लगे। किसी किसी की समझ में तो रामचरित मानस दूसरे की कविता की निर्लज्जतापूर्ण चोरी के सिवा कुछ नहीं है।

धार्मिक विचार

भारत के इतिहास में कवि के धार्मिक विचार बहुत महत्व के हैं। ये गुरु रामानंद की सातवीं गद्दी के समय में थे। ये शुद्ध वैष्णव और भक्तिमार्ग के अनुयायी थे। इनकी शिक्षा थी कि केवल एक परमेश्वर है और मनुष्य सभाव ही से पापी तथा मुक्ति के योग्य नहीं है। तिस पर भी ईश्वर ने अपनी अपरिचित दया के वश हो-कर उसे पाप से बचाने को पृथ्वी पर रामचंद्र के रूप में अवतार धारण किया। राम स्वर्ग को लौट गए। वे ईश्वर होने के साथ ही राम भी हैं जिससे वहाँ अब एक ऐसा ईश्वर है जो असीम दयालु ही नहीं है वरन् जिसने निज के अनुभव से मनुष्यों की निर्बलताओं तथा प्रलोभनों को जान लिया है। यद्यपि वह स्वयं पाप से परे हैं, पर पापियों की पुकार पर सदा शरण देने को तैयार रहते हैं। साथ ही मनुष्य के लिये विश्वभ्रातृत्व का उपदेश भी है। वह धर्म है जिसका अपने पड़ोसी के प्रति प्रत्येक मनुष्य दायी है। इनकी पाप की परिभाषा यह है कि जो कुछ राम की इच्छा के विरुद्ध है, वही पाप है। यह मान लेने पर तथा उससे बचाने की राम की शक्ति पर ही पूर्ण प्रेम के साथ भक्ति रखने पर मनुष्य इस जन्म-परंपरा से मुक्त हो सकता है। ईश्वर के पितृत्व तथा भक्ति की आव-

श्यकता का उपदेश बहुत दिनों से ज्ञात है। उत्तरी भारत में रामानंद इसके प्रधान प्रचारक थे। तुलसीदास ने कोई नई बात नहीं निकाली। इनके उपदेश सफल हुए, यही इनके लिये विचार्य है। इनके पवित्र जीवन तथा कविता की आकर्षण शक्ति ने भक्तिमार्ग के लिये वह काम किया है जो सैकड़ों अन्य गुरुओं की वक्तृत्व शक्ति ने नहीं किया था। ये स्मार्त वैष्णव थे, यह नहीं भूलना चाहिए। न ये किसी नए मत को मानते थे और न इन्होंने कोई नया मत ही चलाया। ये केवल हिंदू थे और हिंदू कथाओं को मानते थे। राम की ईश्वर-रूप में उपासना करते हुए भी ये शिव आदि अन्य देवताओं को पूजते थे। इनका उनकी ओर वही भाव था जो ईसाई गिरजे की किसी शाखा में सरकारी शिक्षा का है। राम को परब्रह्म, शिव को उनका भक्तश्रेष्ठ तथा दूसरे देवताओं को उनका दास मानकर ये पूजन करते थे।

कवि के माया शब्द के प्रयोग पर कुछ व्याख्या लिखनी चाहिए। कभी कभी यह उसका ऐसे शब्दों में उल्लेख करते हैं जिससे यह निरूपित और व्यक्त होता है कि वह ब्रह्म को आत्मा से छिपाती है। यह शिव-उपासक वेदांतियों की माया है जिसके ये कट्टर विरोधी थे। पर इस प्रकार के प्रयोग केवल उपमा आदि में हुए हैं और इनके उपदेश के अंश नहीं हैं। यह प्रयोग उनके शिवपूजन का फल हो, पर अन्य स्थानों में इन्होंने इस शब्द के दो भिन्न अर्थ लिए हैं। एक तो उस जादू का जिसका राक्षसों ने राम की सेना से युद्ध करने में प्रयोग किया था और दूसरा ब्रह्म और मोहिनी शक्ति का सम्मिलन है *। सशरीर शक्ति ईश्वर के अधीन तथा एक प्रकार उन्हीं की प्रेरित है। इसी अतिम योग्यता से वह सारे संसार को नचाती है, पर उसी ईश्वर के भ्रूभंग से वह स्वयं नटी के समान नाचने लगती है। वह अपने भुलावे में लाकर सभी को, देवताओं को भी, मूर्ख बनाती है

* देखिए राम० ७ कांड, ७० दोहा।

और जब कोई तपस्वी पुरुष घमंड करता है तब ईश्वर उसे बहकाने को उसे भेजते हैं* । वह सशरीर तथा सांसारिक मायाविनी होकर मनुष्यों से पाप कराती है। पर जिसमें सच्ची भक्ति है, वह उसके लिये अभेद्य है और वह उसके पास नहीं जा सकती † ।

तुलसीदास ने यह भी शिक्षा दी है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए जो सभी गुणों से हीन है तथा जिसके बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि वह "यह नहीं है, वह नहीं है" इन्होंने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुष का विचार मनुष्यों के मस्तिष्क की शक्ति के बाहर है और केवल उसी ईश्वर का पूजन हो सकता है जो निर्गुण से सगुण हो गया हो। ‡

तुलसीदास के धार्मिक विचारों का सर्वसाधारण द्वारा ग्रहण होना उत्तरी भारत के लिये महत्व का विषय है। कवि के समय में सर्व-साधारण के दो धर्म थे। एक तो ग्रामीण देवताओं के पूजन की कुप्रथा और दूसरा कृष्ण-पूजन। पहला यद्यपि वर्तमान है, पर तुलसीदास के धर्म के अधीन है और उसके आगे दब गया है। अशिक्षित मनुष्यों पर कृष्णपूजन का क्या प्रभाव पड़ता है, यह बंगाल के धार्मिक दुर्भाग्य से ज्ञात है। यह अंततः शक्ति-पूजन हो जाता है और इसके ग्रंथों में कृष्ण के गोपियों के साथ शृंगारिक संसर्ग का वर्णन है। और बातें लुप्त हो गईं और शाक्ति प्रथाः की अवर्णनीय बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं। तुलसीदास ने उत्तरी भारत को इससे बचा लिया।

[इनसाइक्लोपीडिया आफ एथिक्स एंड रिलिजन से अनुवादित]

---

* जैसे देवर्षि नारद का वृत्तांत राम० १ कां०, १२८ दो०।

† राम० ७ कां०, ११६ दो०।

‡ राम० ७ कां, १३ दो०।

श्यकता का उपदेश बहुत दिनों से ज्ञात है। उत्तरी भारत में रामानंद इसके प्रधान प्रचारक थे। तुलसीदास ने कोई नई बात नहीं निकाली। इनके उपदेश सफल हुए, यही इनके लिये विचार्य है। इनके पवित्र जीवन तथा कविता की आकर्षण शक्ति ने भक्तिमार्ग के लिये वह काम किया है जो सैकड़ों अन्य गुरुओं की वक्तृत्व शक्ति ने नहीं किया था। ये स्मार्त वैष्णव थे, यह नहीं भूलना चाहिए। न ये किसी नए मत को मानते थे और न इन्होंने कोई नया मत ही चलाया। ये केवल हिंदू थे और हिंदू कथाओं को मानते थे। राम की ईश्वररूप में उपासना करते हुए भी ये शिव आदि अन्य देवताओं को पूजते थे। इनका उनकी ओर वही भाव था जो ईसाई गिरजे की किसी शाखा में सरकारी शिक्षा का है। राम को परब्रह्म, शिव को उनका भक्तश्रेष्ठ तथा दूसरे देवताओं को उनका दास मानकर ये पूजन करते थे।

कवि के माया शब्द के प्रयोग पर कुछ व्याख्या लिखनी चाहिए। कभी कभी यह उसका ऐसे शब्दों में उल्लेख करते हैं जिससे यह निरूपित और व्यक्त होता है कि वह ब्रह्म को आत्मा से छिपाती है। यह शिव-उपासक वेदांतियों की माया है जिसके ये कट्टर विरोधी थे। पर इस प्रकार के प्रयोग केवल उपमा आदि में हुए हैं और इनके उपदेश के अंश नहीं हैं। यह प्रयोग उनके शिवपूजन का फल हो, पर अन्य स्थानों में इन्होंने इस शब्द के दो भिन्न अर्थ लिए हैं। एक तो उस जादू का जिसका राक्षसों ने राम की सेना से युद्ध करने में प्रयोग किया था और दूसरा ब्रह्म और मोहिनी शक्ति का सम्मिलन है *। सशरीर शक्ति ईश्वर के अधीन तथा एक प्रकार उन्हीं की प्रेरित है। इसी अंतिम योग्यता से वह सारे संसार को नचाती है, पर उसी ईश्वर के भ्रूभंग से वह स्वयं नटी के समान नाचने लगती है। वह अपने भुलावे में लाकर सभी को, देवताओं को भी, मूर्ख बनाती है

* देखिए राम० ७ कांड, ७० दोहा।

और जब कोई तपस्वी पुरुष घमंड करता है तब ईश्वर उसे बहकाने को उसे भेजते हैं* । वह सशरीर तथा सांसारिक मायाविनी होकर मनुष्यों से पाप कराती है। पर जिसमें सच्ची भक्ति है, वह उसके लिये अभेद्य है और वह उसके पास नहीं जा सकती † ।

तुलसीदास ने यह भी शिक्षा दी है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए जो सभी गुणों से हीन है तथा जिसके बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि वह "यह नहीं है, वह नहीं है" इन्होंने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुष का विचार मनुष्यों के मस्तिष्क की शक्ति के बाहर है और केवल उसी ईश्वर का पूजन हो सकता है जो निर्गुण से सगुण हो गया हो। ‡

तुलसीदास के धार्मिक विचारों का सर्वसाधारण द्वारा ग्रहण होना उत्तरी भारत के लिये महत्व का विषय है। कवि के समय में सर्व-साधारण के दो धर्म थे। एक तो ग्रामीण देवताओं के पूजन की कुप्रथा और दूसरा कृष्ण-पूजन। पहला यद्यपि वर्तमान है, पर तुलसीदास के धर्म के अधीन है और उसके आगे दब गया है। अशिक्षित मनुष्यों पर कृष्णपूजन का क्या प्रभाव पड़ता है, यह बंगाल के धार्मिक दुर्भाग्य से ज्ञात है। यह अंततः शक्ति-पूजन हो जाता है और इसके ग्रंथों में कृष्ण के गोपियों के साथ शृंगारिक संसर्ग का वर्णन है। और बातें लुप्त हो गईं और शाक्ति प्रथाः की अवर्णनीय बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं। तुलसीदास ने उत्तरी भारत को इससे बचा लिया।

[इनसाइक्लोपीडिया आफ एथिक्स एंड रिलिजन से अनुवादित

* जैसे देवर्षि नारद का वृत्तांत राम० १ कां०, १२८ दो०।

† राम० ७ कां०, ११६ दो०।

‡ राम० ७ कां, १३ दो०।

(४) तुलसीदास

[लेखक—बाबू मैथिलीशरण गुप्त]

इस जीवन-यात्रा में मैंने देखे अगणित लोक;
फिर भी तृप्ति न हुई हृदय को, मिटा न मन का शोक।
स्वार्थ और ईर्ष्या, उत्पीड़न और यथेच्छाचार,
देवों में भी दिए दिखाई क्या मनुष्य-संसार॥
मिला कहीं आदर्श न ऐसा देता जो सन्तोष,
रक्षित रहता मनुष्यत्व का जिसमें वह मधु-कोष।
मरते अमर-वृन्द भी जिस पर अपना गौरव मान,
करते स्वर्गङ्गा के तट पर वे जिसका गुण-गान॥
मिटा न मेरा भ्रमण-पर्यटन, पर थक गया शरीर,
बैठ गया मैं देख सामने सरस-सरोवर-तीर॥
सहसा मैंने सुना कि "जिस पर जिसका सच्चा स्नेह,
वह उसको मिलता है, इसमें नहीं तनिक सन्देह।"
चौंक पड़ा मैं,-बोल रहा था मानस-मग्न-मराल;
आश्वासन सा मिला मुझे कुछ, हटी निराशा हाल।
फिर बल सा आ गया देह में, तब करने को स्नान,
कूद पड़ा मैं उस तड़ाग में पाकर मोद महान॥
दूर हो गए थे पहले ही ग्लानि और सन्ताप,
डुबकी लेते ही मैं पहुँचा कहाँ, न जाने, आप॥
एक नया ही लोक सामने देख पड़ा तत्काल,
थे जिसके न कंकड़ों के सम हीरे, पन्ने, लाल!
था कितना धन-धान्य-पूर्ण वह हरा-भरा भरपूर,
आधि-व्याधि, अकालमृत्युयुत ईति भीति थी दूर।

पञ्चतत्व होकर अधीन से करते थे सब काम,
सदनुष्ठान हुआ करते थे उसमें आठों याम॥
चहाँ दिखाई दिए न दैहिक, दैविक, भौतिक ताप,
उसके अधिवासी थे क्या ही सुखी, शान्त, निष्पाप।
सगुण, सबल, सानन्द और सब थे सोत्साह, सलील;
होकर भी स्वाधीन सिन्धु-सम थे मर्यादाशील॥

रखता था पितृ-वचन वहाँ खुल राज्य और गृह-त्याग;
पिता प्राण देकर रखता था सत्य और अनुराग।
भाई के पीछे चलता था भाई सब कुछ छोड़,
पाकर भी राजत्व स्वयं वह लेता था मुँह मोड़॥

धूलि छानती थी वन वन की पत्नी पति के संग;
था सुवर्ण-साम्राज्य न उसका कर सकता व्रतभंग।
रोक न सकता था सागर भी वीरों का उत्साह,
मरण बह गया था, जीवन का था परिपूर्ण प्रवाह।

"कैसा लगा लोक यह ?" मुझ से पूछ उठा जन एक;
'किन्तु' 'परन्तु' न करता मैं तो रहता कहाँ विवेक ?
मैंने कहा-"अवश्य यहाँ है धर्म-कर्म की चाह,
पर विद्वेष, कुटिलता भी है, और सौतिया डाह।"

हँसा और बोला वह-"होता यदि न कहीं विद्वेष;
तो फिर कैसे प्रकट प्रेम का होता वह उन्मेष।
गुह, निषाद, शवरों को भी जो भर लेता था अंक ?
खिला कुटिलता-रजनी में ही शुचि सारल्य-मयंक;
और सौतिया डाह ? वहीं तो है आदर्श अनन्य;
एक बुराई ने दिखला दीं सौ भलाइयाँ, धन्य !
कह सकते हो तुम कि साथ ही कितना हुआ अनर्थ ?
पर अनर्थ को भी करते हैं सार्थक सहज समर्थ॥

अमृत-पान अमरत्व-चिह्न है, पर शिवत्व विष-पान,
बस सुख और दुःख में समझो इतना ही व्यवधान !
जाओ अब हे भद्र, और फिर सैर करो स्वच्छन्द,
द्वन्द्व न हो तो और अन्य क्या रुचे न परमानन्द ॥

मैंने कहा कि—"सुजन नागरिक, सच कहते हैं आप,
देखा कहीं न मैंने ऐसा कल–कल्याण–कलाप।
रखता है यह लोक सहज ही चित्र चरित्र पवित्र;
कौन अधिष्ठाता है इसका, बता दीजिए मित्र !"

"एक साधु" बतलाया उसने करके मधुर और मृदु हास
नाम पूछने पर फिर बोला–"गोस्वामी श्री तुलसीदास !"
सहसा मेरी आँख खुल गई फिर भी जमा हुआ था ठाठ;
गूँज रहा था अहा! गेह में रामचरितमानस का पाठ ॥

---

(५) गुसाईं तुलसीदास का जीवन-चरित

[लेखक—रेवरेण्ड एड्विन ग्रीव्स]

(१) जीवन-वृत्तान्त

किसी ने कहा है—

तुलसी रवि सूरज शशी उड़गण केशवदास।
अवके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

सूरदास और केशवदास से इस समय हमारा कुछ काम नहीं है और आजकल के कवियों को हम क्यों जुगनू ठहरावें, पर निस्संदेह श्री तुलसीदास कवि रूपी नक्षत्रों में सूर्य्य के समान हैं। जब लों रामायण उपस्थित रहेगा, तब लों तुलसीदास विराजमान रहेंगे। पर यह सूर्य्य कहाँ उदय हुआ और उसकी गति कैसी हुई, इन बातों का निर्णय करना कुछ कठिन दीख पड़ता है।

अपने भक्तमाल में नाभाजी ने तुलसीदास का नाम तो लिख दिया सही, पर उनके जीवन चरित्र का तनिक भी वर्णन नहीं किया है। केवल उनकी प्रशंसा करते हुए इतना कहा है कि—

कलि कुटिल जीव निस्तार हेत बाल्मीक तुलसी भयो॥
त्रेता काव्य निबंध करिव सत कोटि रामायण।
इक अक्षर उद्धरै ब्रह्महत्यादि करी जिन होत परायन॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि वपु धरि लीला विस्तारी।
राम-चरन रसमत्त रटत अह निस व्रतधारी॥
संसार अपार के पार की सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हेत बाल्मीक तुलसी भयो॥

भक्तमाल की प्रियादास रचित टीका में कई एक कथाएँ और सुनी-सुनाई बातें लिखी गई हैं, पर गुसाईं के माता पिता कौन थे,

तुलसीदास कहाँ उत्पन्न हुए, उनका लड़कपन कहाँ और कैसे कटा, इन बातों की चर्चा ही नहीं, कदाचित् इस कारण से कि प्रियादास नहीं जानते थे। स्मरण रखना चाहिए कि स्वामी के देहांत होने के उपरान्त लगभग एक सौ बरस बीत जाने पर प्रियादास ने अपनी टीका लिखी और वह वृन्दावन के रहनेवाले हो के तुलसीदास के जीवन-चरित्र से क्योंकर जानकार होवें ?

एक बेनीमाधवदास कृत तुलसीदास के जीवन चरित्र की चर्चा है और शिवसिंह ने उसकी बहुत प्रशंसा की है। पर शोक की बात है कि आजकल उस जीवन-चरित्र का कहीं पता नहीं लगता।

खड्गविलास प्रेस के छपे हुए रामायण की भूमिका में एक वैजनाथदास रचित गुसाईं का जीवन-चरित्र छपा है। विस्तारपूर्वक वह लिखा गया, पर विशेष करके केवल उन बातों का बढ़ाव है जो और और पुस्तकों में मिलती हैं।

जिन पुस्तकों से मैंने अधिक सहायता ली, सो ये हैं:—

१ डाकृर ग्रीयर्सन साहिब रचित The Modern Vernacular Literature of Hindustan.

२ मिस्टर ग्रौस साहिब रचित जीवन चरित्र जो रामायण के अँग्रेजी उल्था की भूमिका में है।

३ जीवन-चरित्र जो हिन्दी शिक्षावली के पंचम भाग में छपा है।

४ पंडित महादेवप्रसाद लिखित भक्तिविलास।

तुलसीदास का जन्म सन् ई० १५५० के लगभग हुआ होगा। रामायण में गुसाईं ने कहा है कि—

संमत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवध पुरी यह चरित प्रकासा॥

और एक दोहा प्रचलित है—

समत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन शुकला सत्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥

इन बातों के साथ इस पर विचार कीजिए कि गुसाईं जी का दीर्घायु होने पर देहान्त हुआ, तो अनुमान होता है कि अटकल से स्वामी का जन्म संवत १६००-१६१० के मध्य में अर्थात् सन् १५४५-१५५५ ई० के बीच में हुआ होगा।

पर जन्म कहाँ हुआ? कुछ लोग बतलाते हैं कि राजापुर उनकी जन्मभूमि है। पर इस बात के विरुद्ध और लोग कहते हैं कि नहीं, उनका जन्म वहाँ नहीं हुआ। पर गुसाईं ने वहाँ एक मन्दिर बनवाया या गाँव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्मभूमि बतलाई गई और हाजीपुर भी (जो चित्रकूट के निकट है) पर इन बातों का कुछ प्रमाण नही है। फिर औरों ने कहा है कि वे ताड़ी में जन्मे, पर दूसरे लोग कहते हैं कि नहीं, उनके माता पिता वहाँ रहते थे, पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने के पहले था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि अब लों ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ कि तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ।

सब लोगों की सम्मति इसमें मिलती है कि तुलसीदास ब्राह्मण थे। कुछ लोग बतलाते हैं कि दूबे थे। दूसरे लोग कहते हैं कि सरवरिया वा कान्यकुब्ज थे।

उनके पिता का नाम आत्माराम, माता का हुलसी, श्वसुर का दीनबन्धु पाठक, स्त्री का रत्नावली और लड़के का तारक बतलाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि तुलसीदास का नाम पहिले रामबोला था, पर उनके गुरु ने नाम बदल के तुलसीदास रक्खा। पर इन सब बातों का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। जहाँ ठीक इतिहास न मिले वहाँ कभी अनुमान और मनमता काम में लिए जाते हैं: और जो जो बातें इस रीति से उत्पन्न हुईं, कुछ दिन के उपरान्त इतिहासिक गिनी जाती हैं।

लड़कपन में तुलसीदास अपने गुरु के पास सूकरखेत में (पुराना नाम उकलक्षेत्र और आजकल सोरों कहलाता है) रहते

थे और रामायण की कथा सुनते थे। वह आप कहते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
श्रोता बकता ज्ञाननिधि कथा राम की गूढ़।
किमि समुझै यह जीव जड़ कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥
तदपि कही गुरु बारहि बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

धन्य गुरु जी आपने बारहि बारा कहते हुए अच्छी रीति से पढ़ाया, और धन्य चेला आपने अच्छी रीति से पढ़ा।

कहा जाता है कि गुरु का नाम नरहरिदास था, पर यह सम्भव है कि यह बात केवल अनुमान से निकाली गई है उस सोरठे से जिस में तुलसीदास ने लिखा है कि—

बन्दौं गुरुपदकञ्ज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुञ्ज जासु बचन रविकर निकर॥

यह गुरु का नाम हो सकता है या यह सम्भव है कि ऐसी बातें उन की स्तुति के वर्णन में लिखी गई हों।

इस गुरु के विषय में यह कथा प्रचलित है कि तुलसीदास का जन्म मूल नक्षत्र के पहिले चरण में हुआ था और इस कारण से एक शास्त्रीय रीति के अनुसार पिता ने अपने लड़के को त्याग दिया और तभी साधु अर्थात् नरहरिदास की शरण में होके यह बालक पाला पोषा गया। परन्तु इस बात का प्रमाण कहाँ है? । विनय-पत्रिका में (२२७) तो लिखा है कि—

नाम राम रावरो हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन सौं भुज उठाइ कहौं टेरे।
जननि जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।

पर इस एक पद पर इतनी लम्बी चौड़ी कथा उठानी उचित

नहीं है। तुलसीदास के लड़कपन के बारे में पण्डित महादेवप्रसाद यों लिखते हैं:—

हरि गुन सुनत परम सुख पावै। गुरु पद पंकज सीस नवावै।
इहि विधि कछुक काल सुख पाए। मातु पिता परलोक सिधाए।
तिनके कर्म कीन्ह सब भाँती। मन में सोच करत दिन राती।
तहँ गुरु कहि पुनि कथा पुरानी। नरहरिदास मनोहर बानी।
सुनु तुलसी अब सोच विहाई। सब के मातु पिता रघुराई।
सो तुम मानहुँ विप्रवर राजापुर को जाहु।
चेतहु मेरे वचन अब करहु आपनो ब्याहु।
यह सुनि तुरत चले ननियांवर। पहुँचे गेह भरे सबचांवर।
पूछी कुसल कही तिन पाँही। हर्ष विखाद भयो मन माँही।
पुनि सुंदर कुल देख बरावा। मातुल ने तिहिं ब्याहु करावा।
करहिं रमन गुरु ज्ञान भुलाना। पत्नी सहित परम सुख माना।

पर फिर पूछना पड़ता है कि इन सब बातों का प्रमाण कहाँ है? कोई ऐसी प्राचीन पुस्तक तो प्रसिद्ध नहीं है कि जिस में ऐसी ऐसी बातें लिखी हैं। मालूम होता है कि ऐसी कथाएँ तीन रीति से प्रचलित हो जाती हैं—

१ सुनी सुनाई बातों से जिनका कुछ ठिकाना नहीं,
२ किसी न किसी पद पर सोच विचार करके अनुमान करने से; पर एक ईंट पर घर उठाना जोखिम का काम है,
३ मनमता से,

पुराने पुस्तक के न मिलने पर किसी पुरानी बात का निर्णय करना बहुत कठिन है, कदाचित् असम्भव है।

तुलसीदास की स्त्री के विषय में प्रियादास की टीका में कुछ वर्णन है। तुलसीदास अपनी स्त्री से सुमग्न रहे। एक समय पत्नी विना आज्ञा लिए नहियर चली गई। स्वामी उसके पीछे हो लिए। स्त्री ने क्रुद्ध होके उनसे कहा—मुझ से नहीं पर राम में सुमग्न होना

चाहिए। तुलसीदास ने उस की बात मान ली और काशी आ के राम की सेवा में लौलीन हुए।

प्रियादास की टीका में लिखा है—

तिया सों सनेह विन पूछे पिता गेह गई
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए है।
वधू अति लाज भई रिसि सों निकसि गई
प्रीति राम नई तन हाड चाम छाए हैं॥
सुनी जब बात मानों होय गयो प्रात वह
पाछे पछितात तजी कासी पुरी धाए हैं।
कियो तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकास
कीनों दृढ भाव नैन रूप के तिसाए हैं॥

औरों ने इतनी बात लेके इस को बढ़ाया है और बतलाते हैं कि जब तुलसीदास चले गए, तब पत्नी पछताने लगी और उनको बुलाया, पर वह न लौटे। तब स्त्री ने चाहा कि स्वामी के साथ चलें। फिर कहा जाता है कि बुढ़ापे में तुलसीदास बेजाने अपने गाँव में गए, स्त्री ने उनको पहिचाना इत्यादि।

गुसाईं ने अवध पुरी में (अर्थात् अयोध्या में) रामायण को या तो समाप्त किया अथवा वहाँ उसे आरम्भ किया, तो इससे निश्चय है कि वहाँ कुछ दिन लों वह वास करते थे। पर इस बात में संदेह नहीं कि बनारस में उनका विशेष निवास था। अब लों तुलसीदास का मठ गंगा के तीर पर अस्सी घाट के निकट दिखाई पड़ता है और वहाँ की एक कोठडी में खडाऊँ गद्दी चँवर इत्यादि रक्खे हैं। देखने में तो कुछ नए मालूम होते हैं, पर मठ के लोग कहते हैं कि वे स्वामी ही के हैं।

अयोध्या और काशी को छोड़के निश्चय है कि स्वामी जी तीर्थ करते हुए और और तीर्थस्थानों में गए होंगे। इनके जीवन-चरित्रों में प्रयाग, वृन्दावन, चित्रकूट प्रभृति स्थानों में इनके जाने की कथा है।

यह भी कहा जाता है कि एक समय तुलसीदास वृन्दावन गए और वहाँ नाभा जी से भेंट हुई। नाभा जी ने उनका बहुत आदर किया और कहा कि अब भक्तों की माला के लिये मुझे सुमेरु मिल गया।

प्रियादास की टीका में बहुत सी और कथाएँ हैं, पर उनका वर्णन मैं नहीं करता हूँ। वे तो हरि के विश्वासियों के लिये हैं; मुझ सरीखे को उनमें विश्वास नही है। उनमें लिखा है कि गुसाईं ने हनुमान से भेंट की, राम लछमण का दर्शन पाया और एक मरे हुए ब्राह्मण को जिलाया तथा दूसरे मनुष्य को जो हत्यारा था, मोक्ष दिया और एक समय कृष्ण का दर्शन भी पाया। भूलना न चाहिए कि ये सब कथाएँ स्वामी के मरने के बहुत बरस उपरान्त लिखी गईं। एक कथा से मैं प्रसन्न होता हूँ इस कारण से कि कथा कैसी ही क्यों न हो, तौ भी शिक्षा से भरी हुई है। लिखा है कि एक चोर चोरी करने गुसाईं के घर गया। चोर ने देखा कि वहाँ एक मनुष्य रात भर पहरा दे रहा है। प्रातःकाल तुलसीदास के पास जा के उसने पूछा कि वह कौन श्याम किशोर आपके यहाँ चौकी देता है। यह बात—

सुनि करि मौन रहै आँसू डारि दिये हैं।

तुलसीदास को बोध हुआ और उन्होंने समझ लिया कि रघुनाथ ने रात भर मेरे लिये चौकी दी; और यह जानके कि धन-सम्पत्ति बटोरने से मैंने स्वामी को इतना दुःख दिया कि वह रात भर पहरा देवें, उन्होंने अपना सब कुछ कंगालों को बाँट दिया। यह बात अर्थात् कि ईश्वर अपने लोगों की रक्षा करते हैं, सोच विचार करने के योग्य है। हम मसीही लोग मान लेते हैं कि परमेश्वर विना रूप धारण किए रात और दिन अपने लोगों की रखवाली किया करते हैं। हमारे धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

जो स्वर्ग और पृथिवी का कर्त्ता है।
वह तेरे पाँव को टलने न देवे।

तेरा रक्षक कभी न ऊँघे ॥
देख इस्राएल् का रक्षक।
न ऊँघेगा न सो जावेगा ॥
यहोवा तेरा रक्षक है।
यहोवा तेरी दहिनी ओर तेरी छाया ठहरा है ॥
न तो दिन को धूप से।
और न रात को चान्दनी से तेरी कुछ हानि होवेगी ॥
यहोवा सारी विपत्ति से तेरी रक्षा करेगा।
वह तेरे प्राण की रक्षा करेगा ॥
यहोवा तेरे भीतर बाहर आने जाने में।
तेरी रक्षा अब से ले सर्वदा लों करता रहेगा ॥

प्रियादास की टीका में एक और कथा है जो विचार करने के योग्य है। लिखा है कि देहली के बादशाह ने तुलसीदास की कीर्त्ति सुन के उनको देहली में बुलाया। जब ये वहाँ गए तो बादशाह ने कहा—

दीजै करामाति जग ख्याति सब मात किए (अर्थात् कोई आश्चर्य्य कर्म्म दिखलाइए; क्योंकि संसार में यह बात फैल गई है कि आप ने सब कुछ अपने अधीन कर रक्खा है)

तुलसीदास ने उत्तर दिया—

कही झूठ बात एक राम पहिचानिए।

धन्य धन्य गुसाईं जी! आपने अच्छा कहा! बादशाह अपने धर्म्म का अपमान करके और चिकनी चुपड़ी बातें बनाके गुसाईं की प्रशंसा करते हैं और गुसाईं उनको झूठा बना के समझाते हैं कि मनुष्य की झूठी प्रशंसा मत कर, पर एकही परमेश्वर को पहचान।

इन सब बातों के द्वारा तुलसीदास का पूरा जीवन-चरित्र नहीं है, पर इन से और गुसाईं की लिखित पुस्तकों से कुछ न

कुछ मालूम होता है कि वह किस स्वभाव और ढंग के मनुष्य थे।

उनमें श्रेष्ठ गुण तो भक्ति था। दूसरों की समझ में रामचन्द्र जो हों सो हों, पर तुलसीदास ने उनको अपना सर्वस्व जाना। उनकी प्रशंसा करते हुए वह हर्षित हो जाते थे और उनके गुण गाने में सुमग्न रहते हुए कभी थकित नहीं होते थे। सचमुच हिंदू भक्तों में वे प्रधान थे और आजकल जब कि बहुतों में विश्वास केवल नाम मात्र को रह गया है, तुलसीदास की भक्ति पर विचार करना लाभदायक होगा।

गुसाईं में एक और उत्तम गुण है जो सब कवियों में नहीं पाया जाता। वह अपनी चतुराई दिखलाने के अभिप्राय से नहीं लिखते थे, पर पढ़नेवालों के लाभ के लिये; और इस कारण से सरल भाषा काम में ला के इस रीति से लिखते थे कि सब लोग समझ सके।

रामायण में लिखा है—

> कवित-रसिक न राम-पद-नेहू।
> तिन कहँ सुखद हासरस एहू॥
> भाषाभनिति भोरि मति मोरी।
> हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी॥
> प्रभु-पद-प्रीति न सामुझि नीकी।
> तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी॥
> हरिहरपदरति मति न कुतरकी।
> तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥
> रामभगति भूषित जिअ जानी।
> सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥
> कवि न होउँ नहि बचन-प्रबीनू।
> सकल कला सब बिद्या-हीनू॥
> आखर अरथ अलंकृति नाना।
> छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥

भावभेद रसभेद अपारा।
कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित-बिवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
भनिति मोरि सब गुनरहित बिस्व-बिदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिवेक॥

फिर :—

भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी।
राम-कथा जग-मंगल-करनी॥

यदि कहा जाय कि ऐसा लिखना तो केवल कवियों की बनावट है, तो मान लिया जायगा कि गुसाईं अवश्य जानते थे कि मैं निरा मूर्ख नहीं हूँ, तौभी विद्यावान होके उन्होंने जान बूझ के कविता के उस ढंग को स्वीकार किया जो घमण्डी विद्यावानों की दृष्टि में हेच गिना जायगा, पर साधारण लोगों के लिये समझने के योग्य होगा। आजकल रामायण की भाषा इतनी सरला नहीं दिखलाई देती है, पर स्मरण रखना चाहिए कि जो पुस्तक तीन सौ बरस से लिखे हुए होते हैं, अवश्य उनकी भाषा कुछ कठिन मालूम पड़ेगी।

तुलसीदास के लेख में एक और गुण है जो बहुत प्रशंसनीय है। वह लम्पटता-रहित है और गुसाईं जी स्वच्छता और जितेन्द्रियता और ऐसे अच्छे गुणों की स्तुति और प्रतिष्ठा किया करते थे।

उन्होंने रामायण में लिखा है—

अति खल जे विपई बक कागा।
एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥
संबुक भेक सेवार समाना।
इहाँ न विषय कथा रस नाना॥
तेहि कारन आवत हिय हारे।
कामी काक बलाक बिचारे॥

फिर मालूम होता है कि स्वामी तुलसीदास लालची हो के दोहे-चौपाई के व्यापारी नहीं हुए। बहुत कवि राजाओं की डेवढ़ी पर अपनी गद्दी बिछाके अपने प्रतिपालकों का झूठा गुणानुवाद झन-झनाते हुए सुख आनंद में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पर तुलसीदास ऐसे नहीं थे। वे किसी राजा वा धनी के अवलम्बी न रहे, पर अपनी झोपड़ी में बैठके राजा राम की सेवा में छन्द बनाते हुए अपने दिनों को काटते थे।

(२) तुलसीदास लिखित पुस्तक

किसी के जीवन-चरित्र में क्या क्या बातें लिखी जाती हैं? क्या यह नहीं कि वे कैसे थे और उन्होंने क्या किया? यदि यह बात सच हो तो हमको समझना चाहिए कि जो जो ग्रन्थ तुलसीदास ने लिखे, वही उनका जीवन-चरित्र है। पर कौन कौन पुस्तक उन्होंने लिखे, इस बात का निर्णय करना सहज नहीं है और विशेष करके मेरी सामर्थ्य से तो यह बात बाहर है। बीस पुस्तकों से अधिक की चर्चा है अर्थात्—

पुस्तकों की नामावली

१ चौपाई रामायण या रामचरित मानस।

२ कवित्त रामायण या कवित्तावली।

३ गीतावली।

४ दोहावली।

५ बरवै रामायण।

६ राम सतसई।

७ विनय पत्रिका।

८ रामाज्ञ या श्रीरामाज्ञा या रामसगुनावली।

९ रामलला नहछू।

१० वैराग्य संदीपिनी।

११ जानकी-मंगल या श्री जानकी स्वयंवर-मंगल।

१२ पार्वती-मंगल या शिव-पार्वती-मंगल।

१३ कृष्णगीतावली।

१४ संकट मोचन।

१५ हनुमत् बाहुक।

१६ राम सलाका।

१७ छन्दावली।

१८ छप्पय रामायण।

१९ कड़का छन्द या कड़का रामायण

२० रोला छन्द या रोला रामायण

२१ झूलना छन्द या झूलना रामायण

२२ कुंडलिया रामायण

इनमें से चन्द ऐसे हैं जो नाम मात्र हैं। उनका शिवसिंह सरोज में उल्लेख है, पर आजकल कहीं नहीं मिलते। यह बात सम्भव है कि किसी न किसी पुस्तक के लिये दो नाम प्रचलित हो गए हों और इस कारण से कभी इतने पुस्तक नहीं थे जितने कि शिवसिंह की नामावली में हैं।

एक और बात भी स्मरण रखनी चाहिए। ऐसा हो सकता है कि और किसी तुलसीदास कवि के बनाए हुए पुस्तक कुछ दिन लों प्रचलित थे; अब नाम तो रह गए, पुस्तक खो गए। और यह बात कुछ असम्भव नहीं है कि उन पुस्तकों में से जो अब तक उपस्थित हैं, कई एक दूसरे किसी कवि के रचित होंगे और काशीवासी प्रशंसनीय कवि तुलसीदास के न हों। एक "कविमाला" नामक पुस्तक की चर्चा है जो किसी तुलसी का बनाया था और आजकल किसी तुलसी साहब के भजन छप रहे हैं। निश्चय है कि एक तुलसी नहीं पर अनेक तुलसी ने कविता बनाने में अपने हाथ डाल दिए होंगे।

- ग्रीयर्सन साहिब कृष्णावली के बारे में लिखते हैं कि मैं सम-

भता हूँ कि यह पुस्तक ऊपर वर्णन किए गए तुलसीदास का वनाया न होगा।

अधिक पुस्तका का वर्णन डाक्टर ग्रीयर्सन साहिब ने संक्षेप में अपने The Modern Vernacular Literature of Hindu-stan. में लिख दिया है। रामायण (चौपाई का) छोड़ के तुलसीदास की सब पुस्तकों में से श्रेष्ठ पुस्तक विनय पत्रिका है जिसमें २७६ राम-स्तुति के भजन हैं।

१८८८ ई० में सरस्वती यंत्रालय वनारस, में तुलसीदास की बारह पुस्तकें छप गई थीं (नामावली के १, २, ३, ४, ५, ७, ८, ६, १०, ११, १२, १३,)

(३) तुलसीदास कृत रामायण

गुसाईं जी की सब से कीर्त्तिमान कविता रामायण है। इस नाम से वह विख्यात हुआ है, पर तुलसीदास ने उसका दूसरा नाम रक्खा अर्थात "रामचरितमानस"। बालकाण्ड में लिखा है—

राम-चरित-मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा॥

और कवि ने बहुत परिष्कार से बतलाया है कि यह नाम "मानस" कैसा उचित है। चार संवाद जो हैं सो इस मानस के चार घाट हैं। सात काण्ड सो सोपान हैं, राम और सीता का यश इस मानस का सलिल सुधा है। चारों ओर की सन्तसभा अर्थात सुननेवाले अंबराई हैं; और उनकी श्रद्धा वसंत ऋतु के समान है, इत्यादि।

न केवल परदेशियों में पर कभी कभी हिन्दुओं में भी यह बात समझी जाती है कि यह रामचरित मानस वाल्मीकि कृत रामायण का उल्था है, पर यह बात ठीक नहीं है। दोनों में तो सात सात काण्ड हैं और दोनों में एकही कथा है जो न वाल्मीकि की न तुलसी दास की बनाई है, पर बहुत दिनों से प्रचलित है। इस कथा को लेकर तुलसीदास ने अपनी ही रीति पर इसका वर्णन किया और वह

रीति निस्सन्देह अपूर्व है। तुलसीदास के अगणित अनुकारी हुए हैं पर वह किसी के अनुचर नहीं थे। उनको न उलथा करनेवाला न अनुगामी पर एक सृष्टिकर्त्ता समझ लीजिए।

उन्हों ने बतलाया है कि किन किन लोगों के द्वारा राम की कथा प्रचलित हो गई और किस रीति से उनके गुरु ने उनको यह कथा बार बार सुनाई। वह कहते हैं—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥
जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे। तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे॥

और नम्रतापूर्वक फिर कहते हैं—

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावों। मति-अनुरूप राम-गुन गावौं॥

फिर भी—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहिं मतिबल अति थोर।
करहु कृपा हरिजस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर॥
कबि कोबिद रघुबर चरित मानस-मंजु-मराल।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥

यह बात हमारी समझ में नहीं आ सकती है कि तुलसीदास अपनी कुशलता और चतुराई से सर्वथा अज्ञात थे, तौ भी कुछ सरलता से उन्होंने ऐसी बातें लिखी होंगी। वह अपनी योग्यता का अधिक ध्यान नहीं करते थे, पर रघुनाथ और उनकी महिमा पर। वह अपनी चतुराई नहीं दिखलाना चाहते थे पर रामचन्द्र जी का महत्व। बहुत से कवि समझते हैं कि कथा जो है सो डोरी है जिस में मेरी कविता के चतुराई रूपी मोती पोए जायँ और प्रकाशमान होवें। पर तुलसीदास ने अच्छी रीति से समझा कि ऐसा नहीं है; मेरी कुशलता यही तो डोरी है और रघुनाथ के गुण येही मोती हैं, डोरी छिपी रहे, मोती विराजमान होवें।

तुलसीदास का रामायण नाटक के समान है न केवल अमुक अमुक के विषय में कुछ न कुछ लिखा है; पर वे कहते, करते और सोच विचार भी करते हुए मानो हमारे सामने ही उपस्थित किए जाते हैं। हम मानों तुलसीदास की नहीं किन्तु उन्हीं की बातें सुनते और उनको देखते हैं। दशरथ, कैकेयी, मंथरा कुवड़ी, राम, सीता, लक्ष्मण, केवट गुह, रावण, भरत इत्यादि यह अन्य पुरुष नहीं, पर उत्तम पुरुष होकर और नेपथ्य से निकलकर रंगभूमि में आते और वार्त्तालाप करते हैं।

यदि यह बात पूछी जाय कि रामायण को किस रस में गिनना चाहिए, तो यह कहना चाहिए कि कुछ न कुछ नवों में। तुलसीदास कविता की रीति विधि की अधिक चिन्ता नही करते थे। तौ भी उन सब विधियों को जो मानने के योग्य हैं, एक स्वाभाविक रीति से मान लेते थे। अपनी कथा में गुसाइँ सुमग्न भए और जैसे कि गिरगिट का रंग उस वृक्ष के समान होता है जिसपर वह चढ़ता है, वैसे ही तुलसीदास का रंग ढंग कथा के रस से मिल जाता है। लंकाकाण्ड में देख लीजिए जहाँ लड़ाई का वर्णन है।

भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥

"कोदंड धुनि अति चंड सुनि" यह पढ़ते ही पढ़नेवाला मानो धुनि को सुन सकता है। फिर बालकाण्ड में—

गरजहि गज घंटा धुनि घोरा।
रथ रव बाजि हिंक (या "हिंस") चहुँ ओरा॥

और महादेव की बरात के वर्णन में—

तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि विकट मुख रजनीचरा॥

और फिर दशरथ के देहान्त के विषय में—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।

कवितावली, विनय, दोहावलि, गीतावली आदि सब ग्रंथ।
मुख्य सहायक नदियाँ इसकी भक्तिसुधा पाने का पंथ॥
इस मानस सुरसरि से जिसने कभी सुधा का किया न पान।
मंगल से वंचित रहकर वह करता है अपना अवसान॥ ६॥

दोहावलि में ग्रथित किया है राजनीति, सद्धर्म, सुज्ञान।
रस्र वीभत्स वीर करुणा का किया कवित्तों में निर्मान॥
विनय पत्रिका के अनुपम पद विनय नम्रता के कल गान।
गीतावलि में आर्य जाति के रघुकुल का है कीरति-गान॥ ७॥

मानस की पीयूषवर्षिणी शिक्षा का करने पर पान।
बचता शेष विश्व में फिर क्या जिसको हो लालायित प्रान॥
सांसारिक सब हर्ष शोक का इसमें ऐसा हुआ प्रभास।
जिसके पढ़ने से जीवों के मन में भर जाता उल्लास॥ ८॥

भारत का यह धर्म-ग्रंथ है, काव्यों में है अनुपम रत्न।
कर अनुवाद अन्य भाषा में सभी मनन करते सप्रयत्न॥
रचकर ग्रन्थ अमूल्य आपने आर्य-धर्म का किया प्रचार।
इस रचना का गौरव कहते थके विज्ञजन बारंबार॥ ९॥

हिंदी के साहित्य सुधानिधि! हिंदी कविता-कामिनिकंत।
हिंदी कविकुल कुमुद कलाधर! हैं गुणगण के राशि अनंत॥
हमें आपका अमित गर्व है, है कृतज्ञ सब भारतवर्ष।
करने में गुणगान लेखनी का मिटता है महा अमर्ष॥१०॥

तुलसी राम पदाब्ज अलि नवरस मानस ग्रन्थ।
भक्त भ्रमर रसपान का है यह मानस पंथ॥

---

(७) गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार

[लेखक—पंडित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी]

काव्य में कवि के विचारों का प्रतिबिंब होना एक स्वाभाविक बात है। काव्य, महाकाव्य यद्यपि किसी कथा विशेष के आधार पर ही निबद्ध होते हैं, किंतु कवि अपनी योग्यता के अनुसार अपने सभी विषयों के विचारों की छटा उनमें, स्थान स्थान पर, प्रदर्शित करते हैं। अतएव साहित्य के परमाचार्य मम्मट भट्ट ने सब शास्त्रों की, व लोक की, व्युत्पत्ति कवि के लिये आवश्यक मानी है। कवि की प्रौढि पर ही काव्य का सौंदर्य अवलंबित है। महाकवि अपने काव्य के पाठकों को सब विषयों में अन्य-निरपेक्ष कर देने की चेष्टा किया करते हैं। वे सब ही जानने योग्य विषयों का उसमें, अपने विचारानुसार, समावेश करते हैं। ऐसे महाकाव्यों में कवि का विचार, उसका मत, स्वच्छ मणि में प्रतिबिंब की भाँति स्पष्ट झलक जाता है।

श्रीमान् भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी का रामचरितमानस (रामायण) इसी प्रकार का एक महाकाव्य है। गोस्वामी जी ने किसी विषय को उसमें समाविष्ट करने से छोड़ना नहीं चाहा। सब ही प्रकार के विचारों का आदर्श—जैसी कि गोस्वामी जी जैसे महाबुद्धिमान् और महात्मा से आशा की जा सकती है—उनके उस महाकाव्य में पाया जाता है। यहाँ हम और विषयों की ओर न जाकर केवल इस विषय पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, कि रामायण के द्वारा गोस्वामी जी के दर्शन संबंध में कैसे विचार प्रकट होते हैं।

विद्वान् जानते हैं कि 'दर्शन-शास्त्र' एक अत्यंत गूढ़ और जटिल

विषय है। कहना चाहिए कि संस्कृत साहित्य समुद्र का वह अमृत भाग है। संस्कृत के भी विरले ही विद्वान् इस विषय में प्रवेश पाते हैं। ऐसे गूढ़ और जटिल विषय को भी श्री गोस्वामी जी ने कैसी सुगमता से लिखा है, यह इस लेख में दिखाया जायगा।

इतना और इस लेख के आरंभ में ही निवेदन कर देना आवश्यक है कि यह लेख किसी सांप्रदायिक पक्षपात के वश होकर नहीं लिखा जाता, न इसका कोई पाठक सज्जन यह अभिप्राय समझें कि यह मत सच्चा है, या झूठा है, यह दिखाने की हमारी चेष्टा है। यह केवल साहित्य दृष्टि से एक आलोचना है। यदि हमारे विचारों में किसी प्रकार का भ्रम हमें समझाने का कोई महानुभाव उद्योग करेंगे, तो हम उनके परम कृतज्ञ होंगे।

यह प्रसिद्ध बात है कि रामभक्त श्रीगोस्वामी जी अनन्य वैष्णव थे। यह वृत्तांत से, उनके काव्यों से, सब ही से प्रकट होता है। उनकी अनन्य विष्णुभक्ति के कारण बहुत से विचारक सज्जन यह भी अनुमान करते हैं, और कर सकते हैं कि वे किस वैष्णव संप्रदाय विशेष के अनुयायी होंगे। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यही कल्पना होती है कि उनके दर्शन सम्बन्धी विचार भी विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इन वैष्णव दर्शनों में से ही किसी दर्शन के अनुसार हों। किंतु जब हम उनके श्रीरामचरितमानस को पक्षपातशून्य विचार-दृष्टि से देखते हैं तो विवश होकर ऊपर की कल्पना छोड़ देनी पड़ती है और आश्चर्य के साथ स्पष्ट यही निश्चय करना पड़ता है कि दार्शनिक सिद्धांतों में श्री गोस्वामीजी श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद के ही अनुगामी हैं। उनके ग्रंथ से इसका दिग्दर्शन कराना भी इस लेख का उद्देश्य है।

श्री गोस्वामीजी ने आरम्भिक मंगलाचरण के श्लोकों में एक यह भी श्लोक रचा है—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा-
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

इसका अर्थ है कि यह संपूर्ण जगत्, ब्रह्मा आदि देवता और असुर, सब जिसकी माया के वश में हैं, और जिसकी सत्ता से संपूर्ण जगत् सत्य सा प्रतीत हो रहा है, जैसा कि भ्रम-काल में रज्जु की सत्ता से सर्प सत्य सा प्रतीत हुआ करता है; एवं संसार रूप समुद्र को तैर जाने की इच्छा रखनेवालों के लिये जिसके चरण ही नौका रूप हैं, उन सब कारणों से भी परे राम नामक जगदीश्वर हरि को मैं प्रणाम करता हूँ। पाठक देखेंगे कि इस श्लोक में स्पष्ट ही श्री शंकराचार्य का अद्वैतवाद, न केवल अद्वैतवाद ही किंतु मायावाद भी उल्लिखित हुआ है। जगत् माया-जनित असत्य है, वह ब्रह्म की सत्ता से सत्तावान् प्रतीत होता है, यही शांकर सिद्धान्त है। वैष्णव आचार्यों ने जगत् को मायिक एवं असत्य स्वीकार नहीं किया। यद्यपि पूर्वोक्त श्लोक में कहीं कहीं 'अमृषैव' पाठ मिलता है, जिससे 'जगत् सत्य ही प्रतीत होता है' ऐसा कुछ विपरीत अर्थ हो जाने की संभावना हो सकती है, किन्तु 'यत्सत्त्वात्' और 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' इन पदों का इस पक्ष में कुछ भी स्वारस्य नहीं रहता। क्योंकि जगत् सत्य मान लेने पर वह ब्रह्म की सत्ता से भासित नहीं हो सकता, किन्तु अपनी ही सत्ता से भासित होगा। और इस पक्ष में रज्जु-सर्पवाला भ्रम का दृष्टांत भी नहीं घटता; क्योंकि जगत् को भ्रम का विषय मायावादी ही बताते हैं, दूसरे नहीं। अतः इस श्लोक का तात्पर्य मायावाद में ही है। कल्पना हो सकती है कि यह श्लोक गोस्वामी जी का ही बनाया हुआ हो, इसका कोई दृढ़ प्रमाण नहीं। संभव है, मंगलाचरण के श्लोकों में पीछे से किसी ने मिला दिया हो। किन्तु इस कल्पना

का कोई कारण नहीं दीखता । क्योंकि और और स्थानों में भी जहाँ प्रसंग आया है, श्री गोस्वामी जी ने मायावाद का स्फुट उल्लेख किया है। जैसा कि सुंदरकाण्ड में हनुमान की उक्ति है—

सुनि रावण ब्रह्माण्ड निकाया। पाय जासु बल बिरचित माया ॥
जाके बल बिरञ्चि हरि ईशा। पालत सृजत हरत दशशीशा ॥

यहाँ भी ब्रह्म का बल पाकर अर्थात् उसी अधिष्ठान की सत्ता से सत्ता लाभ कर माया जगत् बनाती है, यह कहा गया है और रज, सत्त्व और तम के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु, शिव को ब्रह्म के बल से ही बलवान् माना गया है। शंकर-दर्शन में भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ये माया-विशिष्ट चैतन्य की उपाधि भेद भिन्न भिन्न संज्ञाएँ स्वीकार की गई हैं और विशिष्ट सब शुद्ध चैतन्य पर ही अधिष्ठित हैं। इससे पूर्वोक्त श्लोक की और चौपाई की एकवाक्यता है।

थे मंगलाचरण के प्रकरण में ही (बालकाण्ड—आरम्भ)

उ॰ जड चेतन जगजीव जत, सकल राममय जानि।
भी वन्दौं सब के पद-कमल, सदा जोरि जुगपानि ॥

दा सीय-राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुगपानी ॥

इत्यादि वाक्यों में कैसी सुंदर अद्वैतवाद की छटा श्री गोस्वामी जी ने झलकाई है, यह सहृदय पाठक ही विचार-बुद्धि से अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि सभी मतों में ईश्वर को व्यापक माना जाता है, और ईश्वर-बुद्धि से सब जड चेतन की पूजा उपयुक्त समझी जाती है, किन्तु राममय जगत् देखना, राम के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही न मानना अद्वैतवाद ही की पराकाष्ठा है।

आगे राम के गुणवर्णन में अपनी अशक्ति होने पर भी अपनी वाणी को पवित्र करने के उद्देश्य से नामचरित-कथन में अपनी प्रवृत्ति बताते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि राम का गुण-वर्णन तो कोई भी नहीं कर सकता, किन्तु करने का साहस सब ही ने किया।

सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान ॥

सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई ॥
तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाउ भाँति बहु भाखा ॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा ॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी ॥

विचार दृष्टि से देखने पर इस प्रकरण का यही तात्पर्य प्रतीत होगा कि 'नेति नेति' कहकर सब गुणों का निषेध करते हुए भी वेद आदि शास्त्र निरंतर ईश्वर का गुण-गान करते हैं। इस विरोध का कारण भी वेद ने ही बताया है कि, ब्रह्म वस्तुतः एक– अद्वितीत, अनीह–इच्छा-रहित, अरूप, अनाम (जिसका न कोई रूप है न नाम है) अज, नित्य, सच्चिदानंद स्वरूप है। अर्थात् न कोई उसमें गुण है, न उसका कोई नाम है, न कोई रूप है। उसका कथन कोई नहीं कर सकता; किंतु विना गुण-वर्णन के उपासना (भजन) होगी नहीं और उपासना के विना जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। उपासना का ही प्रभाव है कि वह मनुष्यों को मुक्ति-मार्ग में ले जाती है। अतः भक्तों के हित के लिये, उनकी उपासना पूर्ण होने के लिये, भगवान् शरीर धारण कर नाना चरित करते हैं। उन्हीं भगवान् के चरितों और गुणों का सब भक्त लोग गान करते हैं और मुक्त होते हैं। यह भक्तों का हित संपन्न करुणामय जगदीश की करुणा मात्र है। शांकर दर्शन भी यही कहता है कि ब्रह्म वस्तुतः नीरूप निर्गुण है। उसके लिये वेद ने:—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

(मन और वाणी जिसे प्राप्त न होकर बीच में से ही लौट आते हैं) कहा है। किंतु जब वह अनिर्वचनीय माया के साथ गृहीत

होता है, तब सर्वगुणाकर, सर्वशक्तिमान् कहा जाता है और 'सर्वे-वेदा यत्पदमामनन्ति' सब ही उसी के गुण गाते हैं। बस, इस प्रकरण का भी तात्पर्य शंकर मत से स्पष्ट मिल रहा है, यह पाठक समझ गए होंगे। क्योंकि और मतों में 'नेति' 'नेति' से ब्रह्म का निरूपण नहीं होता, और ब्रह्म 'अनीह अरूप अनामा' नहीं माना जाता।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न * ॥

(बालकाण्ड—आरम्भिक स्तुति)

विज्ञ पाठक देखेंगे कि इस दोहे में माया और ब्रह्म रूप सीता और राम के परस्पर शब्द और अर्थ की तरह वा जल और तरंग की तरह भेद और अभेद दोनों माने गए हैं। जैसे शब्द के बिना अर्थ और अर्थ के बिना शब्द कहीं नहीं उपलब्ध होता, शब्द का प्रयोग करते ही अर्थ मनोभूमिका में अपने आप प्रविष्ट हो जाता है, जैसे किसी ने 'सिंह' इन दो अक्षरों का उच्चारण किया कि विकट जटाधारी चितकबरे रंग का चार पैर और पूँछवाला दुदकारता हुआ एक भयानक जन्तु विशेष मानो आँखों के आगे घूमने लगता है, इसी प्रकार जहाँ अर्थ देखा कि शब्द बिना बुलाए ही अपने आप टूट पड़ता है। एक के बिना दूसरा कहीं मिलता ही नहीं। इसीसे कई शास्त्रों में शब्द और अर्थ का तादात्म्य–अभेद मान लिया गया। किंतु इतना सच होते हुए भी शब्द और अर्थ बिलकुल भिन्न वस्तु हैं। एक के धर्म दूसरे में जा ही नहीं सकते। अर्थ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं, वजन है, वह स्थान घेरता है, किंतु शब्द में यह सब कुछ नहीं। मुख में अग्नि की एक चिनगारी भी आ जाय तो बड़ी भारी आफत हो जाय, किंतु महा अग्नि शब्द भी वहाँ

* खिन्न अर्थात् दुःखित पुरुष जिन सीताराम का परमप्रिय है। अर्थात् जो दुःखितों का दुःख मेटनेवाले शरणागतवत्सल हैं।

बड़े आनंद से विहार करता है। इससे इन दोनों का भेदाभेद संबंध मानना पड़ता है। यह भाव संस्कृत के कविकुलगुरु कालिदास ने भी रघुवंश के आरम्भ में ही रक्खा है—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥'*

यही दशा ब्रह्म और माया की है। शुद्ध ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं; वह सदा माया सहित ही उपलब्ध होता है। माया की तो ब्रह्म के विना सत्ता ही नहीं है, अतएव माया और ब्रह्म का काल्पनिक अभेद है। किंतु वस्तुतः ये दोनों अत्यंत ही भिन्न हैं। न केवल भिन्न किंतु इनका स्वरूप और इनके धर्म परस्पर तेज और तम की तरह अत्यन्त विरुद्ध हैं। एक जड़ है, एक चेतन। एक परिच्छिन्न है, एक व्यापक। एक सांत है, एक अनंत इत्यादि। अतएव यहाँ भी भेदाभेद ही मानना पड़ा। भेद और अभेद दोनों एक जगह एक वस्तु के हो ही नहीं सकते, अतः अंत में 'अनिर्वचनीय वाद' सिद्ध हो जाता है। यही संक्षेपतः शांकर सिद्धांत में वेदान्त की शैली है।

माया और ब्रह्म के संबंध में शब्द और अर्थ का दृष्टांत यद्यपि रोचक है, तथापि एकदेशीय है। क्योंकि यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु वहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतएव विज्ञप्रवर गोस्वामी तुलसीदास जी ने दूसरा दृष्टान्त दिया है 'जल-बीचि सम' जैसे तरंग और जल कभी भिन्न भिन्न उपलब्ध नहीं होते, अतः उनका अभेद कह सकते हैं, किंतु तरंग जल के आश्रित है, यह 'आश्रय-आश्रित-भाव' विना भेद के नहीं बनता। इसके सिवा एक तरंग नष्ट होती है, दूसरी पैदा होती है; किंतु जल

---

* वाणी और अर्थ की तरह, आपस में मिले हुए, जगत् के पिता माता पार्वती और शंकर को वाणी और अर्थ की प्राप्ति के लिये मैं प्रणाम करता हूँ, यह श्लोकार्थ है।

होता है, तब सर्वगुणाकर, सर्वशक्तिमान् कहा जाता है और 'सर्वे-वेदा यत्पदमामनन्ति' सब ही उसी के गुण गाते हैं। बस, इस प्रकरण का भी तात्पर्य शंकर मत से स्पष्ट मिल रहा है, यह पाठक समझ गए होंगे। क्योंकि और मतों में 'नेति' 'नेति' से ब्रह्म का निरूपण नहीं होता, और ब्रह्म 'अनीह अरूप अनामा' नहीं माना जाता।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न * ॥
(बालकाण्ड—आरम्भिक स्तुति)

विज्ञ पाठक देखेंगे कि इस दोहे में माया और ब्रह्म रूप सीता और राम के परस्पर शब्द और अर्थ की तरह वा जल और तरंग की तरह भेद और अभेद दोनों माने गए हैं। जैसे शब्द के विना अर्थ और अर्थ के विना शब्द कहीं नहीं उपलब्ध होता, शब्द का प्रयोग करते ही अर्थ मनोभूमिका में अपने आप प्रविष्ट हो जाता है, जैसे किसी ने 'सिंह' इन दो अक्षरों का उच्चारण किया कि विकट जटाधारी चितकबरे रंग का चार पैर और पूँछवाला दुदकारता हुआ एक भयानक जन्तु विशेष मानों आँखों के आगे घूमने लगता है, इसी प्रकार जहाँ अर्थ देखा कि शब्द विना बुलाए ही अपने आप टूट पड़ता है। एक के विना दूसरा कहीं मिलता ही नहीं। इसीसे कई शास्त्रों में शब्द और अर्थ का तादात्म्य-अभेद मान लिया गया। किंतु इतना सब होते हुए भी शब्द और अर्थ बिलकुल भिन्न वस्तु हैं। एक के धर्म दूसरे में जा ही नहीं सकते। अर्थ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं, वजन है, वह स्थान घेरता है, किंतु शब्द में यह सब कुछ नहीं। मुख में अग्नि की एक चिनगारी भी आ जाय तो वही भारी आफत हो जाय, किंतु महा अग्नि शब्द भी वहाँ

* खिन्न अर्थात् दुःखित पुरुष जिन सीताराम का परमप्रिय है। अर्थात् जो दुःखितों का दुःख मेटनेवाले शरणागतवत्सल हैं।

बड़े आनंद से विहार करता है। इससे इन दोनों का भेदाभेद संबंध मानना पड़ता है। यह भाव संस्कृत के कविकुलगुरु कालिदास ने भी रघुवंश के आरम्भ में ही रक्खा है—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'*

यही दशा ब्रह्म और माया की है। शुद्ध ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं· वह सदा माया सहित ही उपलब्ध होता है। माया की तो ब्रह्म के विना सत्ता ही नहीं है, अतएव माया और ब्रह्म का काल्पनिक अभेद है। किंतु वस्तुतः ये दोनों अत्यंत ही भिन्न हैं। न केवल भिन्न किंतु इनका स्वरूप और इनके धर्म परस्पर तेज और तम की तरह अत्यन्त विरुद्ध हैं। एक जड़ है, एक चेतन। एक परिच्छिन्न है, एक व्यापक। एक सांत है, एक अनंत इत्यादि। अतएव यहाँ भी भेदाभेद ही मानना पड़ा। भेद और अभेद दोनों एक जगह एक वस्तु के हो ही नहीं सकते, अतः अंत में 'अनिर्वचनीय वाद' सिद्ध हो जाता है। यही संक्षेपतः शांकर सिद्धांत में वेदान्त की शैली है।

माया और ब्रह्म के संबंध में शब्द और अर्थ का दृष्टांत यद्यपि रोचक है, तथापि एकदेशीय है। क्योंकि यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु वहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतएव विज्ञप्रवर गोस्वामी तुलसीदास जी ने दूसरा दृष्टान्त दिया है 'जल-बीचि सम' जैसे तरंग और जल कभी भिन्न भिन्न उपलब्ध नहीं होते, अतः उनका अभेद कह सकते हैं, किंतु तरंग जल के आश्रित है, यह 'आश्रय-आश्रित-भाव' विना भेद के नहीं बनता। इसके सिवा एक तरंग नष्ट होती है, दूसरी पैदा होती है; किंतु जल

* वाणी और अर्थ की तरह, आपस में मिले हुए, जगत् के पिता माता पार्वती और शंकर को वाणी और अर्थ की प्राप्ति के लिये मैं प्रणाम करता हूँ, यह श्लोकार्थ है।

जथा गगन घनपटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी ॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ । प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ ॥
उमा राम-विषयक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥
विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान-गुण-धामू ॥
जासु सत्यता तें जड माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

रजत सीप मँहु भास जिमि, जथा भानु कर वारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुखु अहई ॥
ज्यों सपने सिर काटै कोई । बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमान निगम अस गावा ॥

यहाँ एक शका होती है कि ब्रह्म जब स्वयंप्रकाश है, तब फिर उसके विषय में भ्रम क्यों हो रहा है ? भ्रम तो बाह्य जड़ पदार्थों के विषय में हो सकता है, जैसे किसी ने सीप को चाँदी समझ लिया, या रेतीली ज़मीन में सूर्य की किरणों को जल समझ लिया। ये सब वाह्य वस्तुएँ हैं, इनमें सामान्य, विशेष कई अश हैं, अर्थात् कई धर्मों में सीप और चाँदी की समानता है, और कई धर्मों में विशेषता भी है। जब इद्रिय आदि के दोष से सामान्य अश का ज्ञान हो जाय और विशेषता का ज्ञान न हो, तभी भ्रम हुआ करता है। किंतु ब्रह्म तो वाह्य पदार्थ नही, वह स्वरूप में अनुप्रविष्ट है । न वह जड़ है, कि जिसके प्रकाश में इद्रिय आदि की आवश्यकता हो; न उसमें सामान्य, विशेष आदि अंश ही हैं। फिर ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान सब को क्यों नहीं हो जाता ? और सब प्रपंच के धोखे में क्यों पड़े रहते हैं ? यदि यह कहा जाय कि माया अथवा अविद्या से आवृत्त (ढका हुआ) रहने के कारण ब्रह्म सबको प्रकाशित नहीं होता, तो यह प्रश्न उठेगा कि

क्या माया या अविद्या ब्रह्म से भी बड़ी है, जिसने ब्रह्म को भी आवृत्त कर रक्खा है? इससे तो ब्रह्म का महत्व कुछ भी नहीं रहता। इस शंका का शंकरमतानुयायी ग्रंथों में जो उत्तर दिया जाता है, वही श्रीगोस्वामीजीने 'जथा गगन' इत्यादि पूर्वोक्त चौपाइयों में लिखा है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार सूर्य अति महान् है, मेघ-मण्डल उसकी अपेक्षा अति तुच्छ है, मेघ कदापि सूर्य को नहीं ढाँप सकता; किंतु जब गगन (आकाश) में घन-पटल (मेघमण्डल) आ जाता है, और वह हमारी दृष्टि को सूर्य्य पर जाने से रोक देता है, तब पूर्ण विचार न करनेवाले साधारण लोग यही कह उठते हैं कि मेघ ने सूर्य्यमण्डल को छिपा लिया । छिपाया है मनुष्यों की दृष्टि को, किंतु सूर्य्य का छिपाना प्रतीत होता है, इसी तरह द्रष्टा (देखनेवाले) जीव पर अविद्या का आवरण है, किंतु उसी आवरण के कारण ब्रह्म का भान न होने से हम (जीव) ब्रह्म को आवृत कह देते हैं। ब्रह्म पर अविद्या का कुछ बल नहीं, किंतु वह जीव की दृष्टि को (दर्शनशक्ति को) आच्छादित कर देती है, जिससे इसे बिना अविद्या दूर किए ब्रह्म का यथार्थ बोध नहीं होता। यही आशय कुछ ही पूर्व की चौपाइयों मे भी स्पष्ट किया जा चुका है—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहि तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धर्म अहमिति अभिमाना ॥

एक बात यहाँ और समझ लेने की है कि वेदान्त मत में शुद्ध चैतन्य रूप से अद्वैत माना जाता है, किंतु अविद्या से आवृत चैतन्य, जो जीव कहलाता है, उसकी ईश्वर या ब्रह्म के साथ एकता कदापि नहीं मानी जाती। क्योंकि अविद्या रहने से ही चैतन्य का जीव नाम पड़ता है, और अविद्या रहते एकता हो नहीं सकती। एकता होगी अविद्या निवृत्त होने पर; और उस दशा में जीव, जीव ही न कहलावेगा। वह तो शुद्ध चैतन्य कहा जायगा। यद्यपि अविद्या

की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जाती, वह अनिर्वचनीय है। अतएव जीव दशा भी शुद्ध चैतन्य से सर्वथा भिन्न नहीं कही जा सकती। किंतु यह सब परमार्थ दशा की बात है। जब तक अविद्या है, तब तक तो व्यावहारिक जीव और ईश्वर का भेद ही बना हुआ है। इसी लिये वेदान्तसूत्र और वेदान्त के अन्यान्य ग्रंथों में भी कई जगह व्यवहार दशा के अनुरोध से जीव को ईश्वर या परब्रह्म से भिन्न ही लिखा है। और उसी अभिप्राय से गोस्वामीजी ने भी यहाँ जीव को सुख, दुःख, अहंकार, अभिमान आदि का आश्रय एव ब्रह्म को उन सब से रहित बताया है। यह अहंकार या अभिमान ही तो जीव को ब्रह्म से पृथक् कर रहा है, और यही अविद्या का मुख्य कार्य है। जब तक यह निवृत्त न हो, भेद-वासना कैसे मिट सकती है। और इसके निवृत्त हो जाने पर जीव दशा ही नहीं रहती। इसी लिये जीव दशा में ईश्वर की समानता का गोस्वामीजी अन्यत्र भी निषेध करते हैं—

जौ अस हिसिषा करहिं नर जड बिबेक अभिमान।
परहिं कल्प भर नरक महुँ जीव कि ईस समान॥

अर्थात् ईश्वर, शिव, विष्णु आदि के व ईश्वरविभूति सूर्य, अग्नि आदि के से चरित जीव दशा में नहीं हो सकते। जो जीव दशा में वैसे चरित चाहते हुए एक प्रकार ईर्ष्या करते हैं, वे नरक में जाते हैं। ठीक ही है। इस प्रकार का भेद सभी वेदांती सुस्पष्ट स्वीकार करते हैं। अतः गोस्वामी जी का मत यहाँ अद्वैतवाद के कुछ भी विरुद्ध नहीं है। उन्होंने पारमार्थिक भेद तो बताया ही नहीं, केवल अभिमानवश जो व्यावहारिक भेद प्रसिद्ध है, उसका अनुवाद किया है। और उक्त दोहे में तो परब्रह्म वा ईश्वर का कोई प्रसंग ही नहीं है। वहाँ तो ऐश्वर्यशाली जीवों के समान साधारण जीव नहीं हो सकते, यही मात्र अभिप्राय है। इसलिये ऐसे प्रकरणों को पूर्वापर पर्यालोचन किए विना अद्वैतवाद के विरुद्ध मान लेना उचित नहीं।

अस्तु। उसी व्यावहारिक जीव की दृष्टि अविद्या से आवृत्त होने के कारण उसको ब्रह्म का यथार्थ प्रकाश (बोध) नहीं होता।

अब यह और संदेह होता है कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भ्रम हुआ करता है, जैसे सीप में चाँदी का। किंतु ब्रह्म एक होता हुआ भी अनंत रूप कैसे प्रतीत हो गया? इसका उत्तर ग्रंथों के अनुसार ही श्रीगोस्वामीजी ने भी दिया है कि 'चितवत लोचन०' इत्यादि।

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य अपनी आँख पर उँगली लगाकर आँख को ज़रा दबा दे, तो उसे दो चंद्रमा दिखाई दिया करते हैं (चंद्रमा एक ही है, किंतु दृष्टि दोष से एक के दो दीख गए) इसी प्रकार अविद्यारूप दृष्टि-दोष से एक ही राम (ब्रह्म) अनेक रूप भासित हो जाता है। यहाँ एक में अनेकता का भ्रम युक्ति-विरुद्ध नहीं। अस्तु।

इस भ्रमवाद (मायावाद) पर एक प्रश्न और भी किया करते हैं कि जो वस्तु चक्षु आदि इंद्रियों से जानी जाती है, उसी में दूसरी वस्तु का भ्रम होता है, जैसा सीप में चाँदी का इत्यादि। उसके सामान्यांश का ज्ञान और विशेषांश का अज्ञान भ्रम का कारण होता है, यह दिखाया जा चुका है। तब जो ब्रह्म किसी इंद्रिय का विषय नहीं, जिसके लिये श्रुति में 'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो गच्छति' लिखा है—अर्थात् जहाँ न आँख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है, न मन पहुँचता है, उस ब्रह्म में किसी को कैसे भ्रम हो सकेगा? जो किसी भी इंद्रिय का विषय ही नहीं, उसे किसी रूप से कैसे समझा जा सकेगा? इस शंका का उत्तर भी शांकरमतानुयायी ग्रन्थों के अनुसार ही श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने पूर्वोक्त चौपाई में दिया है कि—

उमा राम-विषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥

अर्थात् जैसे नभ (आकाश) किसी इंद्रिय का विषय नहीं, वह अप्रत्यक्ष पदार्थ है, किन्तु साधारण लोगों को उसमें तम, (अंध-

कार, या तत्सदृश कृष्ण-रूप) धूम, (धूआँ) या धूलि का भ्रम हो जाया करता है (आकाश ऊपर अन्धकार के समान काला दिखाई देता है, यह बात साधारण ग्राम्य-मनुष्यों में अति प्रसिद्ध है। एवं किसी किसी कालविशेष में कुछ प्रकाश और कुछ अन्धकार का सम्मिश्रण होने पर दुर्बल चक्षुवाले मनुष्यों को आकाश में धूम जैसा भी भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है, और अवस्था विशेष में कभी कोई धूलिपटल जैसा भी उसे समझ लेता है) तो जैसे आकाश के इन्द्रिय विषय न होने पर भी उसमें कई प्रकार के भ्रम लोक-प्रसिद्ध है, इसी प्रकार इंद्रियों के अविषय राम (ब्रह्म) में भी जगद्-विषयक अनत प्रकार के भ्रम अल्पज्ञ जीव को अविद्या के कारण हो रहे हैं। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं।

अब यदि कोई कहे कि जब संपूर्ण जगत् को आप अवास्तव (मिथ्या) मानते हैं, तो फिर ब्रह्म भी कदाचित् मिथ्या ही होगा। सभी प्रमाणसिद्ध-पदार्थ मिथ्या मान लिए गए, तो ब्रह्म की यथार्थ सत्ता का ही साधक क्या रह गया ? इसका उत्तर है कि जो सब का प्रकाशक है, भाव, अभाव कोई जिसके विना प्रकाशित नहीं हो सकता, उसे मिथ्या कैसे माना जाय ? वह मिथ्या हो तो उसके मिथ्यात्व का—उसके अपवाद रूप अभाव का, प्रकाशक और कोई चाहिए। लेकिन ऐसा है नहीं। वही सब का प्रकाशक है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है। इसी विषय का 'विषय करन सुर जीव समेता' इत्यादि चौपाइयों से स्पष्टी-करण रामायण में किया गया है। अर्थात् विषयों (रूप, रस, घट, पट, आदि) की अपेक्षा करण-इंद्रिय के संबंध से ही विषयों का प्रकाश हुआ करता है, और इंद्रियों की अपेक्षा सुर अर्थात् इंद्रियों के अधिष्ठातृदेवता चेतन हैं। उनके विना इंद्रियाँ जड़ ही रहती हैं। विना देवतानुग्रह के इंद्रियों से ज्ञान नहीं होता। इंद्रियों के अधिष्ठातृ-देवता वेदांत-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं—जैसे चक्षु का सूर्य, त्वक् का पवन, श्रोत्र की दिशा

इत्यादि। इन इंद्रियों के अभिमानी देवताओं की अपेक्षा भी इन सब का प्रेरक जीव सचेतन है। क्योंकि जीव के भोग के लिये ही इन देवताओं की प्रवृत्ति है। किन्तु जीव भी जिसके प्रकाश से प्रकाशित है, वह अनादि, संपूर्ण जगत् का प्रकाशक, माया का अधीश होने पर सर्व ज्ञान और सर्व गुणों का आकर परब्रह्म श्रीराम है। उसी की सत्यता से जड़ भी माया सत्यवत् भासित हो रही है और अविद्या ही उसके सत्यवत् भासित होने में सहायक है। (वेदान्त-शास्त्र में ईश्वर की उपाधि को माया और जीव की उपाधि को अविद्या कहते हैं। जीव की अविद्या यद्यपि माया का ही अंश है, किन्तु वह माया के सत्य प्रतीत होने में सहायक अवश्य है। जब अविद्या निवृत्त हो जाती है, तब माया की सत्यता प्रतीत नहीं होती। अविद्या को ही यहाँ श्री गोस्वामी जी ने मोह कहा है) आगे उपसंहार करते हैं कि बस जैसे सीप में चाँदी का भास जहाँ हो जाता है, वहाँ सीप रूप अधिष्ठान ही सत्य है, चाँदी अनिर्वचनीय मिथ्या है, और सूर्य की किरणों में मृग-तृष्णा में जहाँ जल का भ्रम हो जाता है, वहाँ जल भी सूर्य की किरणों की सत्ता से ही सत्तावाला है, अतएव अनिर्वचनीय मिथ्या है; उसकी तीनों काल में कोई सत्ता नहीं, इसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म की सत्ता से ही भासित है, ब्रह्म से अतिरिक्त यह कुछ नहीं, अतएव अनिर्वचनीय है, मिथ्या है। किंतु चाँदी और जल की तरह जब तक प्रतीत हो रहा है, तब तक है ही; भ्रम होने पर भी इसे कोई हटा नहीं सकता।

यहाँ अद्वैतवाद के विपक्षियों की ओर से एक बड़ा भारी यह प्रश्न और उठता है कि यदि जगत् मिथ्या ही है, तो फिर सुख, दुःख, धर्म, अधर्म सभी मिथ्या हुए। फिर मोक्ष के लिये यत्न करना भी व्यर्थ ही है। जब बंधन ही नहीं तब मोक्ष काहे का? सुतरां धर्म और ज्ञान के लिये सभी शास्त्र जो जीव को प्रवृत्त करते हैं, एकान्ततः व्यर्थ हो जायँगे। इस महाप्रश्न का जो उत्तर वेदान्त शास्त्र में

दिया जाता है, और खूबी से दिया जाता है, वही उत्तर श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उक्त चौपाई में 'जदपि असत्य देत दुख अहई' इत्यादि वाक्यों से दिया है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक सत्ता न होने पर भी जब तक जगत् अविद्यावश भासित है, तब तक तो वह दुःख देता ही है। जैसा ज्ञानीय की डींग मारते हुए सभी कह दिया करते हैं कि स्त्री पुत्र सब अपने अपने कर्म का फल भोगते हैं, सभी अपना सुख चाहते हैं, कौन किसका साथी है, कोई किसी-का नहीं, इत्यादि, किंतु ज़रा स्त्री की पसली दुखते ही या पुत्र को ज़ुकाम होते ही सब ज्ञान उड़ जाता है, वेताव हो जाते हैं, फिरते हैं भागे भागे। देखिए, कल्पित और मिथ्या संबंध ने भी दुख दे ही तो दिया। गोस्वामी जी ने यहाँ यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे स्व सर्वथा मिथ्या है, यह सब ही जानते और मानते हैं, किंतु स्वप्न में भी यदि कोई शिर काटने लगे तो कितना दुःख होता है ? और वह दुःख तब तक दूर नहीं हो सकता, जब तक कि जाग न पड़े। जागने पर भले ही हम मिथ्या समझते रहें, किंतु जब तक स्वप्न-दशा में हैं, तब तक तो सब प्रकार का सुख दुःख होता ही है। इसी प्रकार जब तक जीव अविद्या-दशा में है, तब तक जगत् का सुख दुःख बरा-बर उसके पीछे लगा है। यह भ्रम तभी दूर होगा, जब पूर्ण रीति से जाग जायगा। अविद्यारूप स्वप्न से जागना तत्त्वज्ञान से ही हो सकता है, इसलिये शास्त्रों में कहा हुआ ज्ञान का उपदेश और उस की प्राप्ति के लिए धर्माचरण कदापि व्यर्थ नहीं हो सकता। श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यह जगत् का भ्रम करुणानिधान श्रीराम की कृपा से हो मिटता है। भगवान् का आदि अंत किसी ने नहीं देखा, अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सब उसे गाते हैं। उसी की पूर्ण भक्ति से, उसी की पूर्ण कृपा होने पर मनुष्य सब भ्रम-जाल से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञान सब की उपयोगिता सिद्ध कर दी गई।

अब पाठक विचारें कि इन चौपाइयों में कितने गूढ़ दार्शनिक विचार हैं, और किस प्रकार वेदांत के मंतव्यों का स्पष्टीकरण किया गया है। क्या अब भी श्रीगोस्वामीजी के शङ्करमतानुयायी होने में कोई संदेह रह जाता है?

बहुत लोगों का विचार है कि साकार ईश्वररूप वैकुण्ठनाथ विष्णु समय समय पर भूमि पर अवतार लेते हैं; किंतु श्रीयुत गोस्वामी तुलसीदास जी श्रीभगवान् रामचंद्र को सर्वव्यापक निराकार ब्रह्म का ही अवतार कहते हैं। आपने निम्न-लिखित चौपाइयों में अवतार-वाद का बड़ी मार्मिक रीति से उल्लेख किया है। अधर्म से भीत होकर भूमि, देव-गंधर्व आदि के साथ ब्रह्म-लोक में पहुँची। वहाँ उसने रोकर अपना कष्ट सुनाया। ब्रह्मा ने कहा—मुझ से इस कष्ट का प्रतीकार असंभव है। आगे भूमि की पीड़ा पर सब लोग विचार करने लगे कि क्या किया जाय—

बैठे सुर सब करहिं विचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
पुर वैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ वचन इकु कहेऊँ॥
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥
देश काल दिसि विदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जग-मय सब रहित-विरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटहिं जिमि आगी॥
मोर वचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

सुनि विरञ्चि मन हर्ष तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोर कर सावधान मतिधीर॥

चौपाइयों का आशय स्पष्ट है कि भूमि की पीड़ा मिटाने के लिये कोई देवता वैकुण्ठ में नारायण के समीप जाने को कहते थे, और कोई क्षीर-समुद्र-शायी भगवान् की शरण में जाने का परामर्श देते थे। ठीक ही है; जिसका प्रीतिमय-भाव जिस स्थान पर लगा हुआ है,

वहीं उसको ईश्वर की सत्ता प्रतीत होती है। किंतु अन्त में कैलास-नाथ भगवान् शङ्कर ने सब को परामर्श दिया कि ईश्वर सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। उसके प्रकट करने का साधन केवल प्रेम है। कोई देश, कोई काल, कोई दिशा, कोई विदिशा ऐसी नहीं कि जहाँ ईश्वर न हो। वह जगत्‌रूप है, "जगन्मय" अर्थात् जगत् में व्यापक है, और सब जगत् से रहित या पृथक् भी है। दार्शनिक दृष्टि से ये तीनों विशेषण बहुत बड़े महत्व के हैं। यद्यपि ये बातें देखने में विरुद्ध सी दिखाई देती हैं, किंतु विचार से सब संगत हो जाती है। जिस प्रकार मृत्तिका ही घटरूप है, मृत्तिका घट के प्रत्यंश में व्यापक है, और घट-अवस्था से रहित भी मृत्तिका भिन्न देश और भिन्न काल में मिलती है, इसी प्रकार सब जगह उपादान कारण के कार्य के साथ तीनों प्रकार के संबंध हो सकते हैं, अतः इन संबंधों के द्वारा ईश्वर की (ब्रह्म की) उपादानरूपता ही यहाँ स्फुटित की गई है। आगे भगवान् शंकर कहते हैं कि इस प्रकार का ईश्वर, प्रेम से अग्नि की तरह प्रकट हो जाता है। अर्थात् अग्नि सब पार्थिव पदार्थों में व्यापक है, किंतु अप्रकट है, दो पत्थर या काष्ठ आदि के संघर्ष से स्थानविशेष पर वही अग्नि प्रकट होकर कई प्रकार के कार्य करने लगती है। साथ ही उस एक स्थान में जाने से अन्य सब स्थानों में व्यापक रूप से रहनेवाली अग्नि का अभाव नहीं हो जाता। इसी प्रकार परमात्मा जगत् के प्रत्यंश में व्यापक है, वह भक्तों के प्रेम से कार्यविशेष के लिये स्थानविशेष में प्रकट होता है। किंतु एतावता अन्यत्र उसका उस समय अभाव हो गया, ऐसी आशंका निरी निर्मूल और अज्ञता से भरी हुई है। अस्तु, भगवान् शंकर का परामर्श सबको उचित जान पड़ा और ब्रह्मा तो इस से बहुत ही संतुष्ट हुए। आगे उसी स्थान में सबने मिलकर स्तुति की; और वहीं आकाशवाणी द्वारा रामावतार ग्रहण करने की आज्ञा सबको दी, इत्यादि कथा चलती है।

पाठक देखेंगे कि यहाँ गोस्वामी जी ने वेदांत-शास्त्राभिमत ब्रह्म का ही अवतार बताते हुए अवतारवाद के विपक्षियों को भी मुँह-तोड़ उत्तर दिया है। और इस प्रकरण से भी उनकी अद्वैतमतानु-यायिता स्पष्ट होती है।

आगे भी बाललीला में आपने व्यापक ब्रह्म का ही अवतार भगवान् रामचंद्र को बताया है—

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥

अर्थात् जो ब्रह्म सब देश और सब काल में व्यापक है, जो अकल अर्थात् प्राण, श्रद्धा आदि प्रसिद्ध सोलहो कलाओं से रहित है, जो अनीह अर्थात् सब प्रकार की इच्छाओं से रहित है, अज अर्थात् जिसका जन्म कभी नहीं होता और निर्गुण अर्थात् अवस्था रूप कोई गुण जिसमें नहीं है, अतएव जिसका नाम और रूप कुछ नहीं हो सकता; क्योंकि रूप अर्थात् आकार होना गुण की सत्ता के अधीन है। गुण के बिना आकार हो ही नहीं सकता और नाम भी किसी न किसी गुण को लेकर ही प्रवृत्त होता है। तब जहाँ गुण ही नहीं, वहाँ नाम और रूप की क्या कथा। इस प्रकार का भी भक्तों के लिये अवतार ग्रहण कर परब्रह्म विविध प्रकार के अनुपम चरित्र करता है।

इस दोहे के पूर्वार्ध में जितने विशेषण दिए गए हैं, वे सब एका-न्ततः शंकर-सिद्धांत के अनुकूल हैं। अन्य सिद्धांतों में इन विशेषणों की स्वरसता कदापि सुसंघटित नहीं होती। अर्थात् इस प्रकार का ब्रह्म दूसरे सिद्धांतों में नहीं माना जाता।

अब तक गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार प्रकट करने के लिये जितने उद्धरण दिए हैं, वे सब बालकाण्ड के हैं। विचारपूर्वक अवलोकन करने पर विज्ञ पाठकों को बालकाण्ड में और भी बहुत स्थानों में ऐसे विचार प्राप्त होंगे। किंतु हम लेख-विस्तार के भय से अब-

कांड से इतने ही उद्धरण देकर अब अयोध्याकाण्ड के भी दो एक स्थल उदाहरणार्थ दिखाते हैं। सीता, लक्ष्मण सहित भगवान् रामचंद्र के वनगमन के समय निषाद-राज गुह जब भगवान् को भूमिशयन करते देख व्याकुल हो उठे, और कैकेयी आदि को बुरा भला कहने लगे, उस समय श्री लक्ष्मणजी उन्हें समझाते हैं—

बोले लषन मधुर-मृदु बानी। ग्यान बिराग-भगति-रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज-कृत कर्म भोग सब भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह-मूल परमारथ नाहीं॥
सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ॥

यह प्रकरण इतना स्फुट है कि विस्तृत व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यहाँ जन्म, मरण, संपत्ति, विपत्ति, कर्म, धन, धान्य, स्वर्ग, नरक आदि जितने व्यवहार के विषय हैं, जो जो पदार्थ देखे, सुने, विचारे जाते हैं या बुद्धि में आ सकते हैं, उन सब को मोह (माया) मूलक और यथार्थ अर्थात् झूठा बताया गया है। और प्रपंच के सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि को स्वप्न के सदृश स्पष्ट ही कहा है। इसके आगे भी—

मोह-निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहि जग-जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच-बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय-बिलास बिरागा॥

इत्यादि चौपाइयों में जगत् के व्यवहार में निरत पुरुष को स्वप्न देखनेवाला और योगी, विरक्त, प्रपंचमिथ्यात्ववादी को जागनेवाला बताया गया है, अतः यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत व्याख्या के अनुकूल ही है।

राम, लक्ष्मण और सीता के वन में चलने के संबंध में जो श्री गोस्वामीजी की अत्यंत हृदय-ग्राहिणी मार्मिक उपमा है, उससे भी अद्वैतवाद की बड़े विलक्षण चमत्कार से पुष्टि की गई है।

आगे राम लषन पुनि पाछे। तापस वेष विराजति काछे॥
उभय मध्य सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव विच माया जैसी॥

राम और लक्ष्मण के बीच में सीता कैसी है, जैसे जीव और ब्रह्म के बीच में माया। माया ही जीव और ब्रह्म के मध्य में है, वही जीव और ब्रह्म का भेद करा रही है। यदि माया बीच में न हो तो जीव फिर ब्रह्म ही है, उनमें कोई भेद नहीं। क्या मार्मिक अद्वैत की छटा है, पाठक अनुभव करें।

इसी अभेदवाद को कुछ ही आगे चलकर श्रीगोस्वामीजी ने इतना स्पष्ट किया है कि मानो वहाँ अद्वैतामृत की वर्षा से जिज्ञासु जन के मनोमयूर सहसा नाच उठते हैं। भगवान् रामचंद्र श्री-वाल्मीकि मुनि के आश्रम में जाकर उनका आतिथ्य ग्रहण कर उनसे अपने रहने के लिये स्थान पूछते हैं। उस अवसर पर वाल्मीकि मुनि जो, रामचंद्र को परब्रह्म का स्पष्ट अवतार समझते थे, अपना कथन यों आरम्भ करते हैं—

श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस-माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महिधर लषनु सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज-तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥

राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि-सम्भु नचावनहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। अउर तुम्हहिं को जाननहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन॥

चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥

*　　　*　　　*

पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहिं देखावौं ठाउँ॥ इत्यादि।

विज्ञ पाठक देखेंगे कि यहाँ पहले छंद में श्रीराम को जगन्नियंता परब्रह्म और श्रीसीता को माया का अवतार वाल्मीकि मुनि ने कहा है, और ब्रह्म की इच्छाशक्ति द्वारा प्रेरित, क्रिया-शक्ति-रूप माया को ही संसार की उत्पादक, पालक और संहारक बनाया है। इससे प्रपंच (संसार) की मायिकता तो स्फुट हो ही जाती है। आगे शेषावतार रूप से लक्ष्मण की स्तुति कर, और तीनों के अव-तार-धारण का प्रयोजन बताकर राम (परब्रह्म) का स्वरूप मन और वाणी के अगोचर बताते हुए नेति नेति श्रुति द्वारा ब्रह्म के निरू-पण का स्मरण कराया गया है, यह स्पष्ट शांकर मत है। भगवान् शंकराचार्य ही परब्रह्म को सर्वधर्म-रहित, निर्विशेष अतएव मन और वाणी दोनों का अविषय कहते हैं। जिस वस्तु में कोई धर्म (गुण) होता है, वाणी उसी का प्रतिपादन कर सकती है, और मन उसी का ग्रहण करता है। विना धर्म के कोई वस्तु कभी मन में आती हुई नहीं देखी जाती। फिर जो मन में ही न आ सके, वाणी को उसे बताने की क्या शक्ति है? मन ही अपने निश्चित किए हुए पदार्थ को वाणी द्वारा प्रकट कराया करता है। अतः निर्धर्मक या निर्गुण पदार्थ न मन का विषय हो सकता है, न वाक् का। अथवा यों कहो कि धर्म या गुण ही मन के द्वारा गृहीत और वाक् के द्वारा प्रकाशित हुआ करते हैं। गुणों के अतिरिक्त और पदार्थ का स्वरूप हम समझते ही क्या हैं? श्वेत, कृष्ण, ठंढा, गरम, लम्बा, चौड़ा, सुख-हेतु, दुःख-हेतु, उत्तम, अधम इत्यादि जो कुछ हम समझते हैं, यह सब गुण ही तो हैं। वाणी से भी शब्दों के द्वारा भिन्न भिन्न गुण ही प्रतिपादित हुआ करते हैं। गुणों के ही ग्रहण

और प्रकाशन का मन और वाणी का स्वभाव है। अतः जिसमें कोई गुण या धर्म नहीं, ऐसे निर्गुण या निर्धर्मक पदार्थ के मन और वाणी का विषय होने की कोई संभावना ही नहीं रह जाती। अतएव श्रुति किसी शब्द द्वारा साक्षात् परब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकती; किंतु बिना श्रुति के प्रतिपादन किए ब्रह्म को जानने का और कोई उपाय भी नहीं है, अतः 'नेति' 'नेति' कहती हुई श्रुति सब गुणों और धर्मों के निषेध द्वारा ब्रह्म को उपलक्षित करती है। अर्थात् जो गुण या धर्म संसार में हमारी दृष्टि में आते हैं, वे सब ब्रह्म में नहीं हैं; ब्रह्म सब धर्मों से रहित, अकथनीय, अपार है, इतना ही ब्रह्म के विषय में कहकर श्रुति चुप हो जाती है। यही ब्रह्म विषय में श्रीशंकराचार्य का सिद्धांत है, और यही यहाँ श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों से सुस्पष्ट प्रतिपादित हुआ है।

अब यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब मन और वाणी ब्रह्म का स्पर्श नहीं कर सकते, तब ब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा? और यदि ज्ञान ही न हुआ तो ब्रह्म है, यही कैसे सिद्ध होगा? फिर तो ब्रह्म सर्वथा शून्यरूप हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं, जिसका ज्ञान होना आवश्यक हो। वह तो सब का ज्ञाता है। जो ज्ञाता है, उसे ही जानना चाहोगे, तो ज्ञाता और कोई मानना पड़ेगा। किंतु ब्रह्म के अतिरिक्त ज्ञाता और कोई है नहीं, अतः ब्रह्म प्रपंच का साक्षात् द्रष्टा, साक्षी, स्वतःप्रकाश है। उसके जानने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती; और वह सब प्रमाणों का प्रवर्तक, बिना प्रमाण के ही स्वतःसिद्ध है। किसी ज्ञाता (जाननेवाले) को अपने स्वरूप के संबंध में कभी संदेह नहीं होता, कि मैं हूँ या नहीं। और न कोई अपने को किसी प्रमाण के द्वारा जानने का ही यत्न करता है; क्योंकि अपना स्वरूप तो बिना प्रमाण के ही स्वतःसिद्ध है। प्रत्यगात्म-स्वरूप ही परब्रह्म वेदांतसिद्धांत में माना गया है, अतः ब्रह्म की सिद्धि के लिये उसके

प्रमाणजनित ज्ञान की आवश्यकता नहीं। यही सिद्धांत गोस्वामीजी ने दिखाया है कि 'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे' जगत् दृश्य है और आप द्रष्टा हैं। आगे श्रीयुत वाल्मीकि मुनि की उक्ति में गोस्वामी जी राम को ब्रह्मा, विष्णु, शिव सब के नचानेवाले अर्थात् अपने अपने कार्य में प्रवर्तक कहते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी आपको नहीं जान सकते, तो और कौन जानेगा, इस प्रकार सर्वथा राम की अज्ञेयता दृढ़ करते हैं। इसका तात्पर्य है यह कि यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीनों ब्रह्म के ही उपाधिविशिष्ट स्वरूप हैं, तीनों ही सृष्टि, पालन और संहाररूप अपनी अपनी क्रियाओं में ईश्वर कहे जाते हैं, परन्तु निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म, जो तुरीय (चौथा) कहलाता है, वह इन तीनों रूपों से भी परे है, वा यों कहिए कि उसी मूल के आधार पर ये तीनों रूप भी अवस्थित हैं। उसी की सत्ता से ये तीनों सत्तवान् हैं, और उसी की शक्ति द्वारा ये सब शक्तिमान् हैं। यद्यपि शिव, विष्णु आदि के उपासक अपने उपास्य से पृथक् ब्रह्म को नहीं समझते, और पृथक् वस्तुतः है भी नहीं, क्योंकि अद्वैत सिद्धांत में ब्रह्म से पृथक् तो किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं मानी जाती, फिर शिव, विष्णु आदि तो केवल अधिकारोपाधि मात्र का भेद रखते हैं, वे ब्रह्म से पृथक् या ब्रह्म उससे पृथक् क्यों माना जायगा। तथापि सृष्टि आदि कार्यों के अधिकार द्वारा व्यवहार दशा में तीनों रूप से भासित होते हुए ब्रह्मा, विष्णु और शिव का वस्तुतः जहाँ अभेद है, वह तीनों से परे चतुर्थ रूप व्यवहार के अनुरोध से मानना ही पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा सृष्टि बनाते हैं, विष्णु उसका पालन करते हैं, रुद्र अंत में संहार करते हैं, ऐसी व्यावहारिक प्रसिद्धि है। तो इस व्यावहारिक के अनुसार ब्रह्मा का कार्य विष्णु नहीं करते और विष्णु का कार्य ब्रह्मा नहीं करते, इत्यादि रूप से कार्य द्वारा इन तीनों का भेद ही दृष्टि में आता है। परंतु वस्तुतः एक ही चित्स्वरूप रजोगुणप्रधान माया-शक्ति के संबंध से सृष्टि कार्य करता हुआ ब्रह्मा, वही सत्त्वगुणप्रधान

मायाशक्ति के संबंध से पालन करता हुआ विष्णु, और वही तमोगुणप्रधान मायाशक्ति के संबंध से संहार करता हुआ रुद्र कहलाता है। अतः इनमें केवल कार्य और कार्य के अनुकूल शक्तिरूप उपाधिमात्र का भेद है, चित्स्वरूपता में कोई भेद नहीं। जैसे एक ही पुरुष जिस समय पीतांबर पहने, गोमुखी हात में लिए, भस्मतिलकाच्छन्न होकर कुशासन पर बैठकर जप करता है, उस समय धार्मिक, और जिस समय अदालत की कुर्सी पर बैठकर कोट बूट डाँटे हुए न्यायान्याय का विवेचन कर रहा है, उस समय जज, एवं जिस समय दिन भर के काम से थककर सब वस्त्र आदि उतारे चारपाई पर शयन करता है, उस समय एक निद्रालु आलसी पुरुष कहा जाता है। इन समयों में उसकी क्रिया और क्रिया के अनुकूल शक्ति एवं स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परंतु तीनों दशाओं में देखकर अनुसंधान करनेवाला पुरुष ठीक समझ लेता है कि पुरुष एक ही है, भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न कार्य करता हुआ भिन्न प्रतीत होता है। इसी दृष्टांत के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का भी भेदाभेद जानो। कार्योपाधिद्वारा ये भिन्न भिन्न हैं, किंतु एक ही चिद्रूप के अनुगत होने से सर्वथा अभिन्न वा एक ही हैं। भेद दशा में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ये पृथक् पृथक् नाम हैं, अभेद दशा में परब्रह्म एक ही नाम है। यद्यपि कहा जा चुका है कि मन और वाणी का अविषय होने से उस अभिन्न चिद्रूप का कोई नाम नहीं हो सकता, तथापि बिना संकेत के अर्थ समझाना असंभव है; इसलिये उसका तुरीय या परब्रह्म नाम कल्पना कर लेते हैं। अस्तु, तीनों का व्यावहारिक भेद जहाँ जाकर मिट जाता है, वह अभिन्न चिद्रूप तीनों में अनुगत और तीनों का आधार होने के कारण तीनों से पर तुरीय (चतुर्थ) कहलाता है; और कार्योपाधि परिच्छिन्न इन तीनों दशाओं की अपेक्षा वह अपरिच्छिन्न पर तत्व, विभु होने से इनके द्वारा भी अज्ञेय है। उपाधिविशिष्टज्ञाता को अपने स्वरूप का साक्षात्कार

अनुगत क्रियाशून्य-पुरुष पर वृत्ति चली जाती है। इसी प्रकार जो विष्णु स्वरूप के उपासक हैं, वे पालन-शक्ति-विशिष्ट चिद्रूप पर चित्त लगाते हुए भी चिद्रूप से उसी को उत्पादक और संहारक समझते रहते हैं और शिव रूप में चित्त लगानेवाले उसी को सब कार्यों का अधिष्ठाता मानते हैं। सभी उपासक अन्यान्य सब रूपों की अपेक्षा अपने उपास्य रूप को पर मानते हैं, उस रूप को साक्षात् परब्रह्म व अन्यान्य रूपों को उसका अनुगत अपर देवता समझते हैं, तभी उनकी उपासना दृढ़ होती है। वस्तुतः उपाधि-अंश को छोड़ देने पर सभी परब्रह्म हैं, और उपाधि-अंश को साथ लेने पर सभी रूप परब्रह्म से कुछ अपकृष्ट कोटि के हैं। परंतु उपासक अपने उपास्य में से तो उपाधि अंश को छोड़कर परब्रह्म रूप से उसकी भावना करता है, क्योंकि वह रूप उसने परब्रह्म की उपासना का अवलम्ब या प्रतीक मान रक्खा है। उसमें ब्रह्मभावना किए बिना उपासना ही कैसे हो। और अन्यान्य रूपों से उसका प्रयोजन न होने के कारण वे व्यवहार में जैसे प्रतीत होते हैं, तदनुसार उनको उपाधिविशिष्ट ही मानता रहता है। सुतरां उसका उपास्य औरों से पर हो ही गया। अतएव किसी उपासक की भावना मिथ्या नहीं होती, और सभी उपासक अपनी अपनी सत्य भावना से अपना परम प्राप्य प्रयोजन पा लेते हैं। हमारे गोस्वामी जी रामस्वरूप के उपासक हैं, अतः वे राम को साक्षात् परब्रह्म एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि और सब रूपों को राम के अनुगत मानते हैं। इसी से राम के लिये उनका 'विधि-हरि-शम्भु नचावनहारे' कहना बिलकुल ठीक है। और शैवों का राम को शिव-भक्त, एवं शाक्तों का राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि सब को शक्ति-परतंत्र कहना भी बिलकुल ठीक है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार दशा में सब की ठीक उपपत्ति लग जाती है। इस कारण जिन सज्जनों के ऐसे विचार हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी निरे वैष्णव ही थे, अतएव

उन्होंने स्थान स्थान में शिव को विष्णु का भक्त बनाया है, वे सज्जन बिलकुल गलती पर हैं। गोस्वामी जी अद्वैत-सिद्धान्त के पूरे अनुयायी होते हुए भी अपने अधिकारानुसार रामरूप के अनन्य उपासक हैं; और राम में परब्रह्म की एवं विष्णु, शिव आदि सब में उनके भक्त या अनुगत होने की भावना करते हैं। विष्णुरूप से विष्णु का शिव से उत्कर्ष उन्होंने कहीं नही लिखा। विष्णु स्वरूप का उपासक वैसा कह सकता है, रामकृष्ण आदि सब को विष्णु के अवतार व समान रूप मान सकता है। किंतु गोस्वामी जी केवल रामस्वरूप के अनन्य भक्त हैं, वे और जगह ब्रह्म-भावना नहीं करते। अतएव कृष्ण मंदिर में जाकर राम की भावना से प्रणाम करने की और कृष्णरूप के रामरूप हो जाने की उनके संबंध की कथा सुप्रसिद्ध है। अस्तु, तात्पर्य यही निकला कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव को उपाधिविशिष्ट रूप और इन तीनों से पर एक तुरीय रूप गोस्वामी जी ने यहाँ स्पष्ट माना है, जो कि शांकर अद्वैत सिद्धांत के सर्वथा अनुकूल हुआ। वैष्णव दर्शनों के अनुसार विष्णु को 'परतत्त्व' कहा। वे इन दोनों को एक कोटि में मानते हैं और अपने उपास्य राम को 'बिधि-हरि-शम्भु नचावनहारे' कहते हैं। उनके विचार में राम विष्णु के अवतार नहीं, परब्रह्म का रूप-ग्रहण हैं। ये सब विचार शांकर सिद्धांत में ही उपपन्न हो सकते हैं, और मतों में इन विचारों की कोई उपपत्ति नहीं।

आगे वाल्मीकि मुनि ने कहा है कि राम! आपको वही जान सकता है, जिसे आप स्वयं अपना स्वरूप जनाते हैं। यह "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इस श्रुति का अनुवाद है, और "आपको जानते ही वह जाननेवाला आप रूप ही हो जाता है" यह "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इस श्रुति का स्पष्ट अनुवाद है। राम (ब्रह्म) का जाननेवाला राम (ब्रह्म) ही हो जाता है, इससे बढ़कर भला अद्वैतवाद का सिद्धान्त गोस्वामी जी क्या लिख सकते थे!

ज्ञान के साधनों में गोस्वामी जी भक्ति को सब से उत्कृष्ट अवश्य समझते हैं, किंतु भक्ति से ईश्वर की प्रसन्नता संपादित कर ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है, यह सिद्धांत उक्त चौपाई से प्रस्फुटित हो गया है। 'जिसको आप जनाते हैं, वही जानता है' यहाँ तक भक्ति ज्ञान का साधन रही। और 'आपको जानते ही आपरूप हो जाता है' यह ज्ञान का फल बताया गया। ज्ञान के अनंतर किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं रहती, न साधन उस समय हो ही सकता है, यही शांकर सिद्धांत है। सो इस सिद्धांत का भी यहाँ गोस्वामी जी ने पूर्ण अनुगमन किया। और आगे भी 'आपकी कृपा से भक्त लोग,आपको जान सकते हैं, आप का स्वरूप चिदानन्दमय, विकार-रहित है। उस स्वरूप को उसके अधिकारी ही जानते हैं'—इत्यादि कहते हुए ज्ञान व उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है। 'मुझसे आप पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ—सो इसका उत्तर देने में मुझे बड़ा संकोच है। मैं नहीं जानता कि आप कहाँ नहीं हैं। यदि कहीं न होते तो वहाँ रहने का स्थान बताता' इत्यादि उक्ति चातुरी से आगे भी भगवान् वाल्मीकि के वाक्यों में राम की व्यापकता का ही विस्तार बताया गया है। किंतु आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उन पर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।

यों अयोध्या काण्ड में अद्वैतवाद के दो एक निदर्शन दिखाकर अब हम अपने पाठकों का अरण्य काण्ड पर दृष्टिपात कराना चाहते हैं। अरण्य काण्ड में एक तत्वज्ञान का खास प्रकरण है, जहाँ लक्ष्मण के प्रश्न पर स्वयं भगवान् रामचंद्र ने श्रीमुख से जीव, ईश्वर, माया आदि का स्वरूप समझाया है। कहने की आवश्यकता न होगी कि यह प्रकरण भी अक्षरशः शाङ्करसिद्धांत के अनुकूल है। अध्यात्म रामायण के अरण्य काण्ड में तत्वज्ञान विषय पर राम लक्ष्मण का ऐसा संवाद मिलता है। उसी के आधार पर श्रीगोस्वामीजी ने भी

अरण्य कांड में यह संवाद लिखा है। इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने अध्यात्म रामायण के इस तत्व ज्ञान के प्रकरण को अति संक्षिप्त कर दिया है, जैसा कि प्रायः ग्रंथ विस्तार से बचने के लिये वे सर्वत्र ही करते हैं। किंतु फिर भी स्वच्छ दर्पण की तरह इसमें अद्वैतवाद के मुख्य तत्त्व स्फुट प्रकाशित हो रहे हैं। अब पाठक उस प्रश्नोत्तर की ओर सावधान होकर दृष्टिपात करें—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरण-रज-सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥
ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

प्रश्न के शब्द अत्यंत स्पष्ट हैं। एकांत में बैठे प्रभु रामचंद्र से लक्ष्मण ने ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, जीव, ईश्वर और उनके भेद तथा उन सब का स्वरूप समझाने की प्रार्थना की है। अब भगवान् रामचंद्र का उत्तर सुनिए:—

थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मनु चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीवनिकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके॥
ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन-सम सिद्धि तीनि-गुन-त्यागी॥
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बन्ध मोच्छ-प्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव॥
धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

जातें वेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होहिं अनुकूला॥

यह प्रकरण अत्यंत गम्भीर और अति संक्षिप्त है। सब तत्वों को बहुत थोड़े में समझाया गया है। आरंभ में भगवान् प्रतिज्ञा भी यही करते हैं कि मैं थोडे में सब समझाकर कहता हूँ, तुम मन, बुद्धि और चित्त तीनों वृत्तियों को एकाग्र करके सुनो। प्रश्न के क्रम को छोड़कर सब से पहले भगवान् रामचंद्र ने माया का निरूपण किया है, क्योंकि माया सब का कारण है, इस हेतु माया के निरूपण के बिना औरों का निरूपण कठिन है। माया का स्वरूप संक्षेप में यों बताया गया है कि मैं-मेरा और तू-तेरा यह माया है, जिसने सब जीवों को वश में कर रक्खा है। तात्पर्य यह हुआ कि अहंबुद्धि (अहंकार) ममबुद्धि (ममता) और मैं-तू, मेरा-तेरा आदि भेद-बुद्धि ये सब माया के परिणाम हैं, इन्हीं बुद्धियों के द्वारा माया का परिचय हो सकता है। ब्रह्म सर्व-वृत्ति-शून्य, सर्व-भेद-शून्य, स्वतंत्र एक रस है; वहाँ न अहंवृत्ति हो सकती है, न 'मम' वृत्ति हो सकती है। अपने से भिन्न कोई है ही नहीं, फिर 'मम' (मेरा) किसको कहा जाय? और बिना भेद के मेरा और तेरा आदि भेद की प्रतीति भी सर्वथा नहीं बन सकती। ऐसी स्थिति में भी जो एक विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति अहंता, ममता और भेद आदि की सब प्रतीति करा देती है, वही माया है। इस माया के बंधन में आकर ही जीव संसारी होता है। इसी प्रकरण में अध्यात्म रामायण में माया का निर्वचन यों किया गया है।

अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत्।
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते॥

अर्थात् आत्मारूप न होने पर भी शरीरादि में जो आत्मबुद्धि है, वही माया है; और वही संसार की कल्पना करती है। अहंबुद्धि

सदा शरीर, इन्द्रिय आदि को अन्तर्गत अवश्य रखती है; शरीर, इन्द्रिय, मन सब को छोड़कर शुद्ध आत्मा अहंवुद्धि का विषय नहीं होता; क्योंकि वह निर्गुण, निष्क्रिय है, और अहंवुद्धि गुण, क्रिया को साथ लेकर ही प्रवृत्त होती है। सत्य तो यह है कि शरीर आदि का आत्मा के साथ एकीकरण वा अध्यास करानेवाली यह अहंवुद्धि ही है। इसी से जहाँ अध्यात्म रामायण में अनात्मा में आत्माभिमान को माया कहा गया था, वहाँ गोस्वामीजी ने अहंवुद्धि को ही माया कह दिया। शब्द में भेद है, वात एक ही है। इस पर किसी को यह संदेह हो सकता है कि केवल अंतःकरण वृत्ति को ही माया कहते हैं, और जगत् की बनानेवाली प्रकृति कोई और ही है। इस संदेह को सर्वथा निराकृत करने के लिये आगे श्री गोस्वामीजी स्पष्ट कर देते हैं कि गो-गोचर अर्थात् इंद्रियों का विषय जो कुछ हो सकता है और न केवल इंद्रियों का, प्रत्युत् मन भी जहाँ तक जा सकता है, अर्थात् मन का भी जो कुछ विषय हो सकता है, जहाँ तक इंद्रियों की और मनकी पहुँच है, उस सब को माया ही समझो। इंद्रियों के विषय, नाम और रूप, एवं मन के विषय, इनके संस्कार, इन सब को यहाँ स्पष्ट शब्दों में माया वा मायिक कहा गया है, यह सब शांकर-सिद्धांत के अनुसार है। आगे कहते हैं कि उस माया के दो भेद हैं—एक विद्या, दूसरी अविद्या। एक अर्थात् अविद्या जिसे अज्ञान वा अन्यथा ज्ञान भी कहते हैं, अत्यंत दुष्ट और दुःखरूप है, जिसके वश में आकर जीव संसार-रूप कूप में गिरा हुआ है। और एक अर्थात् दूसरी (अविद्या से भिन्न) विद्या संसार की रचना करती है। उसके वश में गुण (सत्त्व, रज, तम) हैं, किंतु वह प्रभु की प्रेरणा से संसार की रचना करती है, अपना वल उसके पास कुछ नहीं है। वेदांतशास्त्र में ईश्वर की उपाधि को शुद्ध सत्त्व-प्रधान माया और जीव की उपाधि को मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या कहा गया है। यहाँ श्री गोस्वामीजी ने ईश्वर की उपाधि का विद्या शब्द

से उल्लेख कर दिया। अविद्या से विलक्षण होने के कारण व सत्त्व-प्रधान होने के कारण ही संभवतः उसे विद्या कहा गया है। पहले लिखा जा चुका है कि अध्यात्म रामायण के आधार पर ही यह तत्त्व-निरूपण है। और अध्यात्म रामायण में—

रूपे द्वे निश्चिते पूर्वे मायायाः कुलनन्दन।
विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत्॥
लिंगाद्यब्रह्मपर्यंतं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः।
अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति॥

इत्यादि के द्वारा एक विक्षेप शक्ति और दूसरी आवरण शक्ति यही माया के दो रूप बताए गए हैं। आवरण शक्ति स्वरूप ज्ञान नहीं होने देती, और विक्षेप शक्ति आवृत वस्तु में जगत् की कल्पना कराती है। इस प्रकरण के साथ गोस्वामी जी की प्रकृत चौपाई की तुलना करने पर यह सिद्ध होता है कि यहाँ श्रीगोस्वामी जी ने आवरण शक्ति का अविद्या पद से और जगदुत्पादक विक्षेप शक्ति का विद्या पद से उल्लेख किया है। क्योंकि गोस्वामीजी के बताए विद्या और अविद्या के लक्षण इन्हीं दोनों शक्तियों में स्पष्ट मिलते हैं। यद्यपि विक्षेप शक्ति का विद्या पद से व्यवहार अन्यत्र वेदांत ग्रंथों में देखा नहीं गया, किंतु प्रकरण और लक्षण की अनुकूलता से यहाँ विद्या पद से उसी शक्ति का ग्रहण समंजस हो सकता है। अविद्या से विलक्षणता और ईश्वरीय शक्ति होना ही उसके विद्या व्यवहार का हेतु हो सकता है। विद्या, जिसे ज्ञान कहते हैं, इसी विक्षेप शक्ति के अंतर्गत है; इसलिये भी इसे विद्या कहना ठीक हो सकता है।

अथवा एक दूसरी भी व्याख्या उक्त चौपाइयों की हो सकती है। पहले माया का लक्षण बताकर आगे उसके दो भेद किए गए—'बिद्या अपर अबिद्या दोऊ' अर्थात् माया का एक भेद है विद्या और दूसरा भेद है 'दोऊ अविद्या' अर्थात् दोनों प्रकार की अविद्या। इनमें

से विद्या को छोड़कर दोनों प्रकार की अविद्या का ही स्वरूप पहले बताते हैं—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

ये दोनों अविद्या के ही स्वरूप हैं, जिन्हें अध्यात्म रामायण में आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति कहा गया है। एक जीव को भवकूप में गिराती है, और दूसरी जिसके वश में गुण हैं, प्रभु की प्रेरणा से संसार को रचती है। यों दो प्रकार की अविद्याएँ बताकर अब विद्या का स्वरूप आगे कहते हैं—

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।

तात्पर्य यह कि इन दोनों अविद्याओं में से जहाँ एक भी न रहे, और जिसके द्वारा सब में ब्रह्मरूप का दर्शन हो, उसे ज्ञान अर्थात् विद्या समझो। ज्ञान और विद्या शब्द का एक ही अर्थ सुप्रसिद्ध है। वह अविद्या का सर्वथा विरोधी है। ज्ञान का उदय होने पर उसी क्षण अविद्या का आवरण दूर हो जाता है, और विक्षेप शक्ति द्वारा उत्पादित जगत् भी क्रमशः प्रारब्धक्षय होने पर लीन हो जाता है। यों विद्या यद्यपि अविद्या की विरोधिनी है, किंतु वह भी अंतःकरण की वृत्ति ही है। और अंतःकरण माया से बना है। सुतरां यह ज्ञानरूप विद्या भी माया के ही भीतर आ गई। इसलिये श्रीगोस्वामी जी ने इसे भी माया के भेदों में लिखा। यह व्याख्या सर्वांश में वेदांत ग्रंथों के व अध्यात्म रामायण के अनुकूल होती है, और गोस्वामीजी के शब्दों का स्वारस्य भी इसमें अच्छा होता है। इस पर पाठक सज्जन विचार करें। अस्तु, कोई भी व्याख्या की जाय, लक्षण और प्रकरण की विशुद्धि से शांकर मत की अनुकूलता इसमें सुस्पष्ट है।

आगे वैराग्य का स्वरूप बताया गया है कि जो त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्तमोमूलक) सिद्धि का तृण के समान परित्याग कर देता

है, वह परम वैराग्ययुक्त समझा जाना चाहिए। आगे के दोहे में जीव और ईश्वर का स्वरूप बताया गया है। उसका तात्पर्य है कि जो अज्ञानवश अपने को माया का स्वामी नहीं समझता, प्रत्युत् अपने को माया के अधीन मानता है, और वैसा ही कहता है, वह जीव है। और जीव को बंध मोक्ष देनेवाला, सबसे पर और माया का प्रेरक सीव—शिव अर्थात् ईश्वर समझना चाहिए। इस दोहे से बहुतों को शंका होती है कि गोस्वामी जी ने 'जीव और सीव' (शिव, ईश्वर) को भिन्न भिन्न बताया, तब अद्वैत कहाँ रहा? यह तो स्पष्ट द्वैत वाद है। किंतु यह शंका निर्मूल है। जीव का जीव भाव, और ईश्वर का ईश्वर भाव रहने तक व्यवहारिक भेद शंकर सिद्धांत में भी माना जाता है। हम पहले लिख चुके हैं कि जीवभाव और ईश्वर-भाव दोनों दूर होकर जब केवल शुद्ध चैतन्य का भाव होता है, तब अद्वैत होता है। वह होता है अविद्या हटने पर। जब तक अविद्या है, तब तक भेद भी है। यही यहाँ गोस्वामीजी ने भी कहा है कि जो माया के वश में है, वह जीव, और जो माया का प्रेरक है वह ईश्वर है। इससे माया के द्वारा ही तो भेद बताया गया; स्वरूप में कोई भेद नहीं है। और 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।' इस वाक्य में स्पष्ट ही कह दिया कि ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश हो जाने पर भेद नहीं रहता, सब ब्रह्मरूप भासित होता है। अतः यहाँ भेद-भाव का गंध भी नहीं। यह सब शांकर सिद्धांत के अनुसार है।

इसके आगे कहते हैं कि धर्म से वैराग्य उत्पन्न होता है, योग से ज्ञान होता है, और ज्ञान को वेद ने मोक्षदाता बताया है। जिसके द्वारा मैं (रामचंद्र) शीघ्र द्रुत अर्थात् कृपालु हो जाता हूँ, वह भक्त को सुख देनेवाली मेरी भक्ति है। यह भक्ति स्वतंत्र है, अपनी सिद्धि में किसी दूसरे को अवलंब नहीं बनाती, किंतु ज्ञान और विज्ञान इसके अधीन हैं। इस कार्य-कारण भाव पर विचार करने से भी यही तात्पर्य निकलता है कि यद्यपि गोसामी जी भक्तिमार्ग के अनन्य

शरण हैं—अपने उपयुक्त समझकर उसी मार्ग का उन्होंने आश्रयण किया है—तथापि दार्शनिक सिद्धांत उनका यही है कि भक्ति से ज्ञान होता है, और ज्ञान से मोक्ष होता है। यही शांकर-वेदांत का भी सिद्धांत है। आगे भक्ति की प्रशंसा और उसके साधनों का निरूपण है, जिसका प्रकृत विषय में विशेष उपयोग नहीं। अस्तु। रामायण में तत्त्वज्ञान का यह सर्वमुख्य प्रकरण है; और यह अक्षरशः शांकर-सिद्धांत का अनुगामी है। तब रामायण में किसी दूसरे सिद्धांत का प्रतिपादन होगा, ऐसी संभावना भी नितांत अप्रयोजक होगी।

यों रामचरित मानस के अनेक स्थलों की विस्तृत व्याख्या करके गोस्वामी श्री तुलसीदास जी की दार्शनिक-तत्व-प्रतिपादन शैली और उनका शांकर सिद्धांतानुयायी होना दोनों स्पष्ट प्रदर्शित किए जा चुके हैं। अन्यान्य भी ऐसे प्रकरण रामायण में बहुत हैं, जिनमें तत्त्व-ज्ञान का थोड़ा बहुत प्रसंग आया है, और वह सब शांकर-सिद्धांत के अनुकूल ही है। किंतु अब यह लेख बहुत विस्तृत हो गया, अतः अधिक कहना हम अनुपयुक्त समझते हैं। हाँ, उत्तर-कांड का उत्तर भाग तत्वज्ञान का एक और बहुत बड़ा ख़जाना है। उसमें से स्थल-विशेषों की कुछ चौपाइयाँ यहाँ और उद्धृत कर दी जाती हैं। उनकी विशेष व्याख्या अब न की जायगी। पाठक सज्जन ही विचार कर देख लें कि ये सब शांकर सिद्धांत का किस प्रकार अनुसरण कर रही हैं। प्रायः ऐसे प्रकरणों की व्याख्या विस्तार से पहले हो भी चुकी है, अतः अब अधिक पिष्टपेषण अनावश्यक है। अस्तु, रामराज्याभिषेक के अनन्तर जब वेद स्तुति करने को आए हैं, तब उन्होंने अंत में कहा है:—

अव्यक्त-मूल-मनादि* तरु त्वच चारि† निगमागम भने।

---

* माया संसार-वृक्ष की जड़ है। † चार प्रकार के जरायुज, अण्डज स्वेदज, उद्भिज्ज प्राणी या चारों वेद संसार-वृक्ष की त्वचा हैं।

षट् स्कंध* साखा पंचबीस† अनेक पर्न सुमन घने ॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ॥
जे ब्रह्म अजमद्वैत-मनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ॥

यहाँ संसार-वृक्ष जिसका स्वरूप है, उस सगुण ब्रह्म को प्रणाम करके आगे बताया गया है कि अद्वैत-ब्रह्म केवल अनुभवगम्य है, वह कहा नहीं जा सकता, इससे सगुण ब्रह्म का यश ही वेद बताते हैं। निर्गुण ब्रह्म का विचार कठिन होने से सगुण ब्रह्म सब का उपास्य होता है और होना भी चाहिए। यह अन्यत्र भी बहुधा गोस्वामी जी लिखा करते हैं। जैसा कि अरण्य काण्ड में सुतीक्ष्ण मुनि कहते हैं—

जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तरजामी।
जो कोसलपति राजिवनयना। करौ सो राम हृदय मम अयना ॥

एवं वहीं आगे अगस्त्य ऋषि कहते हैं—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता।
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं ॥

निर्गुणरूप केवल विज्ञेय है, भक्ति का आधार सगुण ही सकता है। इत्यादि।

उत्तरकाण्ड में सनकादिक की स्तुति में लिखा है—

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुंदर अति आगर ॥
जय इन्दिरा-रमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर ॥
ग्यान-निधान अमान‡ मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद ॥
तग्य कृतग्य अग्यता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन ॥
सर्ब सर्बगत सर्ब-उरालय। बससि सदा हम कँह परिपालय ॥

---

* ज्ञान, अज्ञान, शीत, उष्ण, सुख, दुःख ये छः अथवा छः शास्त्र स्कन्ध हैं।
† सांख्य प्रसिद्ध २५ तत्त्व शाखाएँ हैं।
‡ जो किसी प्रमाण से न जाना जाय, किन्तु सब के जानने के लिये प्रमाण रूप हो।

यहाँ ब्रह्म को निर्गुण और अनाम कहते हुए भी गुणसागर और अनेक नामवाला कहा है। उसकी उपपत्ति वेदान्त के अनुसार माया रहित और माया शबलित अवस्थाओं में ही होती है।

आगे श्री रामचन्द्र अपने भ्राताओं को उपदेश देते हैं—

अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुरनरमुनिनायक॥

सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिवेक॥

यहाँ वेदान्ताभिमत सर्व कर्म-त्याग, गुण और दोषों की मायिकता व परमार्थ दृष्टि में दोनों का अदर्शन बताया गया है।

आगे गरुड़ के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदान्ताभिमत विस्तृत निरूपण है। उसमें से कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया-कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि।
छुटै न राम-कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥

व्यापक व्याप अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥
सोइ सच्चिदानन्दघन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरञ्जन सुखसंदोहा॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥
जथा अनेकन वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपनु होइ न सोइ॥

आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदान्त विषय है। ऐसे स्थलों की व्याख्या बहुधा हो चुकी है। इस प्रकरण में यह विशेषता है कि यहाँ भगवान् रामचन्द्र के प्राकृत-चरित्रों का समाधान इसी रूप

में किया गया है कि अज्ञानियों को भगवान् राम में प्राकृत चरित्रों का आभास होता है। यथार्थ में वे चरित हैं ही नहीं। इससे बढ़ कर मायिकता का सिद्धान्त क्या कहा जा सकता है।

आगे भी लिखा है:—

ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर।
जौं सब के रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
मायावस्य जीव अभिमानी। ईस बस्यमाया गुनखानी॥
परवस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
मुधा भेद जदपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

ऐसे स्पष्ट शब्दों में अद्वैतवाद और मायावाद के प्रतिपादन के शतशः स्थल हैं। दर्शनों में रुचि रखनेवाले पाठकों से हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे अवधानपूर्वक श्री गोस्वामी जी के तत्त्व-निरूपणों को देखें। उन्हें बहुत लाभ होगा। श्री गोस्वामी जी महाराज ने न केवल रामचरित लिखा है, बल्कि 'राम-तत्त्व' भी समझाया है। और उपासना, अवतार वाद, रामचरित आदि पर जो शङ्काएँ आज-कल होती हैं, उनका दार्शनिक प्रौढ़ युक्तियों में सुस्पष्ट उत्तर दिया है। इसी से उनका 'रामचरित मानस' एक शास्त्र है और मनोयोग से पढ़ने की वस्तु है।

उत्तरकाण्ड में गरुड़ और काकभुशुण्ड के संवाद में श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने तत्त्वज्ञान का बहुत कुछ अंश स्थान स्थान पर दिया है। काकभुशुण्ड जी भक्तिमार्ग के अनुयायी हैं, उनका सिद्धान्त भक्ति-प्रधान है। भक्ति बिना वे ज्ञान, विज्ञान की कोई कीमत नहीं समझते। इस बात पर उनका अपने गुरु लोमश ऋषि तक से झगड़ा हो चुका था, और उसी के फल-रूप में उन्हें काकदेह धारण करनी पड़ी थी। यह सब होते हुए भी काकभुशुंड जी तत्त्वनिरूपण में अद्वैतवाद व मायावाद का ही प्रख्यापन करते हैं। इसके दो एक अवतरण हम यहाँ उद्धृत करते हैं। श्रीरामचन्द्र

भगवान् काकभुशुण्ड को वर देते हुए आज्ञा करते हैं:—

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर विविध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबतें अधिक मनुज मोहिं भाए॥
इत्यादि।

यहाँ संसार का माया से उत्पन्न होना तो स्पष्ट है, किन्तु माया शब्द के अन्यान्य अर्थ करके कई एक वादी ऐसे स्थलों से पार पा जाते हैं। वे कह देते हैं—माया नाम ईश्वर की शक्ति का या प्रकृति का है, वह सत्य ही है, अतः माया-जन्य होने पर भी जगत् में मिथ्यात्व मानने का कोई प्रमाण नहीं मिला; इत्यादि। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी ने माया शब्द का व्यवहार ठीक उसी अर्थ में किया है, जिस अर्थ में कि शाङ्कर सिद्धान्त में किया जाता है। इसके कई प्रमाण उनके ग्रन्थ में हैं, कुछ ऐसे प्रकरण पहले इस लेख में आ भी चुके हैं। इस प्रकरण में भी आगे चलकर काकभुशुण्ड जी की उक्ति में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि वे माया किसे समझते हैं। अस्तु। आगे कलि-धर्म के निरूपण में कलियुगी जीवों की दुर्दशा और अनाचार का चित्रण कर काकभुशुण्डजी कहते हैं—

बुध जुगधर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म-रति धर्म कराहीं।
कालधर्म नहि व्यापहिं तेही। रघुपति चरण प्रीति रति जेही।
नटकृत कपट विकट खगराया। नटसेवकहिं न व्यापै माया।
हरिमायाकृत दोष गुन विनु हरिभजन न जाहिं।
भजिअ राम सन काम तजि, अस विचार मन माहिं॥

इसका अर्थ यह है कि पंडित लोग इस युग-धर्म को मन में समझ कर, अधर्म को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि ऋषि, मुनि, आचार्यों ने कलियुग की दशा का जो चित्र खींचा है, उसका यह आशय नहीं कि लोग आलसी बन जायँ। धार्मिक सज्जन भी यह विचार लें कि 'युग के अनुसार अधर्म-प्रवृत्ती तो होनी ही है' फिर हम धर्मानुष्ठान वा धर्म-प्रचार का वृथा प्रयत्न क्यों करें।

भक्तों के लिये दुर्बोध नहीं। विस्तार-भय से इसकी पूरी व्याख्या हम यहाँ नहीं लिखेंगे। इसमें ब्रह्म के निर्गुण, निर्विकल्प, (साधारण बुद्धि का अविषय-) चिदाकाश (ज्ञानस्वरूप), तुरीय, (त्रिविध उपाधि से अतीत) गिरा-ज्ञान-गोतीत (वाणी, मन, इंद्रियों का अविषय) आदि विशेषण सब शांकर-सिद्धांत के अनुसार हैं; और मतों में इनकी ठीक उपपत्ति नहीं हो सकती। और 'करालं महाकालकालं' इत्यादि मायाविशिष्ट ईश्वरावस्थापन्न ब्रह्म का निरूपण है, उसे ही समस्त गुणों का अधार कहा गया है, जैसा कि शांकर सिद्धांत में माना जाता है। शुद्ध ब्रह्म और मायाविशिष्ट ब्रह्म की स्तुती मानकर शांकर सिद्धांत में निर्गुण, सगुण दोनों वादों की उपपत्ति हो जाती है, और वस्तुत: दोनों में भेद न होने के कारण एक ही प्रकरण में दोनों की स्तुति असंगत भी नहीं होती। विवक्षामात्र का ही भेद है, वस्तु रूप से तो दोनों एक ही हैं। किंतु अन्य मतों में निर्गुण-वाद की उपपत्ति नहीं होती। अतः यह स्तुति-प्रकरण भी शांकर अद्वैत सिद्धांत के ही अनुकूल है।

आगे लोमश ऋषि जहाँ काकभुशुंड जी को ज्ञान का उपदेश देने लगे हैं, वहाँ का सब प्रकर्ण अद्वैत का अक्षर अक्षर अनुगामी है—

काकभुशुंड जी गरुड़जी से कहते हैं कि—

ब्रह्मग्यानरत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी।
लागे करन ब्रह्म-उपदेशा। अज अद्वैत अगुण हृदयेशा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा।
मनगोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी।
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि बीचि इव गावहिं वेदा॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञान में निरत परम ज्ञानवान् मुनि मुझे परम तत्त्व का अधिकारी समझकर ब्रह्म का उपदेश देने लगे कि 'हृदय अर्थात् मन प्राण आदि का ईश (स्वामी) ब्रह्म, अजन्मा, द्वितीय-रहित व गुण-शून्य है। न उसका सजातीय दूसरा कोई है, न विजातीय, न

उसके स्वरूप में अवयवकृत स्वगत भेद ही है; जो कुछ है वही एक है। वह प्राण, श्रद्धा आदि उपनिषत्प्रतिपादित कलाओं से रहित है, न उसमें किसी प्रकार की इच्छा है, न उसका कोई नाम-रूप है। कोई शब्द भी उसे नहीं बता सकता। वह तो केवल अपने अनुभव से संवेद्य है; क्योंकि वह खंडरहित और उपमान-शून्य है। मन और वाणी उसे प्राप्त नहीं करते, उनसे वह अतीत है, मल रहित है, अविनाशी च निर्विनार है, और सर्वोत्कृष्ट निःसीम आनंद की वह निधि है। शिष्य! यथार्थ में वही तू है, तुझ में और उसमें कोई भेद नहीं, जैसे कि जल में और तरंग में भेद नहीं। ऐसा ही वेद बता रहे है।

अब इस प्रकरण पर कोई टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। वेदांत-शास्त्र में जिनका कुछ भी प्रवेश है, वे स्पष्ट समझ सकते हैं कि यह प्रकरण अक्षरशः शांकर-सिद्धांत का अनुवादमात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश-प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। दूसरी बात यह है कि भुशुंडी जी भक्तिमार्ग के अधिकारी थे, वे सगुण-भक्ति में रुचि रखते थे, अतः उनको अपने अधिकारानुसार न होने से यह ईशोपदेश रुचिकर न हुआ, और उन्होंने ऋषि से वाद-विवाद कर शाप पाया। जैसा कि हम पूर्व के प्रसंगों में दिखा चुके हैं, गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी यही सिद्धांत माना है कि तात्त्विक तो निर्गुणाद्वैत है, किंतु भक्तों का मनोविश्राम सगुण, साकार मूर्तियों में होता है। यह मत शांकर सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं। भगवान् श्रीशंकराचार्य भी उपासना का संबंध सगुण ब्रह्म से मानते हैं। जो अपने को ज्ञान के अयोग्य समझकर उपासना के अधिकारी समझें, वे खुशी से सगुण ब्रह्म की उपासना करें। यही गोस्वामी जी ने भी अपने लिये चुना। किंतु तत्त्वनिरूपण में ये भगवान् शंकराचार्य के समान उपनिषत्प्रतिपादित अद्वैत सिद्धांत के ही अनुयायी रहे।

आगे लोमश ऋषि को क्रोधयुक्त देखकर भुशुंड जी मन में विचार करते हैं कि—

द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायावस परिछिन्न जड जीउ कि ईस-समान॥

इस दोहे को बहुत से लोग अद्वैत के प्रतिकूल बताते हैं; क्योंकि इसमें जीव, ईश की समानता—एकता—का स्पष्ट अक्षरों में खंडन है। किंतु किंचित् भी विचार दृष्टि से काम लेने पर स्पष्ट हो जायगा कि प्रतिकूलता का इसमें गंध भी नहीं। यह पूर्ण रीति से अद्वैत सिद्धांत के अनुसार है। इसका तात्पर्य यह है कि लोमश ऋषि को क्रोधयुक्त देखकर भुशुंडजी मन में सोचते हैं कि-'द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि' अर्थात् बिना द्वैत की बुद्धि के क्रोध कैसा? यदि लोमश ऋषि सर्वथा अद्वैत-निष्ठ हो चुके, तो फिर इन्हें क्रोध कैसे हो रहा है? क्रोध तो सदा अपने से भिन्न, दूसरे पर होता है। अद्वैतनिष्ठ अपने से भिन्न किसी को देखता ही नहीं, और अपने आप पर किसी को क्रोध होता नहीं। सुतरां, सिद्ध हुआ कि ये ऋषि अद्वैत का उपदेश तो करते हैं, किंतु स्वयं अद्वैतनिष्ठ नहीं, इनके मनमें द्वैत (भेद) ज्ञान मौजूद है, तभी क्रोध करते हैं। आगे कहते हैं कि 'द्वैत कि बिनु अग्यान' बिना अज्ञान के द्वैत है ही नहीं। यदि ऋषि का अज्ञान सर्वथा निवृत्त हो जाता, तो इनको द्वैत बुद्धि कदापि न रहती। इससे इनमें अज्ञान का भी अनुमान होता है। यों क्रोध से द्वैत-बुद्धि का और द्वैत बुद्धि से अज्ञान का लोमश में अनुमान किया।

जब अज्ञान है, तब ये माया के वश हैं। माया के वश हैं तो परिच्छिन्न (एकदेशी) हैं, और अंशतः जड़ भी हैं। फिर ऐसे जीव ईश्वर के समान कैसे हुए? जब उपदेश देनेवालों की यह दशा है, तब हमारा इस उपदेश से उद्धार कैसे होगा? यही विचार उस समय भुशुंड जी के मन में उदित हुए। पर वस्तुतः बात और थी। लोमश

ऋषि अज्ञानी नहीं थे; भुशुंड जी की परीक्षा के लिये ईश्वर ने उनकी बुद्धि को उस समय आवृत कर दिया था। यह आगे भुशुंड जी ने स्पष्ट ही कह दिया है—

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूसन।
उरप्रेरक * रघुबंस-बिभूषन † ॥
कृपासिंधु मुनिमति करि भोरी।
लीन्हीं प्रेम-परीछा मोरी ॥

अतएव शाप देने के अनंतर ही ऋषि को इन पर दया हो आई और उन्होंने इन्हें अधिकारानुसार भक्ति का, रामचरित का, उपदेश दिया। और यों तो प्रारब्ध-कर्मवश शरीरबंधन जब तक हैं, तब तक अंशतः अज्ञान और द्वैत-बुद्धि की अनुवृत्ति रहती ही है। भुने हुए धान की तरह वह अज्ञान आगे अज्ञान के अंकुर नहीं उगा सकता, किंतु निःशेष निवृत्ति शरीर त्याग होने पर ही होती है; यह सिद्धांत शांकर ग्रंथों में सुस्पष्ट है।

तात्पर्य यह कि यह दोहा अद्वैतवाद के प्रतिकूल नहीं। क्योंकि माया के वश है, अतएव परिच्छिन्न और जड़ जीव की ईश्वर के साथ समानता नहीं, यह इसमें बताया गया है। और अद्वैत सिद्धांत भी ऐसी दशा में जीव की ईश्वर से समानता वा एकता नहीं मानता। माया-बंधन से निवृत्त होने पर ही अद्वैत बुद्धि होती है, तभी एकता का भान होता है। बस, माया के कारण ही यह भेद दृढ़ किया है, स्व-स्वरूप से भेद की कोई चर्चा ही नहीं। प्रत्युत् स्व-स्वरूप से भेद मानने पर इस दोहे को लगाया जायगा, तो 'जड़' विशेषण सर्वथा अशुद्ध हो जायगा। द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि कोई भी वादी जीव को जड़ **नहीं** मानते। और यहाँ स्पष्ट जड़ लिखा है। **इसकी उपपत्ति के**

---

* मन की प्रेरणा करनेवाले † श्रीरामचंद्र।

लिये यही कहना होगा कि जीव में स्वतः जाड्य (जड़ता) नहीं, माया के संबंध से वह जड़ है। तो वस जैसे जड़त्व माया के संबंध से है, वैसे भेद या असमानता भी माया के संबंध से ही दिखाई गई है, स्व-स्वरूप से न जड़त्व है, न भेद है; स्वरुप से तो वह ब्रह्मरूप ही है। इस दोहे को अद्वैत के प्रतिकूल द्वैत-प्रतिपादक बतानेवाले सज्जनों का ध्यान हम दोहे के द्वितीय चरण की ओर विशेष रीति से आकृष्ट करते हैं, 'द्वैत कि बिनु अज्ञान' अर्थात् बिना अज्ञान के द्वैत कहाँ ? जब द्वैत को स्पष्ट अज्ञान कहा गया, तब इससे अधिक अद्वैत की अनुकूलता भला और क्या हो सकती है ? इससे तो स्पष्ट ही हो गया कि जब तक अज्ञान है, तभी तक द्वैत है, और तभी तक काम, क्रोध, लोभ, मोह भी हैं। अज्ञान के हटते ही ये सब हट जाते हैं। यही शांकर दर्शन का मुख्य सिद्धांत है।

इससे पहले एक चौपाई में भुशुंड जी के शब्दों में श्री-गोस्वामी जी कहते हैं—

बस कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।

अर्थात् ब्राह्मण का अहित करने पर क्या वंश रह सकता है? कदापि नहीं! और स्वरूप को पहचान लेने पर क्या कर्म हो सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं। अब पाठक देखेंगे कि आत्मज्ञान हो जाने पर सर्व-कर्म संन्यास का जो श्री शंकराचार्य का सिद्धांत है, वह भी यहाँ श्री गोस्वामी जी ने दृढ़ता से माना है। आत्मज्ञान हो जाने पर, द्वैत-बुद्धि निवृत्त हो जाने पर कर्म हो नहीं सकता, क्योंकि इंद्रियों में अहं, ममाभिमान के बिना इंद्रियों की प्रेरणा ही न होगी, और वे कर्म में प्रवृत्त ही न होंगी, यह श्री शंकराचार्य ने माना है। 'नह्यन-भ्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते' इत्यादि उनके भाष्य में लिखा है। तब आत्मज्ञानी का प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक जो कुछ भी आहार, शयनादि आचार देखा जाता है, वह केवल पूर्वाभ्यास-वश अनिच्छा-कृत देह व्यापार मात्र है, अभिनिवेश के वह कोई

कर्म कदापि नहीं करता। यह शंकराचार्य का मुख्य सिद्धांत है; और इसका भी यहाँ इस चोपाई में उल्लेख हुआ है।

अब हम अंत का एक विस्तृत प्रकरण उद्धृत कर इस लेख को पूर्ण कर देते हैं। उत्तरकांड के अंत में परम प्रवीण श्री गोस्वामी जी ने ज्ञान और भक्ति का बड़ा अद्भुत, मार्मिक और मनोज्ञ विवेचन किया है। यह सर्वसम्मत है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी भक्ति-मार्ग के अनुगामी थे। अपने अधिकार और रुचि के अनुसार इस मार्ग को ही उन्होंने अपने लिये श्रेयःप्रद माना, यह हम अनेक स्थानों पर स्पष्ट करते आए हैं। किंतु यह सब होने पर भी ज्ञान-मार्ग को वे निरा निकम्मा या आजकल के सांप्रदायिकों की तरह 'असुरव्यामोहनार्थं' मानते हों, सो बात नहीं है। वे ज्ञान और भक्ति दोनों को कल्याण का मुख्य साधन मानते हैं; केवल इतना ही भेद करते हैं कि ज्ञान मार्ग में क्लेश अधिक है, और भक्ति-मार्ग सुलभ है। सो जिस मार्ग का जो अधिकारी हो, वह अपने अभिमत मार्ग को ही सुलभ मानता है; इसमें कोई विशेषता नहीं। अद्वैत सिद्धांत के बड़े बड़े महारथी श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि ने भी ऐसा ही माना है। अतः भक्ति-मार्ग के अनुगामी होने के कारण गोस्वामी जी को कोई भी अद्वैत सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं सिद्ध कर सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि ज्ञान-मार्ग गोस्वामी तुलसीदास जी उसे ही कहते हैं; जो श्रीशंकराचार्य का अभिमत 'निर्विशेष अद्वैत' कहकर प्रसिद्ध है। इन सब बातों का स्पष्ट शब्दों में निरूपण निम्नलिखित प्रकरण में मौजूद है। देखने को दृष्टिमात्र चाहिए।

गरुड़ जी श्री काकभुशुंड जी से पूछते हैं:—

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहौ बुझाइ कृपानिधि मोही॥
कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥
सोइ मुनि तुम सन कहेउ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥
ग्यानहिं भगतिहिं अंतर केता। सकल कहौ प्रभु कृपानिकेता॥

चौपाइयों का तात्पर्य स्पष्ट है कि वेद, पुराण, ऋषिसंमत दुर्लभ ज्ञानका, भुशुंडीजी! आपने आदर नहीं किया, और भक्ति को उससे अधिक मान दिया, तो ज्ञान और भक्ति में कितना अंतर है, यह मुझे बता दीजिए।

इस पर भुशुंडजी उत्तर देते हैं—

भगतिहिं ग्यानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान होइ सुनहु विहंगवर॥

अर्थात् वस्तुतः ज्ञान और भक्ति में कोई अतर नहीं है, क्योंकि दोनों ही संसार के क्लेश का नाश करनेवाले हैं। तथापि मुनियों ने कुछ मार्ग-भेद कहा है, वह गरुड़ जी! आप सावधान होकर सुन लीजिए।

इसके आगे पहले केवल आलंकारिक भाषा में ज्ञान और भक्ति का बड़ी चतुरता से भेद बताया गया है। कहा है कि ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान ये सब पुरुष हैं (हिंदी भाषा में ये सब शब्द पुल्लिंग ही माने जाते हैं, अतः इनके वाच्य अर्थ को भी पुरुष समझ लिया गया) और माया स्त्री है। पुरुष स्वभावतः स्त्री को देखकर विमुग्ध हो जाता है, कभी कोई विरला ही उस पाप से निकल सकता है। अतः ज्ञान विज्ञान आदि का माया के फंदे से बच निकलना कठिन बात है। किंतु भक्ति स्वयं भी स्त्री है (भक्ति शब्द के स्त्रीलिंग होने के कारण भक्ति को स्त्री मान लिया गया)। स्त्री, स्त्री के रूप पर कभी मुग्ध नहीं होती, अतः भक्ति माया के बंधन में कदापि न फँसेगी, और वह साधक का अवश्य माया से उद्धार कर देगी।

फिर भी भक्ति माया को क्यों हटावेगी, वही इसे क्यों न हटा देगी, इसका उत्तर उसी प्रकार का दिया जाता है कि भक्ति श्रीराम की प्यारी है, अतः एक प्रकार से गृहस्वामिनी हुई। और माया नर्तकी (नटी) की तरह है। बस, गृहस्वामिनी को देखते ही नटी

अपने आप संकुचित हो जाती है। वह स्वामिनी के आगे अपनी प्रभुता नहीं फैला सकती। इसलिये भक्त लोगों पर माया का कोई प्रभाव नहीं चल सकता।

यों चातुर्य का उत्तर देकर आगे यथार्थ उत्तर देने को बंध और मोक्ष का स्वरूप, एवं मोक्ष-साधन का विवेचन आरंभ किया है—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जाइ बखानी।
ईस्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायावस भयेउ गुसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।
तब ते जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।
श्रुतिपुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीवहृदय तम मोह बिसेखी। ग्रंथि न छुटि किमि परै न देखी।

अर्थ स्पष्ट है कि यह एक ऐसी न कहने योग्य कहानी है, जो केवल मन में समझ लेने की है, वर्णन नहीं हो सकता (इससे अनिर्वचनीयवाद स्पष्ट किया)। यथार्थ में तो जीव ईश्वर का अंश है, ईश्वर से भिन्न नहीं। अतएव यह स्वयं भी ईश्वर की तरह ही अविनाशी, चेतन, निर्मल और सुखराशी अर्थात् आनंदघनस्वरूप है। परंतु यह माया के वश में पड़कर तोते या वानर की तरह बँध गया। माया के प्रभाव से जड़ और चेतन आपस में इस प्रकार हिल-मिल गए कि मानों उनमें एक दूसरे से बँधकर गाँठ सी पड़ गई। यद्यपि यह ग्रंथि (गाँठ) मिथ्या-झूठी है, क्योंकि न गाँठ देने-वाले की कोई स्वतंत्र सत्ता है, न गाँठ ही सूत्र से भिन्न कोई वस्तु हो सकती है; किंतु मिथ्या होने पर भी उसका छूटना कठिन है। (इसका उपपादन पूर्व कर चुके हैं कि स्वप्न में सिर कटने से भी दुःख होता है, और दिग्भ्रम जल्दी नहीं मिटता) बस, इस ग्रंथि के कारण ही जीव संसारी बन गया। इसी से आनंदमयस्वरूप होने पर भी यह दुखी होगा। न गाँठ खुलती है, और न वह सुखी

होता है। वेद, पुराण में इस ग्रंथि के खोलने के बहुत से उपाय कहे गए हैं, किंतु आश्चर्य है कि गाँठ खुलती तो नहीं, उलटे अधिक उलझती जाती है। कारण इसका यह है कि जीव के हृदय में मोहरूप अंधकार विशेष है, और यह प्रसिद्ध बात है कि अँधेरे में ग्रंथि सूझ ही नहीं पड़ती, फिर उसके खुलने की कथा ही क्या?

जिन्होंने कभी शंकरमतानुयायी वेदांत ग्रंथों का कोई अंश भी सुना है, वे स्पष्ट समझ जायँगे कि गोस्वामीजी का यह बंधनिरूपण अक्षरशः उन ग्रंथों के अनुकूल वा उनका अनुवादमात्र है। जड़ चेतन ग्रंथि की यह मीमांसा, और स्पष्ट शब्दों में उस ग्रंथि को मिथ्या कहना अन्य मत में उपपन्न हो ही नहीं सकता।

अच्छा, तो क्या यह ग्रंथि खुल ही नहीं सकती, और जीव सुखी हो ही नहीं सकता? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जब प्रकाश हो, तब ग्रंथि खुले, और प्रकाश की सामग्री यों जुटे, तब प्रकाश हो। कैसे, सो सुनिए—

अस संजोग ईस जब करई। तबहु कदाचित सो निरुबरई॥
सात्त्विक श्रद्धा धेनु लवाई। जौं हरि-कृपा हृदय बसि आई॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभधर्म अचारा॥
तेइ तृण हरित चरै जब गाई। भाव-बच्छ सिसु धेनु पेन्हाई॥
नोइ निवृत्ति पात्र विस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परमधरममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृतिसम जावन देइ जमावै॥
मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रज्जु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुपरम पुनीता॥

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावइ ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यान निरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटि बनाइ॥

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥
सो०—इहि बिधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम-अनुभव-सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद-भ्रम नासा॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटै अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उरगृह बैठि ग्रन्थि निरुआरा॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई। तौ यह जीव कृतारथ होई॥

कहते हैं कि जब ईश्वर की कृपा से ऐसा संयोग आ पड़े, तब कदाचित् वह ग्रंथि निपटै (खुलै)। कैसे? सो बताते हैं कि सत्त्वगुणमयी श्रद्धारूप गौ भगवान् की कृपा से हृदय में आकर बसे। जप, तप, इन्द्रियनिग्रह, नियम, वेदोक्त धर्म आचार ये सब हरी घास उस गौ को चरने को मिले, और शुद्ध भाव रूप बछड़ा प्राप्त कर वह गौ पाउसै। निवृत्ति (विषयों से हटाना) रूप पादबन्धनी (न्याना) लगाकर, विश्वासरूप पात्र में निर्मल मन रूपी अहीर (गोपाल) उस गौ से परमधर्म (मोक्षधर्म) रूप दुग्ध निकाले। निष्काम रूप अग्नि से वह दूध औटाया जाय। संतोष की वायु से क्षमा द्वारा ठंढा करके धैर्य का जामन देकर उसे जमाया जाय। फिर मुदिता* नाम की चित्तवृत्ति, दम रूप आधार पर रखकर, विचार की मथानी में उसे मथकर निर्मल वैराग्यरूप मक्खन निकाल ले। तब योग की अग्नि जलाकर, शुभ अशुभ कर्मों को उसका ईंधन बनाते हुए, ममतारूप मैल को जलाकर ज्ञानरूप घृत को बुद्धि उसमें से पृथक् छाँट ले। फिर उस शुद्ध घृत को चित्तरूप दीपक में भरकर समता-रूप दीवट पर रक्खा जाय। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-

* मुदिता नाम की चित्तवृत्ति योगशास्त्र में प्रसिद्ध है। किसी को पुण्य करते देखकर स्वयं खूब प्रसन्न होना।

तीनों अवस्था रूप कपास से सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों को (विनौले की तरह) अलग छाँटकर, तुरीया * रूप रुई ठीक की जाय, उसी की दृढ़ बत्ती हो। ऐसा दीपक जब जलेगा तब मद (अभिमान, दर्प) आदि पतङ्ग उसके पास जाते ही जल जायँगे। 'सोऽहमस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह एकरूपा वृत्ति ही उस दीपक की परम प्रबल शिखा (लौ) होगी। आत्मा (अपने स्वरूप का अनुभव होना) उस दीप का प्रकाश है, और ससार के मूलभूत भेद भ्रम का (मैं और हूँ, तू और है, ईश्वर और है, यह जो भेद की भ्रान्ति फैल रही है, उसका) इस प्रकाश से नाश हो जाता है। अविद्या के प्रबल परि-वार, मोह, आदि अन्धकार इस प्रकाश के आते ही उड़ जाते हैं। तब इस उजाले में अन्तःकरणरूप घर में बैठकर बुद्धि उस गाँठ को खोल सकती है। यदि यों यह ग्रन्थि खोली जा सके, तो जीव कृतार्थ हो जाय।

इस गम्भीर विज्ञान को सुनकर भी जिनको यह सन्देह बना रहे कि गोस्वाजी तुलसीदास जी शाङ्कर अद्वैत को ठीक जानते और मानते थे या नहीं, तो उनकी बुद्धि का इलाज कठिन है। अस्तु, पाठक समझ गए होंगे कि श्रीशङ्कराचार्याभिमत ज्ञान को ही गोस्वा-मीजी ज्ञान कहते हैं, और उससे जीव के कृतार्थ होने में इनको किसी प्रकार का सन्देह नहीं। किन्तु इस मार्ग में ये इतना ही दोष समझते हैं, कि इसके पथिक को विघ्न-बाधाएँ बहुत झेलनी पड़ती हैं और बहुधा वह मार्ग भूलकर भटक जाता है।

यही सब आगे की चौपाइयों में बताया गया है कि बुद्धि को ग्रंथि खोलते देखकर माया बहुत विघ्न करती है। पहले वह ऋद्धि †

* चौथी, गुणातीत-अवस्था।

† इन ऋद्धि-सिद्धियों का विभूति रूप से योग शास्त्र में विस्तृत वर्णन है। योग-मार्ग के अनुगामी को ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। और उनके प्रलोभन में पड़कर आगे के ज्ञान-मार्ग को छोड़ दे तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। अत ये सब गोस्वामी जी के दिखाए दोष योगमार्ग पर घटते दिखाई देते हैं।

सिद्धि को भेजती है, वे आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं। कई प्रकार के छल बल से यदि वे बुद्धि के पास पहुँच गईं तो अपने वस्त्र की वायु से झट दीपक बुझा देंगी; और गाँठ बिना खुली ही रह जायगी। यदि बुद्धि खूब चतुर समझदार हो, और उन्हें अपना शत्रु समझ उनकी ओर देखे ही नही, न अपने पास उन्हें आने दे, तो उनसे बच सके। यों यदि उनसे दीपक बच गया, तो फिर इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता उपद्रव मचाते हैं। इन्द्रिय द्वार रूप झरोखों में अपना अपना स्थान बनाकर ये देवता बैठे हैं। जब ये विषय रूप वायु को आता देखते हैं, तब झट से उलटे कपाट खोल देते हैं। यदि वह वायु अन्तःकरण रूप घर में चला गया, तो विज्ञान-दीपक को जरूर बुझा देगा। तब तक गाँठ न खुले और दीपक बुझ जाय, तो बुद्धि विकल हो जाती है। फिर जीव संसार-चक्र में पड़ जाता है। इत्यादि कारणों से यह मार्ग कहने, सुनने, साधन करने में सब तरह कठिन है। विघ्न बहुत हैं, कहीं कहीं फलित होता है।

ग्यानपन्थ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो रविघन पन्थ निरबहई। सो कैवल्य परम-पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुरान निगम आगम बद॥

अर्थात् ज्ञान का मार्ग तलवार की धार है, इस पर चलनेवाले को गिरते देर नही लगती। यदि निर्विघ्न इस मार्ग से कोई चला जाय, तो वह कैवल्य रूप परम पद को पा लेता है। किन्तु वह कैवल्य पद दुर्लभ है, यह सन्त लोग, पुराण, वेद, शास्त्र सभी कहते हैं।

इस कारण साधक को सुगम उपाय भक्ति-मार्ग का आश्रय लेना चाहिए, यह श्री गोस्वामी जी का अभिमत है। भक्ति द्वारा श्रीराम का आराधन करने से उनके प्रसन्न होने पर सब विघ्न बाधाएँ स्वतः दूर हो जायँगी, वे पास भी न फटकेंगी और श्रीराम की कृपा से मुक्ति हाथ जोड़कर सामने खड़ी रहेगी।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्यानासा ॥

अर्थात् भक्ति करने पर विना यत्न और परिश्रम के संसार की मूलभूत अविद्या नष्ट हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्त में अविद्या का नाश होकर पूर्वोक्त 'सोऽहमस्मि' वृत्ति प्राप्त होना भक्तिपक्ष में भी श्री गोस्वामी जी को अभीष्ट है। इससे ज्ञान रूप चरम फल में तो कोई विवाद ही नहीं। विना ईश्वरोपासना के केवल श्रद्धा, संयम आदि योग-मार्ग में मुक्ति मानी जाती है। उस मार्ग में अधिक क्लेश की विप्रतिपत्ति गोस्वामी जी ने दिखाई है। अतः यह विप्रतिपत्ति अद्वैत सिद्धांत के साथ नहीं, केवल एकेदशी योगमार्ग के साथ है, यह स्पष्ट है। इस विप्रतिपत्ति का तात्पर्य इतना ही है कि विना ईश्वरोपासना के केवल अभ्यास से ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है। अतः ईश्वरोपासना द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अब सिद्ध हो गया कि मुख्य ज्ञान के साथ इस प्रकरण का विसंवाद नहीं। विना उपासना के योग मार्ग को 'ज्ञानमार्ग' कह कर यहाँ कठिन बनाया गया है, सो ठीक ही है।

आगे भी भक्ति-मार्ग पर जोर देते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान् के साथ सेव्य-सेवक भाव के विना संसार से निस्तार नहीं हो सकता। श्रीराम की कृपा से जड़ चेतन बन जाता है और चेतन जड़ बन सकता है। उन राम को भजनेवाले ही धन्य हैं। आगे कहा गया है कि ज्ञान-दीपक की बात कह चुके, अब भक्ति-मणि का प्रभाव सुनो।

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर ॥
परम प्रकासरूप दिन-राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥
अचल अविद्या-तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं ॥

अर्थात् ज्ञानरूप दीपक से प्रकाश करने में बहुत सामग्री चाहिए; किंतु रामभक्ति रूप चिन्तामणि जिसके अंतःकरण में रहे, वहाँ बिना दीवट, घृत और बत्ती के ही (मणि के प्रभाव से) दिन रात प्रकाश रहेगा। मोहरूप दरिद्र पास न फटकेगा; (मणि रहने पर दरिद्रता कहाँ?) लोभ-रूप पवन उसे बुझा नहीं सकता। अविद्या का प्रबल अंधकार समूल नष्ट हो जाता है, मद आदि शलभ हार जाते हैं, कामादि खल पास नहीं आते। रामभक्ति मणि रहने पर दुःख का लव-लेश भी नहीं रहता, इत्यादि। इससे भी सिद्ध है कि भक्ति द्वारा अविद्या का नाश होने पर और जड़ चेतन ग्रंथि खुल जाने पर 'सोऽहमस्मि' वृत्ति जो ज्ञान का फल है, वह भक्ति से भी अवश्यंभावी है; अर्थात् उस क्लेश-मार्ग को छोड़कर भक्ति-मार्ग पर चलने से सुलभता से ज्ञान प्राप्त हो जाता है, यह श्रीगोस्वामी जी का अभिमत है। तात्पर्य यह कि ज्ञान की अनुपादेयता नहीं बताई जाती, ज्ञानप्राप्ति का मार्ग भेद-मात्र बताया जाता है। अतएव आगे भी भक्तिप्राप्ति के उपाय बताते हुए ज्ञान की भी आवश्यकता मानते हैं—

पावन पर्वत वेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुखखानी॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥

अर्थात् वेद पुराण बड़े बड़े पर्वत हैं। उनमें विविध राम-कथा-रूप मणि की खानें हैं। सज्जन उसका मर्म जाननेवाले हैं, सुमति कुदारी (खनित्र, भूमि खोदने के लिये) है, ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं। जो कोई प्राणी भाव से खोदेगा, उसे भक्तिरूप मणि अवश्य मिलेगी। और मेरा विश्वास है कि वह राम का दास राम से भी अधिक हो जायगा।

यहाँ भक्ति प्राप्ति में ज्ञान वैराग्य की आवश्यकता सुस्पष्ट गई है। ज्ञान, वैराग्य गोस्वामीजी जैसे मानते

स्फुट हो चुका है। अतः अंतिम फल में शांकरसिद्धांत से गोस्वामी जी के अभिमत का कोई भेद नहीं रहता। विना उपासना के शुष्क-मार्ग से ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करना, किंतु उपासना द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करना, और आगे भी उपासना-जनित ईश्वर-प्रेम की अनुवृत्ति रखना, यह मार्ग-भेद-मात्र गोस्वामीजी को अभीष्ट है। सो अद्वैत सिद्धांत के अनुयायी भी बहुधा इससे सहमत हैं। अतः इस प्रकरण में यदि विप्रतिपत्ति मानी जाय, तो योग-मार्ग के एकदेशीय मत के साथ ही क्लेशाधिक्य की विप्रतिपत्ति है, अद्वैत-सिद्धांत का तो यह प्रकरण सुस्पष्ट अनुयायी है। अंतिम फल के संबंध में भी श्रीगोस्वामी जी बड़ी चतुरता से ज्ञान के साथ मिल गए हैं। ज्ञान मार्ग में ब्रह्मरूप हो जाना (मोक्ष) अंतिम फल माना जाता है। किंतु इस ज्ञान से भी भक्ति उत्तम है, इस बात का समझाने के लिये गोस्वामीजी भक्ति का फल कहते हैं—

'राम तें अधिक राम कर दासा'

अर्थात् राम का दास (भक्त) राम से भी ऊपर है। ज्ञान से तो पुरुष रामरूप ही बनेगा, किंतु भक्ति द्वारा राम से भी अधिक बन जायगा, यह साधारण पुरुषों को समझा दिया गया। फलतः विचार करने पर राम से अधिक तो कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि राम का महत्त्व परिच्छिन्न नहीं, वहाँ निरवधिकोत्कर्ष है। फिर अपरिच्छिन्न महत्त्व की अपेक्षा अधिकता हो ही नहीं सकती। तब राम से अधिक कहने का अभिप्राय यही हो सकता है कि राम भक्त भी रामरूप ही हो जाता है। सो फल में भी विचार करने पर ज्ञान और भक्ति में वे भेद नहीं रखते। तात्पर्य यही है कि भक्ति (उपासना) द्वारा ज्ञान प्राप्त कर रामरूपता (ब्रह्मरूपता) प्राप्त कर लेना ही अंतिम पुरुषार्थ है।

यों श्री गोस्वामी जी के रामचरित मानस में दार्शनिक गूढ़ विचारों के बहुत प्रसंग हैं; और उनमें दर्शनों के गूढ़ सिद्धांतों को बड़ी

रोचकता और सरलता से सुस्पष्ट किया गया है। हमने कुछ स्थलों की संक्षिप्त आलोचना की है। ध्यान से पढ़ने पर पाठकों को और भी बहुत से ऐसे स्थल प्राप्त होंगे। सब पर सूक्ष्म विचार करने पर हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि श्रीशंकराचार्य के अभिमत अद्वैत सिद्धांत के विरुद्ध दार्शनिक विचार गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने कहीं प्रकट नहीं किए। ऐसे कुछ स्थल हैं, जो दूसरे मतों में भी लग सकते हैं; सो बहुत सी बातें सब सिद्धांतों में समान हैं ही। किंतु शांकर अद्वैत के अनुसार जिसकी संगति न हो, ऐसा कोई स्थल रामायण में हमें नहीं मिला। साथ ही ऐसे बहुत से स्थल हैं (जो कि इस लेख में स्पष्ट प्रदर्शित हो चुके हैं) जिनकी संगति शांकर सिद्धांत की शरण गए बिना दूसरे वादों में हो ही नहीं सकती। अतएव गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के अद्वैत-सिद्धांतानुयायी होने में कोई विवाद नहीं रह जाता।

इस पर कई विद्वानों का कथन है कि 'गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी ने अपने 'रामचरित-मानस' में श्री शंकराचार्याभिमत अद्वैतवाद के अनुसार विचार तो प्रकट किए हैं, किंतु वह उनका अपना मत नहीं है। जैसे दूसरे के मत का अनुवाद ग्रंथकार बहुधा किया करते हैं, ऐसे ही अनुवादरूप से रामायण में अद्वैत-सिद्धांतों का उल्लेख है।' कई विशिष्ट प्रज्ञ सज्जनों का यह भी कथन है कि 'अपने ग्रंथ को सर्वप्रिय वा Up to date बनाने के लिये श्रीस्वामी जी ने अद्वैतवाद की बातों को अपने ग्रंथ में ले लिया है।' दोनों ही प्रकार के सज्जनों की युक्ति यह है कि 'गोस्वामी जी परम रामभक्त थे। उनके पद पद से रामभक्ति का प्रवाह बहता है। इसमें संदेह करना इतना ही असंभव है, जितना कि प्रखर-किरण मध्याह्न के सूर्य में संदेह करना। तब यदि गोस्वामी जी अद्वैतवादी होते, तो वे भक्त न हो सकते, राम नाम वा रामभक्ति को ही अपना आधार न मानते। भेदवाद में ही भक्ति हो सकती है। यदि सब एक ही हों

तो कौन किस की भक्ति करे? स्वयं ही ईश्वर हैं तो अपने को दास किसका मानें? सुतरां अद्वैतवाद में भक्ति नहीं हो सकती। और गोस्वामी तुलसीदास जी परमभक्त हैं, इसलिये वे अद्वैतवाद के अनुयायी नहीं कहे जा सकते। तब उनके ग्रंथ में अद्वैतवाद के जो विचार आए हैं, वे दूसरों से उधार लिए हुए ही हैं।'

इस पर हमको अधिक कहने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि हम केवल यही सिद्ध करने को प्रवृत्त हुए थे, कि गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी ने अपने रामचरित-मानस में जहाँ जहाँ दार्शनिक विचार लिखे हैं, वे शांकर अद्वैत के अनुसार ही हे। सो इस बात को हमारे मित्रों ने भी मान लिया। अब वे विचार उनके अपने हैं, वा दूसरों से उधार लिए हैं, इस पर मतभेद है। यह मतभेद अपने विश्वास के अनुसार रह सकता है। जिन सज्जनों ने अपने अंतःकरण में दृढ निश्चय कर रक्खा है कि गोस्वामी तुलसीदास जी अवश्य ही सांप्रदायिक वैष्णव थे, वे अपना विश्वास कभी न बदलेंगे। तब यही समाधान करेंगे; और उपाय ही क्या है। किंतु किसी आपद में न पड़कर केवल प्रमाण के आधार पर जो किसी बात को मानने के लिये तैयार होते हैं, वे गोस्वामी जी के ग्रंथों में अद्वैत के अनुसार विचार देखकर उन्हें अद्वैतवादी ही कहेंगे। दूसरी बात बिना प्रमाण के उनकी बुद्धि में उपस्थित हो ही नहीं सकती।

फिर दूसरे के अनुवादरूप से किसी कोने में गोस्वामी जी ने अद्वैतवाद के कुछ टूटे फूटे विचार लिख दिए हों, ऐसा भी नहीं है। इसी लेख में हम हर एक स्थान पर दिखाते आए हैं कि खुले बाज़ार, डंके की चोट गोस्वामी जी हर एक जगह अद्वैतवाद के मार्मिक विचार लिखते हैं, और खूब जी खोलकर लिखते हैं; उन्हीं के अनुसार सब बातों की उपपत्ति वे स्वयं लगाते हैं। विचारशैली की परीक्षा का जिन्हें कुछ भी अभ्यास है, वे कभी मान नहीं सकते कि ये विचार 'उधार' लिए हुए हैं। उन्हें स्पष्ट कहना पड़ेगा कि ये

विचार गोस्वामी जी की अपनी पूँजी हैं: ये उनके आंतरिक उद्गार हैं। इनके आलोक में उनका हार्दिक भाव विस्पष्ट प्रकाशित हो रहा है, उसे लाख प्रयत्न करके भी कोई छिपा नहीं सकता।

फिर पूर्व पक्ष रूप से गोस्वामी जी अद्वैत विचारों को स्थान देते, तो कहीं उनका खण्डन भी तो करते। यदि ग्रन्थकार पूर्व पक्ष रूप से दूसरों के विचार लिखते हैं, तो स्वयं उनका खण्डन भी करते हैं। जाने दीजिए। यदि खण्डन न भी करते, तो कम से कम कहीं अपने सिद्धांत के कट्टर विचार भी तो प्रकट करते। किंतु दावे के साथ कहा जा सकता है कि शाङ्कर अद्वैत के विरुद्ध पड़नेवाले सांप्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं। बहुत सी बातें सब के मत में एक जैसी होती हैं, जो कि शास्त्र में 'सर्वतन्त्र सिद्धांत' कहलाती हैं; वे किसी के विरुद्ध नहीं पड़तीं। ऐसी बातें रामायण में अवश्य मिलेंगी जिनकी उपपत्ति विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव सांप्रदायिक मतों में भी हो सकती है, और शाङ्कर अद्वैत सिद्धांत में भी हो सकती है। किन्तु, शाङ्कर-अद्वैत के प्रतिकूल केवल सांप्रदायिक वाद में ही उत्पन्न होनेवाले सिद्धांत गोस्वामी जी की रामायण में कहीं उपलब्ध नहीं होते। इसके विपरीत सांप्रदायिक मतों के प्रतिकूल पड़नेवाले, केवल शांकर अद्वैतवाद या मायावाद में ही संगत होनेवाले विचार बहुधा प्रदर्शित हुए हैं; जैसा कि इस लेख में अनेक जगह स्पष्ट दिखाया जा चुका है। तब फिर अद्वैतवाद को वहाँ पूर्व पक्ष रूप से कैसे माना जाया? और ऐसी दशा में यह भी मानना बुद्धि की गवाही के विरुद्ध है कि केवल ग्रन्थ को सर्वप्रिय वा Up to date बनाने के लिये ही गोस्वामी जी जैसे महात्मा अपने अनभिमत विचार लिखते गए, और अपने सिद्धांत के मार्मिक विचारों को उन्होंने स्थान तक न दिया। यह काम केवल सर्वप्रियता प्राप्त करने के लिये लालायित, लोक-विदग्ध पुरुषों का हो सकता है, भक्त महात्माओं का नहीं। फिर यह भी याद रखने की बात है कि

गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वान्तःसुखाय' रामचरित मानस लिखा है। Up to date बनाने की आवश्यकता उन्हें नहीं थी। इसलिये उसमें उनके अनभिमत विचारों का प्राबल्य हो हीं नहीं सकता। और न केवल रामचरित मानस में, किन्तु विनयपत्रिका आदि में और भी स्फुट रूप से गोस्वामी जी ने अद्वैत सिद्धांत वा मायावाद का प्रतिपादन किया है। एक यह भी विचारने की बात है कि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी का समय सांप्रदायिक उपासनाओं की प्रबलता का समय था। उस समय सर्वप्रियता के लिये 'अद्वैत सिद्धांत' के ही शरण जाने की आवश्यकता नहीं थी। प्रत्युत् साम्प्रदायिक मत लिखने से ही उनको सर्वप्रियता प्राप्त हो सकती थी। फिर भी गोस्वामी जी अद्वैत सिद्धांत का विशेष उल्लेख करते है, यह उनका अपने सिद्धांत पर दृढ़ निष्ठा का प्रमाण है। अत॰ विचार करने पर वे स्वयं इस सिद्धांत के अनुयायी थे, यही मानने को विवश होना पड़ेगा।

रहा यह आक्षेप कि 'अद्वैतवादी होने पर गोस्वामी जी रामभक्त न हो सकते' सो इस पर हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिन महानुभावों के अन्तःकरण में अद्वैतवाद के लिये दूसरी ही वासना दृढ़ हो चुकी है, उनके मनमें यह प्रश्न उठता है। ये उसे 'प्रच्छन्न बौद्ध' 'नास्तिकवाद' 'कर्म-भक्ति शून्य' आदि कहते कहते अपने संस्कारों को वैसा ही बना बैठे हैं। किन्तु अद्वैत सिद्धांत का माननेवाला 'आत्मसाक्षात्कार' वा 'अविद्याबीज निवृत्ति' से पूर्व ही कर्म वा भक्ति छोड़ दे, ऐसा कहीं नहीं लिखा। 'व्यावहारिक सत्ता में रहते हुए अद्वैतवादी कर्म, उपासना, भक्ति आदि का पूरा परिपालन करते हैं।' स्वयं भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य के भक्ति-रसाप्लुत-स्तोत्र मिलते है, अद्वैतवाद के धुरंधर आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती भक्तिमार्ग के पूर्ण पोषक हैं। भक्ति का मर्म जैसा उन्होंने प्रकट किया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। वर्तमानमें भी अद्वैत के अनुयायी बड़े बड़े विद्वान् पूरे कर्मकाण्डी और उत्तम भक्त होते हैं। फिर गोस्वामी

जी के संबन्ध में ही क्यों यह आपत्ति उठाई जाय? इसकी उपपत्ति के लिये और ग्रंथों में न भटककर गोस्वामी जी के ही—

जदपि असत्य देत दुख अहई। (बालकाण्ड)
सो दासी रघुबीर की समुझै मिथ्या सोपि।
छुटै न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥ [उत्तरकाण्ड]

ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयेउ गुसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं॥
[उत्तरकाण्ड]

इत्यादि प्रकरणों को ध्यान से देख लिया जाय (जिनकी कि व्याख्या बहुधा इस लेख में हो चुकी है) तो फिर कोई संदेह न रहे। अद्वैत होने पर भी भक्ति की क्यों आवश्यकता है, यह स्वयं विदित हो जाय। गोस्वामी जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि केवल वाचिक ज्ञान से ज्ञानी बनकर कोई कृतार्थ नहीं हो सकता। हमने सुन लिया और मान लिया कि माया और मायिक जगत झूठा है। यों ही मुख से कह भी दिया कि 'सब झूठा संसार' किंतु काम पड़ने पर एक पैसे के लिये प्राण देते रहे, या हर एक से लड़ाई झगड़ा कर दूसरों की भलाई बुराई की चिन्ता में रात भर सोए तो यह ज्ञान नहीं कहलाता। ज्ञान वह है कि प्रत्यक्ष आत्म-साक्षात्कार ही से दोष हट जाय, चित्त निर्मल हो जाय। इसीके लिये कर्म उपासना मार्ग सब आवश्यक हैं। यही शांकर सिद्धांत हैं और यही गोस्वामीजी ने लिखा है। बिना देखे और विचारे हठ करने का तो फिर कुछ उपाय ही नहीं है। अस्तु। तात्पर्य यह कि अद्वैतवादी होते हुए भी गोस्वामी जी भक्ति को क्यों उत्कृष्ट मानते हैं, यह उन्होंने स्वयं लिख दिया है, दूसरे के विचार की वहाँ आवश्यकता नहीं।

कुछ सज्जन यह भी संदेह करते हैं कि गोस्वामी जी अद्वैतवादी होते तो शैव होते, वैष्णव न होते। किन्तु यह भी पूर्ण भ्रान्ति है। अद्वैतवादी शिव वा विष्णु की उपासना में किसी खास एक पर कभी

जोर नहीं देते। रुचि और अधिकार के अनुसार वे ईश्वर के किसी एक रूप की उपासना करते हैं। स्वयं भगवान् शङ्कराचार्य अधिकतया विष्णु की ही स्तुति करते हैं। फिर गोस्वामी तुलसीदास जी तो सांप्रदायिक वैष्णवों की तरह विष्णु को परतत्त्व मानते भी नहीं, वे शिव विष्णु आदि औपाधिक (माया-गुणविशिष्ट) रूपों को समान भाव से भजते हैं और 'राम' को परतत्त्व समझते हैं। राम उनके मत में विष्णु के अवतार नहीं, परब्रह्म के अवतार हैं। वे 'विधि-हरि-सम्भु नचावनहारे' हैं, और उनका बल पाकर 'विरञ्चि हरि ईसा, पालत सृजत हरत हैं'। इस सब की व्याख्या इस लेखमाला में ही विस्तार से हो चुकी है; इसलिये अब पिष्टपेषण व्यर्थ है। आशा है कि भावुक सज्जन श्रीरामचरित से अद्वैत सिद्धांत-अमृत का पानकर तृप्त होंगे और हमारा परिश्रम सफल करेंगे।



(८) श्री गोस्वामी जी और राजनीति

[लेखक—पंडित रामचंद्र दूबे]

प्रजा-तन्त्र शासन का शंख-नाद दसों दिशाओं में प्रतिध्वनित हो रहा है। जिन्होंने कभी इसका नाम भी नहीं सुना था, वे भी इसके नाम की माला जपते दिखाई देते हैं। सभी इसके नशे में चूर हैं। प्रजा-सत्तात्मक प्रणाली की दुंदुभी वज रही है। चीन जैसा कट्टर लकीर का फ़क़ीर भी इस मदिरा के पान से उन्मत्त हो गया है। शताब्दियों का राज-सिंहासन जनता की कोपाग्नि में जलकर भस्म हो चुका है। देखते देखते ज़ार जैसे निरंकुश सम्राट् का मुकुट पद-दलित प्रजा के पदों में धूल-धूसरित हो गया। आज सभी छोटे-बड़े देशों में प्रजा-सत्ता का डंका सुनाई दे रहा है। प्रजा अपने जन्मसिद्ध अधिकारों की घोषणा कर रही है। राज्य प्रजा का स्वत्व है, शासक केवल ट्रस्टी के समान हैं। इस प्रजा-शासन प्रणाली में आज सारे गुण ही गुण दिखाई दे रहे हैं। किसी दोष की इसमें संभावना ही नहीं। दोष हों भी तो वे क्षम्य हैं; उपेक्षणीय हैं। हम भी आज इस प्रजा-तंत्र-शासन के नशे में ऐसे चूर हैं, कि हमको उसके गुण ही गुण दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। हम भी उसके यशोगान में पूर्ण योग दे रहे हैं। ऐसे समय यदि कोई एक-तंत्र-शासन-प्रणाली के महत्व का दवी जवान से भी वर्णन करने का साहस करे, तो उसे उलटी सीधी सुननी पड़ेगी। अतएव प्रजातंत्र के इस नक्कारख़ाने में किसी पुरानी त--ी के एक-तंत्र-शासन के गुण-गान की मधुर-ध्वनि का किसी के नों तक पहुँचना कठिन ही है। श्री गोसाईं जी एक-तंत्र-शासन के तिपादक हैं। पर उस शासन का आदर्श आजकल के एक-तंत्र शासन से मेल नहीं खाता। उसमें और आजकल की प्र- दूसे

प्रणाली में आकाश पाताल का अंतर है। पर है वह एक-तंत्र शासन ही।

भिन्न भिन्न शासन-प्रणालियों की परीक्षा जैसी योरप में हुई है, वैसी इधर नहीं हुई। यद्यपि वहाँ लोक-प्रवृत्ति प्रजा-सत्तात्मक शासन की ओर ही है, पर ऐसे विचारवान् भी हैं जो प्रजा-सत्तात्मक प्रणाली को सर्व सुखशांति का द्वार नहीं मानते, जो एकतंत्र प्रणाली के उच्च आदर्श को स्वीकार करते हैं। मिस कारेली अँगरेजी की प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका हैं। उनके उपन्यासों में मनुष्य समाज की अच्छी आलोचना है।

श्रीमती के 'टेम्पोरल-पॉवर' (Temporal Power) नामक उपन्यास में क्रांतिकारी समिति की नेत्री, उसकी पथ-प्रदर्शिका, समिति-संचालिका प्रजातंत्र राज्य तथा एक तत्र-शासन की तुलना करती हुई इस प्रकार अपने हृदयोद्गार प्रकट करती है—"हम यह बखूबी जानते हैं कि कोई ऐसा राजा हमारा शासन करे, जो वास्तव में राजा हो, जो दल-बंदियों के हाथ की कठ-पुतली न हो; जो दुष्ट, अत्याचारी पूँजी-पतियों के संकेत पर न चले; जो उनके आदेशानुसार जिधर ले जाना चाहें, उसी मार्ग का अनुसरण न करे, तो ऐसे नरेश के शासन के अंतर्गत प्रजातंत्र शासन की अपेक्षा जनता को अधिक लाभ है। सब को उन्नति के समान अवसर और समान अधिकार विशेष रूप से प्राप्त होते हैं।"

इन वाक्यों को उद्धृत करने से हमारा केवल इतना ही अभिप्राय है कि एक-तंत्र-शासन कोई ऐसी प्रणाली नहीं जो केवल दुर्गुणों की समष्टि-मात्र हो। पाश्चात्य सभ्यता के पक्षपाती कहते हैं कि यह प्रणाली तुला में तुल चुकी और हल्की उतरी है। अब इसकी दाह-क्रिया का समय आ चुका है। आजकल वेद, पुराण, शास्त्र और ऐतिहासिक आख्यायिका के वाक्यों की बहुत खींचखाँच यह करने के लिये हो रही है कि प्राचीन काल में आर्य्यावर्त्त में

प्रजातंत्र राज्य और गण राज्य विद्यमान थे। हमारे इस भारतवर्ष में भी प्रजा-तंत्र-शासन प्रचलित था। इस विषय पर अनेक लेख निकल चुके हैं। इस पर शायद एक-दो पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी समालोचना करना हमें इष्ट नहीं। न हम यही कहते हैं कि आर्य्य-जाति प्रजा-तंत्र-शासन से एक दम अनभिज्ञ थी। हमारा केवल इतना ही कहना है कि हमारे देश में पूर्ण प्रतिष्ठा इसी प्रणाली की थी। बड़े बड़े साम्राज्यों की योजना इसी के अंतर्गत हुई। एक तंत्री-शासन कोई हौआ नहीं। इसमें भी अनेक गुण हैं; और प्रजा-तंत्र शासन में अनेक त्रुटियाँ हैं। यूनान और रोम से बढ़कर प्रजा-तंत्रवादी देश अभी तक नहीं हुए। यूनान में एक समय था, जब एक एक नगर में प्रजा-सत्तात्मक राज्य था। नगर की सारी जनता को राज्याधिकार प्राप्त थे। उस समय प्रतिनिधि-प्रणाली का सूत्रपात नहीं हुआ था। पर क्या उसी यूनान देश ने उस समय जब कि प्रजा-सत्तात्मक राज्य का बोलबाला था, महात्मा सुकरात को विष का प्याला नहीं पिलाया था? क्या प्रजातंत्रवादी रोम ने अनेक देश-भक्तों को तलवार के घाट नहीं उतारा था? क्या "भयंकरता के राज्य" (Reign of Terror) ने फ्रांस को कलंकित नहीं किया?

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रजातंत्र शासन प्रणाली चिर-काल के लिये स्थिर हो गई। इसके दोष जिस समय चरमावस्था को पहुँचेंगे, उस समय इसका भी परित्याग होगा और फिर एक-तंत्र शासन की ओर श्रद्धा बढ़ेगी। कालचक्र के भीतर ही सृष्टि के सब व्यापार होते हैं। अतः कोई लोक-व्यवस्था स्थिर नहीं कही जा सकती। एक-तंत्र शासन में उच्च आदर्शों की जो प्रतिष्ठा हो चुकी है, वह प्रजातंत्र में कभी संभव नहीं।

गुसाईं जी के सभी ग्रंथ धर्म-भाव लिए हुए हैं, वे भक्ति रस से पूर्ण हैं। राजनीति के विषय को लेकर उन्होंने कोई अलग ग्रंथ नहीं लिखा। वे विरक्त साधु थे। फिर भी राजनीति विषय में ऐसे

महाकवि के कुछ विचार ज़रूर थे, और वे किसी अंश में प्रकट भी किए गए हैं। उनका सबसे बड़ा ग्रंथ 'रामचरित-मानस' है जिसमें उन्होंने अपने इष्टदेव के चरित्र को साधारण धर्म और विशेष धर्म दोनों के आदर्श के रूप में अंकित किया है। अत. उसमें राजधर्म का सुंदर स्वरूप स्थान स्थान पर झलकाया गया है। गुसाईं जी एक-तंत्र-शासन के समर्थक थे। पर जिस एक तंत्र-शासन का उन्होंने वर्णन किया है, उसका आदेश आजकल के निरं·कुश शासन से इतना ऊँचा है कि हम लोग, जो आजकल के निरंकुश शासन से ही परिचित हैं, अपने मन में उसकी सम्यक् भावना ही नहीं कर सकते। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह केवल कवि की कल्पना है। गोस्वामी जी द्वारा निरूपित आदर्श राज्य हवाई महल नहीं है। यह वह शासन है, जिसने कभी इस पवित्र भूमि को धन-धान्य, बल-वैभव से पूर्ण किया था। यह वह शासन है, जिसकी सुखद छाया के लिये युरोप आकुल हो रहा है। यह वह शासन है, जिसके नियमानुसार एक तुच्छ व्यक्ति की सम्मति ने पति-परायणा, दुःखिनी सम्राज्ञी को सिंहासन से उतारकर जंगल में भिजवा दिया। यह वह शासन है जिसमें प्रजा के दुःखों की पुकार के नरेश के कर्णकुहर में पहुँचने में देर नहीं लगती थी। यदि वाल्मीकि-रामायण रूपक मात्र नहीं है, तो यह राज्य-प्रणाली भी वास्तविक और व्यावहारिक माननी पड़ेगी। जिस आदर्श-प्रणाली का सूत्रपात मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र जी और उनके पूर्वपुरुष कर गए थे, वह उनके साथ ही विलीन नहीं हुई, वरन् दीर्घ काल तक भारत की भूमि को सुखशांति प्रदान करती रही।

गीता में श्री भगवान् कृष्णचंद्र ने अर्जुन से कहा है कि—"मनुष्यों में मैं राजा हूँ"। हिंदुओं का इस वाक्य में अटल विश्वास रहा है। पर इसमें और पाश्चात्य देशों के डिवाइन राइट (Divine Right) में आकाश पाताल का अंतर है। युरोप में नरेन्द्र-मंडल समझता था,

कि यह पद ईश्वर-प्रदत्त है। इसे लेने का किसी को अधिकार नहीं। पर भारतीय राज-नीतिज्ञों ने गीता-वाक्य का यह अर्थ समझा है, कि राजा ईश्वरीय गुणों से सम्पन्न होता है। प्रजा का पालन, दुष्टों का दलन, सदाचार की उन्नति, सद्गुणों का उत्तेजन उसका कर्त्तव्य है। उसका हृदय दया और क्षमा से परिपूर्ण रहता है। जहाँ इन गुणों का लोप हुआ, कि राजत्व नष्ट हुआ। हमारा सिद्धांत है कि जो प्रजा का रंजन करे, वही राजा है। पर किंग (King) उसी को कहना चाहिए, जो चतुर हो। इसी धातु से कनिंग (Cunning) बना है, जिसका अर्थ धूर्त है। अस्तु।

गुसाईं जी ने महाराज दशरथ तथा रामचंद्र जी की सभा का तथा प्रजाजन से वार्तालाप का जो वर्णन किया है, उसको देखकर एक समालोचक महाशय लिखते हैं, कि गुसाईं जी ने राजा-महाराजाओं की सभा नहीं देखी थी। वे विरक्त थे, अपनी कुटिया में पड़े रहते थे। उनको नहीं मालूम था कि राजाओं की सभा में किस प्रकार बातचीत और व्यवहार होता है; इसी लिए उन्होंने ऐसा वर्णन किया जैसा कि साधारण ज़मींदार का होता है। यद्यपि इनकी मित्रता ख़ानख़ाना, मानसिंह आदि से थी, पर यह हम नहीं कह सकते, कि इन्होंने किसी राजा महाराज का दरबार देखा था या नहीं। पर यह हम ज़रूर कहेंगे, कि इन्होंने राजा का जो आदर्श अपने सामने रक्खा है, उसी को आद्योपांत निबाहने के लिये ही ऐसा वर्णन किया है। वे राजा को हौआ नहीं बनाना चाहते थे। उन्होंने उसका चित्रण मनुष्य रूप में किया है जो कि कवि का कर्त्तव्य है। वे उसको मनुष्यत्व से हटाकर कोई विचित्र जीव नहीं बनाना चाहते थे। राजा का कृत्रिम रूप भारतीय नहीं, विदेशी है। गुसाईं जी ने राजा-प्रजा में पिता-पुत्र का संबंध दिखाने का प्रयत्न किया है। प्रजा में नम्रता है, राजा में सौजन्य है।

एक ओर महत्व की ओर आकर्षित होनेवाली प्रजा है,

और अपने शरीर तक को देकर उस महत्त्व की रक्षा करनेवाला राजा है। जिन गुणों से लोक अपना मंगल समझता है, उनका पूर्ण विकास राजा में देखकर वह मुग्ध होता है और सदाचार की ओर उत्तेजित होता है। राजकुल मनुष्य-कुल ही है। कवि उसके उन्हीं व्यवहारों को दिखाकर अपना प्रधान लक्ष्य साधता है जो मनुष्य के उच्च भावों के उत्तेजक हैं। रूखे सूखे रूढ़ व्यवहार या असामयिक हृदयशून्य संभाषण से कवि की अर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती।

यह कहना अनुचित न होगा कि राजमहलों का जीवन ही अब बिलकुल अस्वाभाविक हो गया है। राजसी जीवन दाम्पत्य और गार्हस्थ्य भावों से सर्वथा शून्य है। राज प्रासाद की महिलाएँ गृहस्थी के व्यवहार से अनभिज्ञ होती हैं; और पति-पुत्र आदि की सेवा सब दूसरों के हाथ में रहती है। इधर गुसाईं जी की नायिका भारत की सम्राज्ञी आदि शक्ति का अवतार थीं। सीताजी के चरित्र का चित्र देखिए—

.... । सेवत चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। सब प्रकार सेवा विधि कीनी॥
निज कर गृह-परिचर्य्या करहीं। रामचन्द्र आयसु अनुसरहीं॥

आजकल महारानी साहिबा एक महल में विराजती हैं, तो माँ जी साहिबा एक फलाँग दूर। पर पुराना दृश्य देखिए तो—

सीअ सासु प्रतिवेष बनाई। सादर करहिं सरिस सेवकाई॥
सीअ सासु सेवा-बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही॥

सीता जी वनवास जाते समय सास के चरण कमलों में प्रणाम कर कहती हैं,—

. ...। सुनिअ सासु मैं परम अभागी॥
सेवा-समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा॥
तजब छोभ जनि छाँड़ब छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू॥

इधर सास का कैसा अगाध प्रेम था—

नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलपवेलि जिमि बहु विधि लाली। सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहऊँ॥

कहिए, यह सरल स्वाभाविक जीवन वर्तमान कृत्रिम राजसी जीवन से श्रेष्ठ है या नहीं।

गुसाईं जी की राज्य-प्रणाली एक-तंत्र-शासन का एक रूप है, पर वह निरंकुश नहीं। मंत्रियों तथा विद्वन्मडली, ऋषि-महर्षियों का अंकुश राजा के सिर पर सदा लटकता रहता है। पहले आश्रम धर्म ही नरेश को मार्ग विचलित होने से रोकता है। पुत्र के वयस्क होने पर राजा वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने पर वाध्य होता है। श्रीरामचन्द्रजी के वनवास गमन के समाचार सुनकर माता कौशल्या जी कहती हैं—

अंतहु उचित नृपहिं बनवासू। वय बिलोकि हित होत हरासू॥

यह आश्रम विभाग ही एक बड़ा अंकुश था। मानो राज्य एक प्रकार की धरोहर थी। एक नियत समय के लिये शासन की बागडोर राजा के हाथ में रहती थी। सुयश और सुकीर्त्ति उपार्जन करना ही उसका उद्देश्य था। आजकल का समय नहीं था, कि मृत्युशय्या पर पड़े हैं, पर फिर भी राज्य-शासन की लालसा पिण्ड नहीं छोड़ती। स्वायंभुव मनु को राज्य करते बहुत दिन हो गए। वृद्धावस्था के आगमन की सूचना मिली।

होइ न विषय विराग, भवन वसत भा चौथपनु।
हृदय बहुत दुख लागि, जनम गयउ हरि भगति बिनु॥

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन वन कीन्हा॥

महारानी मन्दोदरी कहती हैं—

वेद कहहिं अस नीति दसानन। चउथेपन जाइअ नृप कानन॥

ज्येष्ठ पुत्र साधारणतः राज्य का उतराधिकारी होता था।

और अपने शरीर तक को देकर उस महत्व की रक्षा करनेवाला राजा है। जिन गुणों से लोक अपना मंगल समझता है, उनका पूर्ण विकास राजा में देखकर वह मुग्ध होता है और सदाचार की ओर उत्तेजित होता है। राजकुल मनुष्य-कुल ही है। कवि उसके उन्हीं व्यवहारों को दिखाकर अपना प्रधान लक्ष्य साधता है जो मनुष्य के उच्च भावों के उत्तेजक है। रूखे सूखे रूढ़ व्यवहार या असामयिक हृदयशून्य संभाषण से कवि की अर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती।

यह कहना अनुचित न होगा कि राजमहलों का जीवन ही अब बिलकुल अस्वाभाविक हो गया है। राजसी जीवन दाम्पत्य और गार्हस्थ्य भावों से सर्वथा शून्य है। राज-प्रासाद की महिलाएं गृहस्थी के व्यवहार से अनभिज्ञ होती हैं; और पति-पुत्र आदि की सेवा सब दूसरों के हाथ में रहती है। इधर गुसाईं जी की नायिका भारत की सम्राज्ञी आदि शक्ति का अवतार थीं। सीताजी के चरित्र का चित्र देखिए—

... . । सेवत चरन-कमल मन लाई ॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। सब प्रकार सेवा विधि कीनी ॥
निज कर गृह–परिचर्य्या करहीं। रामचन्द्र आयसु अनुसरहीं ॥

आजकल महारानी साहिबा एक महल में विराजती हैं, तो माँ जी साहिबा एक फलाँग दूर। पर पुराना दृश्य देखिए तो—

सीअ सासु प्रतिवेष बनाई। सादर करहिं सरिस सेवकाई ॥
सीअ सासु सेवा–वस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही॥

सीता जी वनवास जाते समय सास के चरण कमलों में प्रणाम कर कहती हैं,—

.. ..। सुनिअ सासु मैं परम अभागी ॥
सेवा–समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ॥
तजब छोभ जनि छाँड़ब छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥

इधर सास का कैसा अगाध प्रेम था—

नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलपबेलि जिमि बहु विधि लाली। सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहऊँ॥

कहिए, यह सरल स्वाभाविक जीवन वर्तमान कृत्रिम राजसी जीवन से श्रेष्ठ है या नहीं।

गुसाईं जी की राज्य-प्रणाली एक-तंत्र-शासन का एक रूप है, पर वह निरंकुश नहीं। मंत्रियों तथा विद्वन्मडली, ऋषि-महर्षियों का अंकुश राजा के सिर पर सदा लटकता रहता है। पहले आश्रम धर्म ही नरेश को मार्ग विचलित होने से रोकता है। पुत्र के वयस्क होने पर राजा वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने पर बाध्य होता है। श्रीरामचन्द्रजी के वनवास गमन के समाचार सुनकर माता कौशल्या जी कहती हैं—

अंतहु उचित नृपहिं बनवासू। बय बिलोकि हित होत हरासू॥

यह आश्रम विभाग ही एक बड़ा अंकुश था। मानो राज्य एक प्रकार की धरोहर थी। एक नियत समय के लिये शासन की बागडोर राजा के हाथ में रहती थी। सुयश और सुकीर्त्ति उपार्जन करना ही उसका उद्देश्य था। आजकल का समय नही था, कि मृत्युशय्या पर पड़े हैं, पर फिर भी राज्य-शासन की लालसा पिण्ड नहीं छोड़ती। स्वायंभुव मनु को राज्य करते बहुत दिन हो गए। वृद्धावस्था के आगमन की सूचना मिली।

होइ न विषय विराग, भवन वसत भा चौथपनु।
हृदय बहुत दुख लागि, जनम गयउ हरि भगति बिनु॥

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन वन कीन्हा॥

महारानी मन्दोदरी कहती हैं—

बेद कहहिं अस नीति दसानन। चउथेपन जाइअ नृप कानन॥

ज्येष्ठ पुत्र साधारणतः राज्य का उतराधिकारी होता था।

विमल वंस यह अनुचित एकू। अनुज बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ॥

पुनः

जेठ स्वामि-सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥

पुनः

लोभ न रामहिं राज कर, बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड छोट विचार कर, करत रहेउ नृप नीति ॥

पर उस में भी मंत्रियों तथा प्रजाजन की सम्मति की आवश्यकता थी।

महाराज दशरथ वृद्ध हो चले। वानप्रस्थ आश्रम का समय आ गया। युवराज की नियुक्ति आवश्यक हुई। ज्येष्ठ पुत्र होनहार है।

. . ..।भये राम सब विधि सब लायक।
सेवक सचिव सकल पुरवासी। जे हमार अरि मित्र उदासी ॥
सबहि राम प्रिय जेहि विधि मोहीं। . ...

यह सब कुछ है, पर राजाज्ञा घोषित नहीं होती। पहले गुरु महाराज वशिष्ठ जी का मन टटोला जाता है और सकुचाते हुए महाराज अपना उद्देश्य प्रकट करते हैं। गुरु की सम्मति मिलने पर भी राजाज्ञा एक दम नहीं हो जाती। मंत्रियों की सभा होती है और उसमें प्रस्ताव उपस्थित होता है।

.. . .। सेवक सचिव सुमन्त बुलाये ॥
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये। भूप सुमंगल बचन सुहाये ॥

पर राजा अब यह प्रस्ताव अपनी ओर से नहीं करते। कहते हैं—

प्रमुदित मोहिं कहेउ गुरु आजू। रामहिं राज देहु जुवराजू ॥
जौ पाँचहिं मत लागहि नीका। करहु हरषि हिअ रामहिं टीका ॥

पंच और सचिव स्वयं ही राजकुमार के सदाचरण पर मुग्ध हैं। प्रस्ताव सुनते ही—

.. . .। अभिमत बिषय परेउ जनु पानी ॥

और निवेदन करते हैं—

जग-मंगल भल काज बिचारा। वेगहि नाथ न लाइअ बारा॥

इतना होने पर तब कहीं राज-आज्ञा होती है।

कहेउ भूप मुनिराज कर, जो जो आयसु होइ।
रामराज अभिषेक हित, वेग करहु सोइ सोइ॥

आजकल कम से कम भारत में राज-पद वास्तविक रूप में कोई भार नहीं समझा जाता। धार्मिक विचार तो जाते ही रहे। उत्तराधिकारी को सिंहासन पर बैठा, एक दो मंत्र पढ़ टीका कर दिया, बस समाप्ति हो गई।

राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो रही हैं। पर—

तब नर-नाह वशिष्ठ बुलाये। राम धाम सिख देन पठाये॥

और गुरु जी जाकर राम को शिक्षा देते हैं—

राम करहु सब संयम आजू। जौ विधि कुसल निबाहै काजू॥

यह तो हुआ। पर श्री रामचंद्रजी बन को गए। महाराज स्वर्ग को सिधारे। महारानी कैकेयी स्वपुत्र को सिंहासनासीन देखने की कामना में हैं। महाराज-कुमार भरत ननिहाल से आते हैं। स्वर्गीय नरेश के मृतक संस्कार से निवृत्त होकर राज-परिवार शुद्ध होता है। राज-सिंहासन खाली है। उत्तराधिकारी का प्रश्न तै करना है। सभा बैठती है। पर कौंसिल अकेले इस गुत्थी को सुलझाने में अपने को असमर्थ समझती है। अतएव—

सचिव महाजन सकल बुलाये।

मंत्री-मण्डल द्वारा साम्राज्य के सब गण्य मान्य नागरिक निमंत्रित किए गए।

श्रीरामचंद्र जी युवराज पद के लिये स्वीकृत हो चुके हैं। अतएव वे स्वर्गीय नरेश के उत्तराधिकारी भी माने जा चुके हैं। इसलिये गुरु वशिष्ठ जी यह कहते हुए भी कि—

बेद बिहित सम्मत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावहिं टीका॥

गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परै दुसह दुख भारू।
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

वन जाते समय श्रीरामचंद्र जी के साथ प्रजा भी हो जाती है। जब समझाने से भी लोग नहीं लौटते, तब रघुनाथ जी सब को सोते हुए छोड़ चल देते हैं। प्रजा जागती है और उसकी क्या दशा होती है—

मनहुँ वारि-निधि बूड़ जहाजू। भयउ बिकल सब बनिक-जहाजू।

रघुनाथ जी के इस प्रकार चले जाने का वे क्या कारण समझते हैं—

तजे राम हम जानि कलेसू।

कैसा अच्छा भाव है! प्रजा को विश्वास है कि हमारा भावी राजा हमारे कष्टों को नहीं सह सकता। जिस राजा के प्रति प्रजा का यह भाव हो, वही वास्तव में राजा है।

भरतजी को राज्य देने के लिये सभा बैठी। वशिष्ठजी राजनीति का सार इस प्रकार कहते हैं—

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।

सुराज्य के संबंध में गुसाइँ जी कहते हैं कि जिसमें प्रजा सुखी हो, वही सुराज्य है।

सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजू।

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह भारी।
पाइ सुराज सुदेश सुखारी।

प्रजा सुराज्य पाकर बढ़ती है, यह सार्वभौम सिद्धांत है।

बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। बढ़ै प्रजा जनु पाइ सुराजा।

आजकल "पब्लिक-ओपीनियन" की बड़ी क़दर की जाती है। पर हम बराबर देखते हैं कि कभी कभी कही हुई बात चाहे कितनी ही सच्ची क्यों न हो, पर उसका कहनेवाला क़ानून के चक्कर में पड़ ही जाता है। यहाँ तक कि किसी व्यक्ति की आलोचना पर हतक इज़्ज़त का दावा

तक हो जाता है। इधर गुसाईं जी का आदर्श देखिए। एक तुच्छ व्यक्ति राजेश्वरी पर वह आक्षेप करता है, जिससे बढ़कर स्त्री के लिये कोई घोरतम आक्षेप हो ही नहीं सकता। पर उस पर कोई दफ़ा नहीं लगाई जाती। बल्कि—

सिअ निन्दक अघ ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाय बसाये॥

कैसा उच्चादर्श है! वह समय बहुत दूर है, जब पब्लिक ओपीनियन का इतना आदर हो सकेगा। वल्कि सदेह है कि पाश्चात्य सभ्यता, जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही सब कुछ है, कभी उस आदर्श को पहुँच भी सकेगी या नहीं।

राजा का कर्त्तव्य स्थापन और विनाश दोनों है। जिस प्रकार सज्जनों का पालन और शांति का स्थापन राजधर्म है, उसी प्रकार दुष्टों का विनाश और बाधाओं का निवारण भी।

अरक जवास पात बिनु भयऊ। जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ॥

और भी देखिए—

प्रथम अविद्या निसा सिरानी।

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥

मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनहु ओरा॥

प्रजा में अविद्या न फैलने पाए, इसका ध्यान राजा को रखना चाहिए। प्राचीन राजा यज्ञों में जो बड़े बड़े दान देते थे, उनका उपयोग विद्यादान में ही ऋषियों द्वारा होता था।

आजकल के बहुत से राजा-मुसलमान शासकों का भाव ग्रहण कर अपने सरदारों, उमरावों और प्रजा-जन के वैभव-प्रदर्शन को द्वेष-दृष्टि से देखते हैं। हमने किसी इतिहास में देखा था, दिल्ली-आश्रित किसी नरेश ने सम्राट् के दीवान-ख़ास के समान अपने यहाँ एक दीवान-ख़ास बनवाया। सम्राट् को इसकी सूचना होते ही बेचारे पर आफ़त आ गई। पर गुसाईं जी इस विषय में कहते हैं—

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥

इस आदर्श राजनीति से प्रजा कैसी फली फूली रहती थी, देखिए—

पुर नरनारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥

अपने आदर्श नायक के राज्य-काल में उनकी उदार नीति का फल देखिए—

वैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

क्या साम्यवाद अभी तक उस आदर्श को पहुँच सका है?

बर्णाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहिं व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सुधरम निरत श्रुति रीती॥
चारिऊ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब निरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छण हीना॥

यह तो आर्थिक दशा देखी। अब आचार की ओर देखिए—

सब निर्दम्भ धरम रत धरनी। नर अरु नारि चतुर सुभकरनी॥
सब गुणग्य सब पडित ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
एक नारिव्रत रत सब झारी। ते मन वच क्रम पति-हितकारी॥

दंडज तिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज॥
जीतहु मन अस सुनिअ जग, रामचंद्र के राज॥

समाज का कैसा अच्छा चित्र है। इससे सभी प्रकार की उन्नति दृष्टिगोचर हो रही है। पाठक कह सकते हैं कि यह सब कवि के मन की गढंत है। पर "रामराज्य" गुसाईं जी के समय से हजारों वर्ष पूर्व विख्यात हो चुका था।

जब आदर्श राज्य ऐसी उदार और उन्नति शील नीति पर चलेगा, और इस प्रकार प्रजा-हितकर होगा, तब इसका प्रभाव प्रजा की आर्थिक दशा पर क्या पडेगा, यह राजधानी के वर्णन से विदित होगा।

पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेखी।
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना।
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा।
बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिविध समीर सदा सुखदाता।

सुमन वाटिका बाग बन, विपुल विहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास।

बनै न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई।
चारु बजार विचित्र अँबारी। मनिमय विधि जनु स्वकर सँवारी।
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना।
चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई।
मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रति-नाथ चितेरे।
पुरनर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता।

नगरी का कैसा अच्छा वर्णन है। प्रजा के आमोद प्रमोद के स्थल वर्तमान हैं। सब प्रकार का कारबार खूब चलता है। नगर की सफाई का प्रबंध भी बढ़िया है। राजा-प्रजा में पारस्परिक कैसा प्रेम, कैसा घरेलू भाव था। राजा प्रजा दोनों मिलकर अपने को एक कुटुंब के भीतर समझते थे।

देखिए, महाराजकुमार का जन्म हुआ है। प्रजा में यह समाचार फैलते ही उनमें कैसा उत्साह छा जाता है।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा।
बृन्द बृन्द मिलि चलीं लुगाईं। सहज सिंगार किए उठि धाईं।
कनककलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप-दुआरा।
करि आरति नेवछावर करहीं। बारबार सिसु चरनन्हि परहीं।
सरबस दान दीन्ह सब काहू। जेहि पावा राखा नहिं ताहू।

गृह गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुखमाकंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ, नगरनारि-नर-वृंद।

आजकल विशेष आज्ञाएँ निकालकर जो उत्सव मनाए जाते हैं, उनमें स्वाभाविकता तथा हार्दिकता कहाँ।

असभ्य जातियाँ स्वाभाविक विशुद्ध और सरल प्रकृति की होती हैं। वे केवल दो मीठे शब्दों से वश में हो जाती हैं।

श्रीरामचंद्रजी ने वनाश्रित हो चित्रकूट में डेरा जमाया। वहाँ के कोल-किरात आदि उनके पधारने के समाचार सुनकर दौड़े आते हैं।

"राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने।
"बचन किरातन के सुनत, जिमि पितु बालक बैन.. .।
"राम सकल बनचर परितोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे।

राज-पाट छूट जाने पर भी असहाय नरेश प्रवास में किस प्रकार अपने शुभचिंतक पैदा कर सकते हैं, यही इसमें दरसाया है। राजाओं के लिये भी मधुर भाषण उतना ही प्रयोजनीय है, जितना औरों के लिये। इन भील आदि जातियों से जो मित्रता श्रीरामचंद्रजी ने स्थापित की, यदि मेवाड़-नरेश उनके वंशज माने जायँ, तो आज तक उसका दृष्टांत पाया जाता है। यह मित्रता आपत्ति के अवसरों पर परखी जा चुकी है और खरी उतरी है। मेवाड़ का इतिहास इसका साक्षी है कि कैसे कैसे कुदिनों में भील इस वंश के आड़े आए हैं।

आजकल मेलों-उत्सवों में जब खूब भीड़भाड़ होती है, तब पुलिस के लाल पगड़ीवाले दर्शकों पर अपने सोंटे फटकारते हैं! अब यह भी देखिए कि हमारे कवि ने इस अवसर का प्रबंध किस खूबी से किया है।

महाराजकुमारी सीता-देवी का स्वयंवर है। दर्शकों के झुंड के झुंड उमड़े पड़ते हैं।

देखी जनक भीर भै भारी। सुचि सेवक सब लिए हँकारी।
तुरत सकल लोगन्ह पहँ जाहु। आसन उचित देहु सब काहु।

यहाँ तक तो ठीक है। आज भी उच्च पदस्थ शासक सोंटेबाज़ी के लिये शायद ही कहते हों, पर उनकी आज्ञा का पालन प्रायः इसी रूप में होता है। पर जनकपुर में देखिए क्या होता है—

कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नरनारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि।

प्राचीन काल में युद्ध क्या, घोर युद्ध होते थे। राजा-महाराज दिग्विजय के लिये निकलते थे। पर वे युद्ध राज-अपहरण के लिये कम होते थे, यश और कीर्त्ति प्राप्ति के अर्थ ही अधिकतर होते थे।

सप्तद्वीप भुज-बल बस कीन्हे। लै लै दण्ड छाँड़ि नृप दीन्हे।

आजकल के समान विजयी राजा विजित राज्यों पर गीध की तरह नहीं झपटते थे। राष्ट्रीय-संघ की स्थापना का डंका आज-कल चारों तरफ पीटा जाता है और कहा जाता है कि अब दुर्वल राष्ट्रों को किसी प्रकार का भय नहीं रहा। पर कूट-नीतिज्ञों ने इस संघ को भी अपनी राज-लोलुपता का साधन बना लिया है।

इधर गुसाईं जी के आदर्श को देखिए। खर-दूषण आदि तो युद्ध में पराजित होते हैं, रण-शय्या पर सदा के लिये विश्राम करते हैं, पर उनका राज्य विजयी को आकर्षित नहीं करता। वे उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। आजकल के रण-विशारद तथा राजनीतिज्ञ इसको वज्रमूर्खता कह सकते हैं। सुग्रीव के साथ की हुई प्रतिज्ञा का श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी ओर से पालन किया; पर वानर-राज भोग-विलास में ऐसे निमग्न हो जाते हैं कि अपनी प्रतिज्ञा एक दम भूल जाते हैं। इस प्रतिज्ञा-भंग से श्रीरामचन्द्रजी की क्रोधाग्नि प्रज्वलित होती है। वे कहते हैं—

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली।

पर यह क्रोध क्षणिक है। यद्यपि राज्य हस्तगत करने का अच्छा अवसर है, पर रघुनाथ जी अंत में यही आज्ञा देते हैं—

भय दिखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव।

महाप्रतापी लंकेश्वर सकुल समर-भूमि में वीरगति को प्राप्त होता है। विजय-लक्ष्मी श्रीरामचन्द्र जी के गले में जयमाला पहनाती है। लंका का राज्य विजय हो चुका। पर क्या रामचन्द्र जी उसकी ओर आँख उठा कर भी देखते हैं? वे उस राज्य को तृणवत् तुच्छ समझते हैं और शत्रु-वंश के एक राजकुमार को ही दे डालते हैं। क्या आजकल की राजनीति इसका समर्थन करेगी? कहा जा सकता है कि विभीषण से पहले ही प्रतिज्ञा हो चुकी थी। यह सही है, पर आजकल की राजनीति में संधियों और प्रतिज्ञाओं का कितना मूल्य होता है? पर इन आधुनिक विजेताओं ने अनेक विभीषणों को अपने स्वार्थ-साधन के लिये अपनी अदम्य साम्राज्य-तृष्णा के कारण विना काट छाँट किए कब कोई राज्य लौटाया है?

राजनीति के चार अंग साम, दाम, दण्ड, भेद बताए गए हैं। किसी न किसी रूप में इनका उपयोग शासन कार्य्य में अब भी करना पड़ता है।

साम दाम अरु दण्ड विभेदा। नृप उर बसत नाथ कह वेदा।
नीति धरम के चरन सुहाये। अस जिअ जानि नाथ पँह आये।
धरमहीन प्रभु पद विमुख, काल विवस दससीस।
आये गुन तजि रावणहु, सुनहु कौसलाधीस॥

कवि ने इसमें यह दरसा दिया है कि इन चारों का उपयोग भी धर्म के आधार पर ही होना उचित है। धर्म से विमुख होने पर यह साधन भी निष्फल हो जाते हैं। इसी के आधार पर सीसोदियों का का यह मंत्र-चिह्न परम्परा से चला आता है कि—"जो दृढ़ राखै धर्म को तिहिं राखै करतार"।

राजा के लिये उत्साहित करना, उत्तेजना देना, आदर-मान करना, अच्छी सेवा करने पर शाबाशी देना, कृतज्ञता प्रकट करना भी जरूरी है। वालि-कुमार श्री अंगदजी दूतत्व-कार्य्य सम्पादन र के आते हैं—

अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपालु खरारी॥

हनुमान जी श्री सीताजी की सुध लेकर आते हैं। जाम्बुवन्त उनको समक्ष उपस्थित करते हैं।

सुनि कृपालु उठि हृदय लगाये। ग्यान सुभट रघुपति मन भाये॥

आजकल ऐसा करना शायद एक तअल्लुकेदार की शान के भी खिलाफ समझा जायगा। ख़ैर। श्री महावीर जी से सब समाचार सुनकर रामचन्द्र जी कहते हैं—

सुनु कपि तोहिं समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।
प्रतिउपकार करौं का तोरा। सन्मुख होइ न सकै मन मोरा॥
सुनु कपि तोहिं उऋण मैं नाहीं। देखहुँ करि बिचार मन माहीं॥

कैसा अच्छा कृतज्ञता का भाव है!

लंका विजय हो चुकी है। श्री रघुनाथजी अपनी वानरी-सेना को सम्बोधन कर कहते हैं—

तुम्हरे बल मैं रावन मारा। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सारा॥

उन्होंने इस विजय का सारा यश उन्हींको दे दिया है।

भरत जी चित्रकूट को प्रस्थान करते हुए शृंगवेरपुर में पहुँचते हैं। निषादपति को सन्देह होता है कि भरतजी कहीं श्रीरामचन्द्रजी से युद्ध करने न आते हों। वह तुरंत मार्ग रोकने का विचार प्रकट करता है। उसके सरदार तैयार होकर आते हैं—

देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सन्माने।
भाइहु लावहु धोख जनि, आज काज बड़ मोहि।

इस उत्तेजना और सन्मान का कैसा अच्छा प्रभाव पड़ता है—

सुनि सरोष बोले सुभट, वीरु अधीरु न होहिं।
रामप्रताप नाथ बल तोरें। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरें।
जीवत पाउँ न पाछे धरहीं। रुंड - मुंड - मय मेदिनि करहीं।

राजाओं को अपने वचन पर कैसा दृढ़ रहना चाहिए, यह राजा दशरथ के चरित्र से प्रकट होता है—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रानु जाइ बरु बचनु न जाई।

संधि और प्रतिज्ञा के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। यह संधि-प्रतिज्ञा भी तुलसीदास जी के मतानुसार कोई लिपिबद्ध पत्र में न थी, केवल मौखिक वचन के रूप में ही थी। पर उसका पालन भी कैसी दृढ़ता से हुआ है।

राजा को हर एक महत्त्व के कार्य्य में मंत्रि-मंडल की सम्मति लेनी चाहिए। गुसाईं जी के चरित्र-नायक ने हर एक समय ऐसा ही किया है। उधर लका-पति ने भी ऐसा ही किया है। पर दोनों के मत्रि-मंडल में बड़ा भारी अंतर है। श्रीरामजी के मंत्रदाता निःसंकोच स्वतंत्र भाव से अपनी सम्मति देते हैं। उधर रावण के परामर्श-दाता "जी हजूरी" हैं। लंकाधिपति के मंत्रियों के विषय में उसीके पुत्र ने कहा है—

कहहिं सचिव सब ठकुरसोहातीं। नाथ न पूर आव एहिं भाँती।

पर—

सचिव बैद गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राजधरम तनु तीन कर, होहि बेगही नास॥

इस ठकुरसुहाती की आदत के कारण लंकेश्वर ही थे। वे यह कभी सहन नहीं करते थे कि हमारी बात काटी जाय। इसी कारण विभीषण पर चरण-प्रहार हुआ और वह शत्रु से जा मिला। इसी पर माल्यवंत को फटकार मिली और इसी कारण प्रहस्त को कटु वचन सुनने पड़े। पर राम की ओर दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ता है। समुद्र तट पर रामचंद्रजी पहुँच गए हैं। समुद्र पार करने का विचार है।

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा।

नए लंकेश सम्मति देते हैं—

बिनय करिअ सागर सन जाई।

कैसी भद्दी सलाह है। पर रघुनाथजी ज़रा भी नाक-भौं नहीं सिकोड़ते।

सखा कही तुम नीक उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई।

यह सुनकर रावण भी अपनी हँसी न रोक सका था—

सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौं असि मति सहायकृत कीसा।
सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥

पर—

मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा।
नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कँह एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।

पर क्या यह सुनकर रघुनाथजी लक्ष्मणजी को भला बुरा कहने लगे? नहीं, ऐसा करना उनके बोलने की स्वतंत्रता को हरण करना था।

सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसइ करब धरहु मन धीरा।

यदि मंत्री की सम्मति अस्वीकार की जाती है, तो ऐसे ढंग से जिससे उसको बुरा न लगे। विभीषण भ्राता को त्याग रामचंद्र के शरणागत होता है। सेना में पहुँचते ही उसको शत्रु का दूत समझ कर लाग रोक लेते हैं। इसकी सूचना कपीश सुग्रीव को दी जाती है। सुग्रीव महाराज रामचंद्रजी से यह वृत्तांत कहते हैं।

कह सुग्रीवँ सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन-भाई।

उस पर रामचंद्रजी सुग्रीव की सम्मति लेते हैं और वह निवेदन करते हैं—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारण आया।
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहिं अस भावा।

रघुनाथजी को यह सलाह पसंद नहीं आती। पर देखिए तो, कैसे कोमल शब्दों में वे अस्वीकार करते हैं—

सखा नीति तुम्ह निक बिचारी।

पर—

मम प्रन शरनागत-भय-हारी ॥

अतएव—

उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपानिकेत।

यह सब होते हुए भी मनुष्य को तथा राजाओं को परावलंबी न होकर स्वावलंबी होना उचित है।

लंकेश्वर के बड़े बड़े नामी सरदार मारे जा चुके हैं। फिर भी वह रण को तैयार है।

निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा। देहुँ उतर जो रिपु चढ़ि आवा।

कैसे वीर शब्द हैं। पढ़कर अंग अग फड़क उठता है। लक्ष्मण जी के वीर-वाक्य ऊपर उद्धृत हो चुके हैं—

कादर मन······· ···· इत्यादि।

राजाओं में भी नम्रता बहुत ही आवश्यक है। पर साथ ही उसका सीमा से उल्लंघन हो जाना भी अनुचित है। आत्म-गौरव की हानि जहाँ तक न हो, वहीं तक नम्रता उचित है।

परशुराम जी धनुष-भंग का समाचार सुन आगबगूला होकर आते हैं। बातचीत होती है। श्रीरामचंद्र जी अत्यंत नम्रता और विनय-पूर्वक उनको शान्त करना चाहते हैं, साथ ही इसका ध्यान दिलाते हुए कि—

जौं हम निदरहिं विप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयबस नावहिं माथ ॥

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना ॥
जो रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥
छत्रिय-तनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहि पाँवर जाना ॥
कहौं सुभाव न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥

दूसरे के उपकार के लिये तो राजा है ही। दूसरे पर अत्याचार होते देख उसका हृदय यदि द्रवित न हुआ, तो वह उस उच्च पद के योग्य नहीं।

अस्थि समूह देखि रघुराया । पूछत मुनिन लागि अति दाया ॥
जानतहू का पूछिअ स्वामी । समदरसी तुम अंतरजामी ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाये । सुनि रघुनाथ नैन जल छाये ॥
निसिचर हीन करौं महि, भुज उठाय प्रन कीन्ह ॥

राजाओं के लिये कृपण होना एक दूषण है ।

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी । कपटी मित्र सूल सम चारी ॥

राज्य किस प्रकार नष्ट होते हैं, यह भी देखिए—

बोली बचन क्रोध भर भारी । देस कोष की सुरति बिसारी ॥
करेसि पान सोवत दिन राती । सुध न तोहिं सिर पर आराती ॥
राजनीति बिनु धन बिनु धरमा । हरहि समर्पे बिनु सतकरमा ॥
संग तें जती कुमंत्र तें राजा । मान तें ज्ञान पान तें लाजा ॥
प्रीति प्रनय बिनु मद तें गुनी । नासहिं बेगहिं नीति अस सुनी ॥
रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिअ न छोट करि ।

गृह-क्लेश भी राज्य-नाश का एक साधन है । विभीषण ज्येष्ठ भ्राता से रूठकर शत्रु से जा मिलता है और सोने की लंका को राख करा देता है ।

कहाँ विभीषण भ्राता-द्रोही । आज सठहिं हठ मारेहु ओही ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी को राज-तिलक देना निश्चय हो गया है। उधर महारानी कैकेयी अपने पुत्र को राज्य दिलाने के लिये महाराज दशरथ को अपने वाग्जाल में फँसा चुकी है । भयंकर गृह क्लेश की सामग्री उपस्थित है । ऐसे समय में माता कौशल्या किस प्रकार इस आपत्ति का निवारण करती है। मंत्री-पुत्र सारी घटना सुनाता है ।

सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ ।
राखि न सकै न कहि सक जाहू । दुहूँ भाँती उर दारुन दाहू ॥
राखौं सुतहि करौं अनुरोधू । धरमु जाइ अरु बन्धु-विरोधू ॥

अतएव, आज्ञा देती हैं—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत-अवध-समाना ॥

राजाओं का यही कर्तव्य है कि जहाँ तक बन पड़े, युद्ध को निवारण करने का उपाय करें और पृथ्वी को रक्तमय होने से बचावें। रघुनाथ जी लंका में पहुँच गए हैं। अब यह प्रश्न है कि क्या करना है—

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई॥
मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालि-कुमारा॥
नीक मंत्र सब के मन माना। अंगद सन कह कृपा-निधाना॥
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

रावण की सभा में कई मन्त्रियों ने रावण को समझाने का प्रयत्न किया। पर उनमें से अधिकांश की सम्मति राजनीति की दृष्टि से सार-हीन है। श्रीरामचन्द्र जी के लंका में पहुँचने पर रावण ने मंत्रियों से सम्मति ली।

सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं जूझा॥
कहहिं सचिव सुनु निसिचर-नाहा। बार बार प्रभु पूँछहु काहा॥
कहहु कवन भय करिअ विचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥

पर उस मण्डली में भी एक राजनीतिज्ञ निकल आया—

वचन सबहि के श्रवण सुनि, कह प्रहस्त कर जोरि।
नीतिविरोध न करिअ प्रभु, मन्त्रिन्ह मति अति थोरि॥

प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीति॥

नारि पाइ फिरि जाहिं जौ, तौ न बढाइअ रारि।
नाहिं तो सनमुख समर महि, तात करिअ हठमारि॥

दूत पूरा विश्वास पात्र होना चाहिए। उसको पूरा अधिकार भी होना चाहिए और यह विश्वास भी कि जो मैं करूँगा, वह स्वीकृत होगा। इसी विश्वास पर अंगद जी को यह साहस हुआ—

जो मम चरन सकेसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी॥

अँग्रेजी-कहावत है कि प्रेम और युद्ध में सब दाँव-पेच उचित हैं। राजा का अपनी युद्ध-नीति के संचालन के लिये कभी कभी ऐसा कार्य्य भी करना पडता है जो व्यक्ति-धर्म के विरुद्ध होता है।

इसकी ध्वनि गुसाईं जी के इस वाक्य में है—

बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा॥

श्रीरामचन्द्र जी के कीर्ति-रूपी चन्द्रमा पर शायद इसी नीति के कारण वालि-बध की कालिमा लग गई है। राम-सुग्रीव की संधि हो चुकी है। वालि-वध की प्रतिज्ञा भी हो गई है।

सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं, बालिहिं एकहि बान।

नीति के अनुसार मित्र का शत्रु भी अपना ही शत्रु होता है। वालि को कम से कम अपनी रानी तारादेवी के द्वारा यह सब समाचार भी मिल चुके हैं।

गहि कर चरन नारि समुझावा।
सुनु पति जिनहि मिला सुग्रीवा। तेउ दोउ बंधु तेज बल सींवा।
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

इस पर बालि का उत्तर सुनिए—

कहा बालि सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ।
जो कदापि मोहिं मारिहैं, तौ पुनि होउ सनाथ॥

"समदरसी रघुनाथ" बालि के ये शब्द और भी चुटकी भरते हैं। शत्रु की धार्मिकता तथा समदर्शिता पर ऐसा अटल विश्वास! धन्य है, वालि! तुम्हारे इन शब्दों ने तुमको उस शत्रु से भी ऊँचा उठा दिया। रघुनाथ जी की सफाई आजकल के वकीलों की सफाई के समान है। गुसाईं जी बेचारे वाली से भले ही यह कहला दें—

सुनहु राम स्वामी सुभग, चलन चातुरी मोर।
प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अन्त काल गति तोर॥

पर बात ज्यों की त्यों रहती है।

जन्मभूमि के प्रेम को भी गुसाईं जी नहीं भूले हैं। रघुनाथ जी बनवास से लौटते हैं। अवध में प्रवेश करते ही कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावनि पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥

अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। ... ...

लंका-निवासियों का युद्ध मातृभूमि तथा जाति प्रेम का उज्ज्वल दृष्टांत है। यह जानते हुए भी, कि यह अधर्म युद्ध है, और रामचंद्र जैसे शत्रु से लोहा लेना कठिन है, एक एक कर वे सब वीरगति को प्राप्त हुए।

सुराज्य और स्वराज्य दो भिन्न वस्तुएँ बताई जाती हैं और यह भी कहा जाता है कि प्रायः सभी स्वेच्छाचारी शासन एक समय सार्वजनिक शासन में परिणत हुए हैं। यह ठीक है। साथ ही यह भी इतना ही सत्य है कि कालांतर में सार्वजनिक शासन भी जर्जरित हो स्वेच्छाचारी शासन में परिणत हुए हैं। इसके उदाहरण लेख के आरम्भ में दिए जा चुके हैं। स्वराज्य के जितने नमूने आज वर्तमान हैं, उनमें से अनेकों के लिये वह स्वराज्य अपने अंतर्गत किसी वर्ग के लिये उतना ही निरंकुश होता है, जितना कोई दूसरा शासन हो सकता है।

एक-तंत्र-शासन में देश-भक्ति का लोप हो जाना भी कहा जाता है। पर इसे एक दम स्वीकार करते नहीं बनता। अठारहवीं शताब्दी तक भारत के अनेक हिंदू राज्यों में देशभक्ति की पवित्र धारा अच्छी तरह स्रावित होती रही है। मेवाड़ का एक एक स्त्री-पुरुष इस रंग में रँग रहा था। राठौड़ों ने औरँगजेब के साथ युद्ध में अद्भुत देश-प्रेम दिखाया था। महाराष्ट्र भी इसी नशे में चूर थे।

पुरुषार्थ का क्षीण हो जाना भी एक-तंत्री शासन का परिणाम बताया जाता है। यदि एक-तंत्र-शासन से अभिप्राय संपूर्ण निरंकुश शासन से लिया जाय, तो यह किसी अंश में ठीक हो सकता है—

कोउ नृप होइ हमैं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।

पर जिस आदर्श को हिंदू जाति ने स्वीकार किया था और जिसका आदर्श गुसाईंजी ने खींचा है, उसमें इसकी आशंका नहीं।

अर्वाचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि भारत की भूमि सदा ही वीर-प्रसविनी रही है। सिक्ख, मरहठे और राजपूत ये वीर जातियाँ थीं। यदि आज इनका पतन हो गया है तो यह उस आदर्श के कारण नहीं बल्कि उस आदर्श के मटियामेट हो जाने के कारण। आज हिंदू रियासतों में जो शासन-प्रणाली प्रचलित है, वह हिंदू राज्य-आदर्श के विरुद्ध प्रधानतः मुगल-पठान प्रणाली पर प्रतिष्ठित है। उनमें अनेक कलमें लग चुकी हैं।

संक्षेप में गुसाईं जी का राजनीतिक विचार सुराज और स्वराज्य दोनों को लिए हुए है। एक-तंत्र-शासक होते हुए भी राजा निरंकुश नहीं है। उसको हर एक महत्त्व के कार्य्य में केवल मन्त्रि-मण्डल की नहीं, किंतु राज्य के गण्य मान्य पुरुषों की भी सम्मति लेना आवश्यक है। राज्याधिकार एक वंश में रहते हुए भी उत्ताधिकारी को चुनने के समय प्रजा की रुचि जानना भी ज़रूरी है। राजा के शासन का समय भी नियमित है। इस लोक को छोड़ने के पूर्व ही उसको राज्य-शासन का भार छोड़ना पड़ता है। इस कारण उसके हृदय में इस आकांक्षा का बना रहना स्वाभाविक है कि मुझे सुयश और सुकीर्ति प्राप्त हो। कानून का बनाना भी उसके हाथ में न होकर उन वनवासी ऋषियों के हाथ में है, जिनको सांसारिक वैभव और अर्थ की तृष्णा आकर्षित नहीं करती। ये सब ऐसे प्रतिबंध हैं, जो राजा को पूर्णतया स्वेच्छाचारी नहीं बनने देते।

राजा-प्रजा का संबंध पिता-पुत्र संबंध के समान पवित्र प्रेम का संबंध है और सर्वथा आडंबर-शून्य है। एक दूसरे के सुख दुःख में साथी होता है। इस आदर्श में राजा कोई भयदायक विचित्र जंतु नहीं। उसमें ईश्वरीय अंश है। उसका हृदय दया-प्रेम से पूर्ण है। जिस रथ में वह महारथी आरूढ़ है, उसका वर्णन देखिए—

सौरज धीर जाहि रथ चाका। सत्यसील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परिहित थोरे। छमा दया समता रजु जोरे॥

ईस-भजन सारथी सुजाना। विरति चरम सन्तोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि शक्ति प्रचंडा। बर विज्ञान कठिन कोदण्डा ॥
संयम नियम शिलीमुख नाना। अमल अचल मन तूण समाना ॥
कवच अभेद्य विप्र पद-पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥

ऐसी आदर्श प्रणाली के शासक प्रजा की समृद्धि को देखकर आजकल के नरेशों के समान द्वेष-ईर्ष्या से दग्ध नहीं होते थे बल्कि सन्तुष्ट होते थे। वे अपने सेवक सचिव-गण को अपने समान ही वैभव और ऐश्वर्य-पूर्ण देखना चाहते थे। जहाँ तक बन पड़ता था, युद्ध के रक्त पात से बचने का वे प्रयत्न करते थे। उनके युद्ध भी केवल कीर्ति-प्राप्ति के लिये होते थे, राज्य हड़पने के लिये नहीं। प्रजा-सत्तात्मक राज्य में भी एक समय ऐसा आता है जब घटना-चक्र के कारण शासन की शक्तियाँ किसी एक नेता के हाथ में केन्द्रस्थ हो जाती हैं। ऐसे अवसरों पर उनको धरोहर समझकर उनका सदुपयोग करना और आवश्यकता न रहने पर उनसे किनारा खींच लेना किसी माई के लाल का ही काम होता है। बहुधा इस प्रकार प्रजा-सत्तात्मक शासन का नाश ही होता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं। रोम में सीज़र और आगस्टस और फ्रांस में नेपोलियन इसी कुप्रवृति के उदाहरण हैं।

अस को जन्म्यो है जगमाहीं। प्रभुता पाइ जासु मद नाहीं ॥
पुनः ... .. . । जग बौराइ राजपद पाये ॥

ससिगुरु तिय गामी नहुष, चढ़े भूमि-सुर-यान।
लोक वेद तें विमुख भा, अधम को बेणु समान ॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू ॥
कही तात तुम नीति सुहाई। सब तें कठिन राज-मद भाई ॥
जो अँचवत नृप मातहिं लेई। नाहिं न साधु सभा जिन सेई ॥

महाकवि केवल अपने आदर्श का चित्र नहीं दिखाता, किंतु जिस समय में वह होता है, उस समय उसके आदर्श से गिरी हुई

दशा का ख़ाक़ा भी खींचता है। गुसाईं जी ने भी आदर्श-राज-नीति का चित्र खींचते हुए, अपने समय की प्रचलित राजनीति की भी झलक दिखाई है।

वह समय मुसलमानों के प्राबल्य का था। जिस नीति पर मुसलमानी शासक चलते थे, उसका भी दिग्दर्शन उन्होंने अपने इस महाकाव्य में कराया है।

जिहि जिहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आग लगावहिं॥
नहिं हरिभगति जग्य जप दाना। सपनेहु सुनिअ न वेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहि कवनि मिति॥
भुजबल बिस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मण्डलीकमनि रावन, राज करै निज मन्त्र॥
जपजोग विरागा तपमख भागा, श्रवण सुनै दससीसा॥
आपुन उठि धावै रहन न पावै, धरि सब घालै खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा, धरम सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुविधि त्रासै, देस निकासै जो कह वेद पुराना॥

पठान-काल का कैसा अच्छा शब्द-चित्र है।

देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग-कुमारि।
जीति बरीं निज बाहु-बल, बहु सुन्दरि बर नारि॥

अलाउद्दीन और अकबर की नीति तथा शासन का अच्छा ख़ाका है।

आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन विनीता॥

आमेर, जैसलमेर, बीकानेर, मारवाड़ आदि एक एक करके सभी के माथे मुगल दरबार की चौखट से लगते थे।

दशरथ की वह दशा प्रेमोन्माद की थी जिसमें वे कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करहुँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकौं तोर अरि अमरउ मारी। कहा कीट बपुरे नर नारी॥

मुसलमानी समय में प्रजा इसी दृष्टि से देखी जाती थी।

जानेसि मोर सुभाउ वरोरू। मन तव आनँद चंद चकोरू॥
प्रिया प्रान सुत सरवसु मोरें। परिजन प्रजा सकल वसु तोरें॥

इसको पढ़कर कौन नहीं कहेगा कि प्रेम-रूपी पतंग जहाँगीर नूरजहाँ वेगम के चरण-कमलों में प्रेम-भिक्षा माँग रहा है।

राजा प्रजा में वह प्रेम संबंध नहीं रहा था। प्रजा को इससे मतलव नहीं था कि खुसरो उत्तराधिकारी हो या सलीम, दारा शिकोह गद्दी पर वैठे या मूर्ख मुराद. या वदवख्त शुजा या जालिम औरंगजेव।

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अव होव कि रानी।

क्या नैराश्यपूर्ण शब्द हैं!

वीर लक्ष्मण जी को शक्ति लगी है। वैद्य औषधोपचार कर रहा है। लंकेश्वर मनुष्यत्व के नाते को भी छोड़ इसमें वाधा डालने का प्रयत्न कर रहा है। मारवाड़-नरेश, औरंगजेव के कट्टर शत्रु का युवराज दरगाहे औरंगजेवी में आता है और उसको जहर की बुझी ख़िलअ़त अता की जाती है जिसको पहनकर वह तडप तड़प कर मर जाता है।

विभीषण के रूप में आमेर-अधिपति मानसिंह के दर्शन होते हैं।

दसमुख देखि सकल सकुचाने। जे जड़ जीव सजीव पराने॥

किसी यवन हाकिम के आने पर हिंदू प्रजा की ऐसी ही दशा हो जाती थी। यह वास्तविक निरंकुश शासन का चित्र है। जिस राज-प्रणाली का अनुभव किया था, जिसके गुण-दोषों को आँखों देखा था, उसके नेताओं, उसके अधीश्वरों के विषय में भी कवि ने अपने विचार प्रकट कर दिए हैं।

शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवत वस नहिं लेखिअ॥
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति वस नाहीं॥

(६) धन्य तुलसीदास !

(लेखक—श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र)

दोहा

एई तुलसी दास हैं एई हिन्दी-प्रान।
एई भगवत-भक्तवर इन सम धन्य न आन ॥ १ ॥
धनि सम्वत धनि मास वह, धन्य घरी जब मीत।
लियो जन्म इन आइ किय भारत-भूमि पुनीत ॥ २ ॥
धन्य मातु पितु गोद जिन ऐसो सुवन खेलाय।
पावन कुल सब विधि कियो जीवनमुक्त कहाय ॥ ३ ॥
भयो न ऐसो कवि दुतिय, अहै न होनहुहार।
कविता-कामिनि-कंत ये, कवि-कुल के शृंगार ॥ ४ ॥
का हिन्दी उरदू कहा, का अँगरेजी मित्र।
का अरबी का पारसी, भाषा अन्य विचित्र ॥ ५ ॥
हैं जितनी देखीं, सुनीं, लिखीं, पढ़ीं, गुन आल।
काहू मैं देख्यो नहीं ऐसो सुकवि विसाल ॥ ६ ॥
हीन दसाहू मैं जदपि भारतवासी आज।
पै तुलसी बल करि सकत मस्तक उच्च दराज ॥ ७ ॥
ऐसो कवि देख्यो सुन्यो जग मैं कतहुँ न आन।
करत गुनीजन जगत के जाको सुजस बखान ॥ ८ ॥

सवैया

भारत के कविराजन मैं अति उच्च है नाम सदा तुलसी को।
जासु प्रताप दिवाकर के लखे औरन को जस लागत फीको ॥
जुगनू और तरैयन की कहा जो परभा परै मन्द ससी को।
धाक सुने रिपु खाक सदा मिलै छूटि परै उत्साह असी को ॥

सूर फिरै निज राह टटोवत, देव की चातुरता बिसरी है ।
भूलि बिहारी गयो छरछन्दन, भूषन धीरता छोरि धरी है ॥
बिज्ञपनो गयो केशव को, मतिराम की माधुरताऊ हरी है ।
का कहिए हरिचन्द औ चन्द कबीर को बात क्यों होत खरी है ॥१०॥

पट्पद

हिन्दी, हिन्दू, हिन्द नाम जब लौं जग राजै ।
तब लौं तुलसीदास-कीर्ति महि मंडल गाजै ॥
कविता कर सनमान जहाँ लौं एहि संसारा ।
ऋषिवर ! तव परताप तहाँ लगु टरै न टारा ॥
तुम शेक्सपियर होमर तथा
दान्ते हू के पूज्य हो ।
जय तुलसिदास, जय जयति जय,
नमो नमो तुलसी नमो ॥ ११ ॥



(१०) तुलसीदास और जयदेव

[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय]

अँग्रेजी में एक कहावत है कि Poets are born, not made. कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। समग्र प्रतिभाशाली कवियों का इतिहास इस सिद्धांत की यथेष्ट पुष्टि करता है। कविता प्रतिभा की सुदृढ़ भित्ति पर ही अच्छी तरह खड़ी हो सकती है। जिस कवि में इस प्रतिभा का—नवोन्मेषिणी प्रज्ञा का—अभाव है, जो कवि अपनी स्वाभाविक कल्पना के पंखों पर उड़कर स्वर्गीय भाव-सुधा को मर्त्यलोक में लाना नहीं जानता, भला उसकी कविता-कामिनी के हाव-भाव सहृदयों के रसीले हृदय को कभी खींच सकते हैं? उसके मधुर शब्दविन्यास कभी कर्णपुरी में सुधा की वर्षा कर सकते हैं? उसके मनोरम भाव क्या कभी रसिकजनों के चित में खुभ सकते हैं? क्या उसके ललित अलंकारों की छटा कभी इन प्यासे नयनों को तृप्त कर सकती है? कदापि नहीं। रस से सरसाती, चित्त में घाव करनेवाली कविता के लिये प्रतिभा की परमावश्यकता है। संस्कृत साहित्य के आलंकारिक-शिरोमणि मम्मटाचार्य ने भी कविता के त्रिविध साधन बतलाते समय 'प्रतिभा' को ही सबसे पहल स्थान दिया है। इस प्रतिभा का विकास कवि के हृदय में जन्म से ही होता है—पूर्वकालीन संस्कार के बल से इस प्रतिभा की निर्मल धारा कवि के हृदय में प्रबल वेग से बहने लगती है। वाल्मीकि की जिह्वा से अकस्मात् ही कविता का प्रवाह निकलने लगा था। अंधे होमर को किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं मिली थी। उसकी क्रमबद्ध शिक्षा के विषय में भी ग्रीक इतिहास मौनव्रत अवलंबन किए हुए है। वह अपनी प्रतिभा के अनुपम विमान पर चढ़कर ही सैंकड़ों वर्ष पूर्व घटित होनेवाले ट्रोजन संग्राम की

छोटी से छोटी घटनाओं को देखता था और अपने अमर महाकाव्य 'इलियड' में वर्णन करता था। महाकवि शेक्सपियर की वह अनुपम नाट्य-कला तथा अनमोल कविता उसकी प्रतिभा के बल से ही प्रसूत हुई थी। अतएव यदि आलोचकगण सच्चे कवि को खरादा गया न समझकर, जन्म से ही चमकनेवाला, अँधेरे को उजेला बनानेवाला, हीरा समझें तो वह सिद्धांत सत्यता से बहुत दूर न होगा।

उक्त सिद्धांत की सत्यता को मानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कविगत प्रतिभा के अंकुर को उपजाने के लिये, उसे हरा भरा बनाकर पल्लवित करने के लिये अनेक साधन-रूपी खाद की आवश्यकता होती है। इन सामग्री के बिना हृदय में छिपी हुई शक्ति का—सर्वतोगामिनी प्रचंड प्रतिभा का—सम्यक् विकास वास्तव में जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। यह सामग्री उसके उद्बोधन में, उसे जनता के नेत्रों के सामने प्रकट होने में अनेक सहायता प्रदान करती है। इस सामग्री को हम निपुणता तथा अभ्यास के नाम से पुकारना यथोचित समझते हैं। संसार के विभिन्न कार्यों का अवलोकन कर उसका समुचित अनुभव प्राप्त करना तथा प्रकृति देवी के मनोरम मंदिर को देख उसके वास्तविक रहस्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। देश और काल का असीम प्रभाव कवि के हृदय पर बिना हुए रह ही नहीं सकता। सांसारिक अनुभव से कवि की प्रतिभा और भी प्रौढ़ बनती है। जिस काल में कवि का जन्म हुआ है, उस समय की विशिष्ट विचार लहरी का छींटा उसकी कविता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उस समय की भावनाओं की तरंग उसके काव्य में जरूर दिखाई देगी। उसी भाँति देश का प्रभाव भी कविता के मनोहर वेश में बहुत कुछ वैचित्र्य पैदा कर सकता है। इन साधनों के समान ही प्राचीन कविता का अध्ययन तथा मनन भी कवि को सुचारु-रूप में गढ़नेवाले पदार्थों में उन्नत स्थान रखता है।

नवीन कविता करने का अभ्यास तथा प्राचीन काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन काव्य-साधनों में एक विशिष्ट साधन है। प्रत्येक देश के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अपनाने में तनिक भी नहीं झिचकते; क्योंकि वे तो उनके अध्ययन के प्रधान अंग हैं। इन साधनों की सहायता से कवि की ईश्वरदत्त प्रतिभा का उद्बोधन हो सकता है तथा कतिपय अंशों में नवीन प्रतिभा का जन्म भी हो सकता है। अनेक ऐसे कविवर हो गए हैं जिनमें स्वाभाविक प्रतिभा की न्यूनता की पूर्ति बहिर्जगत् के अनुभव से यथेष्ट की गई है। ऐसे बहुत से कवि मिलेंगे जिन्होंने इन्हीं साधनों के सहारे अत्युत्तम कविता की है। अतएव वास्तविक कविता वही है जिसमें प्रतिभा के बीज जन्म से ही निहित हों। तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त साधनों के द्वारा कवि बनाया भी जा सकता है—उसे देश तथा कालरूपी साँचे में ढाला भी जा सकता है।

यही कारण है कि कवियों में भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं कहीं तो दो भिन्न देशीय कवियों के एक ही विषय पर मजमून बलात्कार लड़ जाते हैं। कवि-प्रतिभा की गति प्रायः संसार में एक ही समान रहती है। इस प्रतिभा के बल पर जब एक ही विषय पर कविता लिखी जा रही हो, तब विचारों का लड़ जाना कोई असम्भव व्यापार नहीं। परन्तु कहीं कहीं कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अनूठे भावों को—अनुपम सूझ को जान बूझकर अपनाता है। जो भाव अनोखे होते हैं, जिनमें अलौकिकता की अधिक मात्रा रहती है, वे अध्ययनशाली कवि के स्वच्छ हृदय पर अपना प्रभाव डाले विना नहीं रह सकते। ऐसे भाव उसके हृदय पर अपनी छाप बैठा देते हैं; वे कवि की निज की कमाई सम्पत्ति हो जाते हैं। अतएव जहाँ समुचित अवसर मिलता है, वहाँ कवि उन भावों को प्रकट किए विना आगे नहीं बढ़ सकता। उन भावों के परकीय होने का विचार उसके हृदय से सदा के लिये पृथक् हो जाता है। कविता लिखते

समय वे भाव स्वतः ही, बिना किसी ज्ञात परिश्रम के, उसके नेत्रों के सामने फिरने लगते हैं। कवि उन्हीं स्वर्गीय सूक्ष्म भावों का सुंदर चित्र अपने शब्दों से सर्वसाधारण के सामने खींचता है। यह भावों का अपनाना 'अर्थापहरण' नामक दोष से सर्वथा मुक्त है। यदि कवि किसी दूसरे कवि के भाव को लेकर उसकी रमणीयता की रक्षा न कर सके, उसके अनूठेपन को बनाए न रखे, तो वह वास्तव में 'कवि-वान्तं समश्नुते' का लक्ष्य बनाया जा सकता है। परन्तु यदि वह उन भाव-चित्रों के गाढ़े रंग में कुछ भी कमी नहीं होने देता, यदि कवि के शब्दों में उतरकर वे भाव अपनी सरसता तथा अलौकिकता को नहीं खो बैठते, तो वह कवि वास्तव में सच्चे कवि का उच्च पद पाने का प्रधान अधिकारी है। वही कवि सच्चा कवि है जो प्राचीन भावों पर भी अपनी अनुपम छाप डाल दे, अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल से उन में नई रंगत पैदा कर दे और उनमें कुछ दूसरा ही अनोखापन ला दे। आलोचकगण इसका ही 'मौलिकता' के नाम से सादर स्वागत करते हैं। कौन ऐसा भाव है जिसे प्राचीन कवियों ने न अपनाया हो। तथापि उन्हीं भावों को अपने साँचे में ढाल, अपनी प्रतिभा की विमल छाप लगा, उनमें नई चमक पैदा करना ही तो मौलिकता है। संस्कृत साहित्य के प्रधान आलोचक आनन्द वर्धनाचार्य ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वही रूखे सूखे पेड़ हैं, वही पत्रों से रहित शाखाएँ हैं, वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब कुछ पुराना है; परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। वृक्षों में नूतन, रक्त वर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं, शाखाएँ हरी भरी सी दिखाई देती हैं, मंजरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने! उसी भाँति कवि भी पुराने भावों में नवीनता उपस्थित कर उन्हें चोटीले बना देता है। कहीं शब्द बदल देता

है तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। अब भाव दूसरे से उधार ली हुई सम्पत्ति नहीं रह जाता, बल्कि अपना कमाया हुआ निज का धन हो जाता है।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

कविकुल-शेखर राजशेखर ने आनंदवर्धनाचार्य की ही उदार सम्मति को अपने शब्दों में दुहराया हैः—

शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

समग्र संस्कृत साहित्य हिन्दी कवियों के लिये पैतृक सम्पत्ति है। उन्हें उसका पूर्ण रूप से अपनी कविता में उपयोग करने का अधिकार है। यही कारण है कि अनेक हिंदी कवियों पर प्राचीन संस्कृत कवियों की छाया स्पष्टतः झलकती है। परंतु हिंदी के महाकवियों ने भावों को लेकर भी उन्हें अत्यंत रमणीय बना डाला है, जिससे वे भाव मौलिक से जान पड़ते हैं। कविता-कामिनी-कांत तुलसीदास ने भी अनेक प्राचीन संस्कृत कवियों के भावों को अपनाकर अपने 'रामचरित मानस' को सुशोभित किया है। रामायण की भूमिका में महात्मा तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ में वर्णित सिद्धांत अनेक आगम निगम पुराण ग्रंथों से लिए गए हैं। देखिए, वे लिखते हैंः—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिवन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

तुलसीदास ने अनेक विमल दार्शनिक सिद्धांत गीतादि धर्मग्रंथों से, राम का अधिकांश आख्यान अध्यात्म रामायण से, तथा अनेक कथोपकथन हनुमन्नाटक से लिए हैं, यह बात तो सर्व-

प्रसिद्ध ही है; परंतु रामायणीय कथा विषयक एक और अनुपम ग्रन्थ है जिसकी छाया रामायण के अधिकांश अनूठे भावों पर पड़ी है। यह ग्रंथ जयदेव प्रणीत 'प्रसन्नराघव' नामक संस्कृत नाटक है। अभी तक इस ग्रंथ तथा रामचरित मानस के विंब-प्रतिविंब भावों का वर्णन हिंदी संसार के सामने विस्तृत रूप से कभी नहीं किया गया था। हाँ, स्वर्गीय पण्डित चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग ३ सं० १ में प्रसन्नराघव के दो पद्यों को उद्धृत कर रामायण की कुछ कविता के साथ उसका विंब-प्रतिविंब भाव दिखाया था। यह पहला ही अवसर है (जहाँ तक मुझे मालूम है) कि इन दो कवियों के विंब प्रतिविंब भावों का वर्णन रामायण-प्रेमियों के सामने उपस्थित किया जाता है।

प्रसन्नराघव का रचना-काल

'प्रसन्नराघव' नाटक में, जैसा कि इसका सार्थक नाम प्रकट कर रहा है, रामचन्द्र के जीवन-वृत्तांत का अभिनयात्मक वर्णन है। नाटक के जितने आवश्यक गुण होने चाहिएँ, उनमें से अनेक गुणों की न्यूनता यद्यपि इस नाटक के पढ़नेवालों को खटकेगी, तथापि कविता के लिहाज से, प्रसन्न-कारिणी शक्तियों की दृष्टि से, यह नाटक अधिक मूल्य रखता है। इस नाटक के कर्ता का नाम 'जयदेव' है। यह कविवर अमर गीति-काव्य गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। गीतगोविन्द के रचयिता के पिता का नाम भोगदेव तथा पूज्या माता का रमादेवी था; परन्तु प्रसन्नराघव के कर्ता के पितृदेव का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रादेवी था। इनका गोत्र कौंडिन्य था। प्रसन्नराघव की रचना रामचरितमानस से करीब डेढ़ सौ वर्ष पहले हो चुकी थी। साहित्यदर्पण के कर्ता विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि-काव्य के उदाहरण में 'कदली कदली करभः करभः' वाला प्रसन्नराघव का पद्य

उद्धृत किया है जिससे निश्चित है कि जयदेव अवश्य विश्वनाथ (चौदहवीं सदी का उतरार्द्ध) से प्राचीन थे। चन्द्रालोक में जयदेव ने मम्मटाचार्य के काव्य-लक्षण की हँसी उड़ाई है जिससे इनका समय मम्मटाचार्य (भोज के समकालीन, १२वीं सदी) से पीछे तथा विश्वनाथ के पहले ठहरता है। अर्थात् यदि हम इन्हें तेरहवीं सदी का कवि कहें तो अनुचित न होगा। अतएव जयदेव ने इन समान भावों को रामचरित मानस से नहीं लिया; क्योंकि वे तो तुलसीदास से सैंकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे। भाव-समानता से सिद्धांत यही निकलता है कि तुलसीदास ने ही जयदेव के अनूठे भावों को अपनाकर अपने 'मानस' को सुंदर बनाया है।

बिम्ब-पति-बिम्ब भाव

जयदेव जी ने नाटक की 'बालकाण्ड' वाली प्रस्तावना में रामचन्द्र के आदर्श चरित्र की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वास्तव में मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र समग्र विश्व के लिये अनुकरण की सामग्री है। आदर्श पितृभक्ति, पुत्र-स्नेह, भ्रातृ प्रेम तथा पत्नी-प्रेम का अनुपम सम्मेलन जैसा यहाँ दिखाई देता है, वैसा संसार के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन में नहीं मिलता। अतएव जयदेव जी की राम-विषयक प्रशंसा वास्तव में सत्य है। वे कहते हैं कि ज्यों ही कोई मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को प्रकट करना चाहता है, त्यों ही भगवती सरस्वती उसकी जिह्वा पर आ बैठती हैं—अपने पतिदेव की क्रीड़ा-भूमि को भी छोड़कर करोड़ों कोसों से दौड़ती हुई आकर उसकी जीभ पर विराजमान हो जाती हैं। इस सुदूर मार्ग को पार करने का परिश्रम किसी तरह भी कम नहीं होता। इसके लिये केवल एक ही सुगम उपाय है। और वह है रामचंद्र के गुणगरिमा चरित्र का कीर्तन। रामचंद्र के गुणानुवाद-रूपी सुधामयी वापी में यदि वह गोता न मारें, तो उनका परिश्रम किसी भाँति दूर नहीं हो सकता।

धन्य है राम के गुणों का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने में समर्थ है।

> झिटति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्
> महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।
> अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
> रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामय दीर्घिकाम् ॥
>
> (प्रसन्नराघव कलकत्ता सं० पेज ५)

तुलसीदास जी ने भी अपने आराध्य देव राम के गाथा-कीर्तन के विषय में अनेक प्रशंसाएँ बालकाण्ड में की है। वे भी यही कहते हैं:—

> भगति हेतु विधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
> राम-चरित-सर बिनु अन्हवाये। सो स्रमु जाइ न कोटि उपाये॥

रसिक पाठक इन दोनों उक्तियों को साथ साथ पढ़ें और देखें कि इनमें गहरा भाव-साम्य है या नहीं। श्लोक में रघुपति-चरित की श्लाघा का रूपक सुधामय दीर्घिका से दिया गया है, महात्मा जी ने उपमान तथा उपमेय की एकलिंगता के साहित्यिक नियम की रक्षा के अभिप्राय से, भाव को अपनाकर भी, स्त्रीलिंग का सहारा छोड़, रामचरित का रूपक 'सर' से बाँधा है। भाव तो एक समान है ही, परंतु इस प्रकार अलकार का निर्वाह भी ठीक ढंग पर किया गया है।

रामचरितमानस का वाटिका-भ्रमण भी हिंदी साहित्य में कविता की दृष्टि से अनूठी चीज़ है। साधारण शब्दों में मर्मस्पर्शी भावों का वर्णन करना तुलसीदास का ही श्लाघनीय व्यापार है। अधिकांश रामायणी इस वाटिका भ्रमण को तुलसीदास के कल्पना-मय मस्तिष्क की उपज मानते हैं। परंतु यह बात ठीक नहीं है। प्रसन्नराघव में सीता का अपनी प्यारी सहेलियों के साथ गिरिजा का पूजन तथा उपवन में वसंत की बहार खूब चुने हुए शब्दों में वर्णित

है। जिस मार्मिक ढंग से तुलसी ने इसका शाब्दिक चित्र खींचा है, वह तो उनका ही खास ढंग है; परंतु लेखक की सम्मति है कि वाटिका-वर्णन का विचार प्रसन्नराघव से ही तुलसीदास को मिला। रामचंद्र सीता के नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर लक्ष्मण को उधर देखने से रोकते हैं; क्योंकि पर-स्त्री की शंका से ही रघुवंशियों का मन संकुचित हो जाता है।

"परस्त्रीतिशंकापि संकोचाय रघूणाम्"

इसी भाव पर तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा का छींटा देकर यों कहलवाया है:—

रघुवंसिह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरैं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।

× × × ×
× × × ×

पाठक वृन्द! देखिए, एक साधारण बात को भी तुलसीदास ने कैसे अच्छे ढंग से विस्तृत किया है।

नाटक में धनुष तोड़ने के लिये रावन और वाण में अनेक वाक्-प्रबंध दिखलाया गया है। अंत में वाणासुर शिवधनुष को उठाने लगता है। अत्यंत परिश्रम करता है; परंतु वह जड़ पिनाक टस से मस नहीं होता। इस विषय पर जयदेव जी एक सुन्दर उदाहरण देते हैं कि सती स्त्रियों का मन कामी जनों के बारंबार प्रार्थना करने पर भी जरा भी अपने प्राकृतिक स्थान से नहीं टलता। यही दशा उस धनुष की थी।

वाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्।

(पृ० २७)

तुलसीदास जी ने भी इस प्रसंग पर इसी अनुपम उपमा की सहायता ली है।

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा।
डिगै न सम्भु-सरासन कैसे। कामीवचन सती-मन जैसे।

कहना व्यर्थ होगा कि यह उपमा जयदेवजी के ही नाटक से ली गई है।

रामचरित मानस का राम-परशुराम संवाद सजीवता में अपना सानी नहीं रखता। लक्ष्मणजी की व्यङ्ग्योक्ति वास्तव में मर्मस्पर्शिणी है। परशुराम को जैसी फबती लक्ष्मण ने सुनाई है, वैसी रामायण में और कहीं सुनने को नहीं मिलती। यह सम्वाद तुलसीदास के हास्य-मय हृदय का पता देता है। यह महात्माजी की निज की कल्पना से प्रसूत माना जाना चाहिए; तथापि इसके अधिकांश भाव प्रसन्न-राघव से लिए गए हैं। हाँ, 'कुम्हड़-बतिया' की उपमा आदि अनेक चमत्कारिणी उक्तियाँ खास तुलसीदास की ही हैं; तथापि कतिपय भावों पर जयदेवजी की छाया बहुत साफ देख पड़ती है।

रामचंद्र परशुराम का बड़प्पन दिखाते हुए आपस में समर-व्यापार को निंद्य ठहराते हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन्, आप ठहरे ब्राह्मण और मैं ठहरा क्षत्रिय, मेरा बल अत्यंत हीन है; परंतु आप उत्कृष्टता के शिखर पर चढ़े हुए हैं; क्योंकि मेरा बल तो केवल धनुष है जिस में केवल एक ही गुण (प्रत्यञ्चा) है, परंतु आप का अस्त्र—यज्ञोप-वीत—नव गुणों (सूतों) से सुशोभित है। युद्ध तो समबल के साथ करना समुचित होता है; परंतु मुझमें और आपमें तो आकाश पाताल का अंतर है, भला कहिए तो सही, मैं कभी आपसे लड़ने के योग्य हूँ!

भो ब्रह्मन्! भवता समं न घटते संग्रामवार्तायिनः
सर्वे हीनबलाः वयं बलवतां यूयं स्थितामूर्धनि।

यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा-
मस्माकं भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्।
(पृ० ८२)

अब जरा देखिए, तुलसी के इष्ट राम भी इन्हीं शब्दों में संग्राम-वार्ता को बुरा ठहराते हैं :—

हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा। कहहु त कहाँ चरण कँह माथा॥
देव एकगुन धनुष हमारें। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु विप्र अपराध हमारे॥

देखिए, पुराने मजमून में कैसी जान डाल दी गई है। 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' वास्तव में इस उद्धरण की जान है। यह तुलसी की खास कल्पना है; मूल में इस विषमालंकार की छटा देखने को नहीं मिलती। हाँ इतना अवश्य कहेंगे कि 'नवगुन परम पुनीत तुम्हारे' में प्रसाद की उतनी मात्रा नहीं जितनी 'नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्' में है।

राम अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी राय है कि पुराना धनुष तो छूते ही टूट गया; इसमें हमारा दोष ही क्या ?

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः।
भगवन्नात्मनैवेदं मभ्यजत करोमि किम्॥ (पृ ८१)

रामचरित मानस में भी यही बात कही गई है:—

छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

पिनाक को पुराना बतलाकर तुलसीदास ने पद्य के मजमून को अपना बना डाला है।

सुंदर काण्ड में जितनी समता दृष्टिगोचर होती है, उतनी और कहीं नहीं दिखाई देती। पद पद पर तुलसीदास ने जयदेव के भावों को अपनाया है। परंतु ये भाव ऐसे समुचित अवसर पर और सुचारु रूप से बैठाए गए हैं कि इन में परकीयता की गंध भी नहीं आती।

रावण के भय दिखाने पर सीता कह रही है कि हे रावण, ज्यादा बक झक मत कर। केवल दो ही चीजें ऐसी हैं जो मेरे कण्ठ को छू सकती हैं। पहली चीज तो कमल के समान कांतिवाला रघुनाथ का भुज, और दूसरी तेरी निर्दय तलवार! क्या सुंदर भाव है!

विरम विरम रक्षः! किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलं श्यामकान्तेः
दशमुख! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्॥

(पृ. १२७)

तुलसीदास की सीता भी ऐसी ही आदर्श प्रतिप्राणा है। वह साफ शब्दों में राम के विना मरना स्वीकार करती है:—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु-भुज करि कर सम दसकंधर॥
सोइ भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमानपन मोरा॥

अब सीता रावण की भयंकर तलवार चंद्रहास से ही अपना सिर काटने की प्रार्थना कर रही है। वह कह रही है कि चंद्रहास! रामचंद्र की विरहाग्नि से उत्पन्न हुए मेरे संताप को मिटा दो। तुम में ताप मिटाने की शक्ति अच्छी मात्रा में विद्यमान है; क्योंकि तुम अपनी धार में शीतल जल ही धारण करते हो। इसी शीतल जल से मेरे हृदम में सुलगनेवाली आग बुझा दो, बस यही प्रार्थना है।

चंद्रहास हर मे परितापं
रामचंद्र विरहानलजातम्।
त्वं हि कांतिजित मौक्तिकचूर्णं
धारया वहसि शीतलमम्भः।

(पृ. १२७)

रामायण की सीता भी ऐसी ही प्रार्थना सुनाती है:—

चद्रहास हरु मम परिताप। रघुपति बिरह अनल संतापं॥

सीतल निसि तव असि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

देखिए, पिछली चौपाई पद्य के पूर्वार्द्ध का अक्षरशः अनुवाद है।

नाटक में सीता त्रिजटा से अग्नि लाने के लिये कहती है; परन्तु त्रिजटा के अग्नि सुलभ न होने की बात कहने पर सीता अशोक से ही आग माँग रही है। वह कहती है—हे निर्दय अशोक! मेरे लिये अग्नि की एक चिनगारी भी तो प्रकट करो। विरहियों के संताप के लिये तुम अपने नूतन पल्लवों के रूप में अग्नि की शिखावली धारण किए हो, जरा एक भी कणिका दो तो सही।

अलमकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते!
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु।
ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नवकिसलयश्रेणीव्याजान् कृशानुशिखावलीम्।

(पृ० १२६)

रामायण में सीताजी की भी उक्ति इसी प्रकार है:—

सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहु निदाना।

सीता की विषम दशा देख पेड़ पर छिपे हुए हनुमान ने मुद्रिका गिरा दी। सीता ने समझा कि वाह वाह, मेरी प्रार्थना पूरी हुई, अशोक ने अग्नि की कणिका मेरे लिये गिरा दी है। वह कह रही है-

"हला! पश्य पश्य निपतितं तावदस्य शिखरादङ्गारखण्डकम्"

तुलसीदास जी ने भी यही बात लिखी है:—

कपि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अङ्गार दीन्ह हरषि उठि कर गहेऊ॥

परंतु वह तो थी राम की अँगूठी। झट हनुमान आगे बढ़ आए और सीता से अपने को राम का दूत बताया। सीता बहुत डरी; परंतु विश्वास होने पर नर और वानर के अयोग्य सम्मेलन

रावण के भय दिखाने पर सीता कह रही है कि हे रावण, ज्यादा बक झक मत कर। केवल दो ही चीजें ऐसी हैं जो मेरे कण्ठ को छू सकती हैं। पहली चीज तो कमल के समान कांतिवाला रघुनाथ का भुज, और दूसरी तेरी निर्दय तलवार! क्या सुंदर भाव है!

विरम विरम रक्षः! किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलं श्यामकान्तेः
दशमुख! भवदीयान्निकृपाद्वा कृपाणात्॥

(पृ. १२७)

तुलसीदास की सीता भी ऐसी ही आदर्श प्रतिप्राणा है। वह साफ शब्दों में राम के विना मरना स्वीकार करती है:—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु-भुज करि कर सम दसकंधर॥
सोइ भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमानपन मोरा॥

अब सीता रावण की भयंकर तलवार चंद्रहास से ही अपना सिर काटने की प्रार्थना कर रही है। वह कह रही है कि चंद्रहास! रामचंद्र की विरहाग्नि से उत्पन्न हुए मेरे संताप को मिटा दो। तुम में ताप मिटाने की शक्ति अच्छी मात्रा में विद्यमान है; क्योंकि तुम अपनी धार में शीतल जल ही धारण करते हो। इसी शीतल जल से मेरे हृदय में सुलगनेवाली आग बुझा दो, बस यही प्रार्थना है।

चंद्रहास हर मे परितापं
रामचद्र विरहानलजातम्।
त्व हि कांतिजित मौक्तिकचूर्णं
धारया वहसि शीतलमम्भः।

(पृ. १२७)

रामायण की सीता भी ऐसी ही प्रार्थना सुनाती है:—

चद्रहास हरु मम परिताप। रघुपति बिरह अनल संतापं॥

सीतल निसि तव असि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

देखिए, पिछली चौपाई पद्य के पूर्वार्द्ध का अक्षरशः अनुवाद है।

नाटक में सीता त्रिजटा से अग्नि लाने के लिये कहती है; परन्तु त्रिजटा के अग्नि सुलभ न होने की बात कहने पर सीता अशोक से ही आग माँग रही है। वह कहती है—हे निर्दय अशोक! मेरे लिये अग्नि की एक चिनगारी भी तो प्रकट करो। विरहियों के संताप के लिये तुम अपने नूतन पल्लवों के रूप में अग्नि की शिखावली धारण किए हो, जरा एक भी कणिका दो तो सही।

अलमकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते!
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु।
ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नवकिसलयश्रेणीव्याजान् कृशानुशिखावलीम्।

(पृ० १२६)

रामायण में सीताजी की भी उक्ति इसी प्रकार है:—

सुनहि विनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहु निदाना।

सीता की विषम दशा देख पेड़ पर छिपे हुए हनुमान ने मुद्रिका गिरा दी। सीता ने समझा कि वाह वाह, मेरी प्रार्थना पूरी हुई, अशोक ने अग्नि की कणिका मेरे लिये गिरा दी है। वह कह रही है-

"हला! पश्य पश्य निपतितं तावदस्य शिखरादङ्गारखण्डकम्"

तुलसीदास जी ने भी यही बात लिखी है:—

कपि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अङ्गार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥

परंतु वह तो थी राम की अँगूठी। अब हनुमान आगे बढ़ आए और सीता से अपने को राम का दूत बताया। सीता बहुत डरी; परंतु विश्वास होने पर नर और वानर के अयोग्य सम्मेलन की

कथा पूछने लगी। जिस प्रकार नाटक की सीता "केन पुनर्नरवानराणामीदृशं सखित्वं निर्मितम्!" कह रही है, उसी भाँति रामायण की सीता भी 'नर वानरहि संग कहु कैसे' पूछती है।

सम्मेलन की समस्या हल हो जाने पर सीता राम की दशा के विषय में प्रश्न करती है। तब हनुमान राम की विषम दशा का मार्मिक वर्णन करते हैं। वह कहते हैं कि हे सीता, तुम्हारे बिना राम को हिमांशु सूर्य की तरह तापकारी जान पड़ता है; नया मेघ दावानल सा प्रतीत होता है, नदियों के जल से संपृक्त वायु क्रुद्ध साँप के निश्वास सा जँचता है; कुवलय वन कुंत के जंगल सा जान पडता है; तुम्हारे वियोग में राम के लिये यह संसार ही विपरीत हो गया, सुखदायक वस्तु से भी दुःख ही उत्पन्न हो रहा है'—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरद्वीचीवातः कुपितफणिनिश्वासपवनः।
नवामल्ली/ भल्ली, कुवलयवनं कुंतगहनं
मम त्वद्विश्लेषात् सुमुखि! विपरीतं जगदिदम्॥

(पृ० १३२-३३)

तुलसी ने भी से बात हनुमान के मुख से कहलवाई है। पाठक, देखिए तो कि ी घनिष्ट समता है:—

राम-बियोग कहेउ तब सीता। मो कहुँ सकल भए विपरीता॥
नव-तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससिभानू॥
कुबलय बिपिन कुंतबन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा। उरग-स्वास सम त्रिबिध समीरा॥

हनुमान आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं कि राम जी चाहते हैं कि किसी को मैं अपने दुःख की कहानी, प्रेम-कथा सुनाकर किसी तरह दुःख से मुक्त हो जाऊँ। परंतु वह स्नेह-सार कौन जानता है। मेरा मन ही इस प्रेम तत्व को जानता है; परन्तु वह तो मेरे पास । वह तो सदा ते ीप रहता है। प्रिये! मैं क्या करूँ। यह

प्रेम-कहानी कौन किसे कह सुनावे। हृदय का यह सच्चा रहस्य, प्रेम की यह नई कसौटी, विरह में मन की दशा कितने अच्छे शब्दों में व्यक्त की गई है। पाठक, पढ़िए और सराहिए:—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।
जानात्येकं ससधरमुखि! प्रेमतत्वं मनो मे-
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत्प्रिये किं करोमि॥

(पृष्ठ १३३)

रामायण में भी सरल शब्दों के द्वारा यही रहस्य व्यक्त किया गया है:—

कहेहु ते दुख घटि कछु होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्वप्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं। जानु प्रीति रस एतनहिं माँहीं।

और अनेक वर्णनों में भी प्रसन्नराघव की छाया रामायण में पाई जाती है। विभीषण-परित्याग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के विलाप आदि का वर्णन जयदेव के ही ढंग पर किया जाता है। परंतु एक और भावसाम्य दिखाकर इस लंबे लेख को समाप्त किया जायगा।

लंकाकाण्ड

लंका का युद्ध समाप्त हो गया है। सब वीरगण विजय से मत्त हो रहे हैं। इतने में पूर्वाकाश के तिलक चंद्रमा का उदय होता है। सुग्रीव, राम, लक्ष्मण, हनुमान आदि के मुख से जयदेव ने चंद्रोदय का बड़ा ही आनंददायक वर्णन कराया है। देखिए, विभीषण चंद्रमा को एक पराक्रमी सिंह के रूप में देखते हैं। चंद्रमा रूपी सिंह ने अपने मयूख-रूपी नखों से अंधकार के मत्त हस्ती को चीर डाला है। हाथी के बिखरे हुए मुक्ता की तरह आकाश में तारे छिटके हैं।

यह सिंह अब तक पूर्व दिशा रूपी गुफा के अंदर सोया हुआ था। अब उठकर वह आकाश रूपी कानन में घूम रहा है। कैसा सांगोपांग रूपक है।

> मयूख नखर त्रुटत्तिमिर कुम्भि कुम्भस्थलो-
> च्छलत्तरलतारका कपटकीर्णमुक्ताकणः।
> पुरंदर हरिद्दरी कुहागर्भ सुप्रोत्थित-
> स्तुषारकर केसरी गगनकाननं गाहते॥
>
> (पृ० १५६)

पूर्व वर्णन के आधार पर ही तुलसीदास ने लंकायुद्ध के पहले सुमेरु पर्वत पर चन्द्रोदय का वर्णन किया है। देखिए इस वर्णन में पूर्व रूपक को ही अपनाया गया है:—

> पूरब दिसि गिरिगुहा निवासी। परम प्रताप तेजबल रासी।
> मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केहरी गगन बनचारी॥
> बिथुरे नभ तल मुक्ता तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥

पाठक, आपने दोनों वर्णनों को पढ़ लिया है। कहिए, जयदेव के पद्य को तुलसी ने अपनाया या नहीं। ये चौपाइयाँ पद्य के ठीक अनुवाद सी जँचती हैं।

उपसंहार

जितने भाव प्रसन्नराघव तथा रामचरित मानस में अत्यंत सदृश जान पड़ते हैं, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। लेखक का अभिप्राय हिंदी संसार के चंद्रमा के ऊपर ग्रहण लगाने का नहीं (न यह ग्रहण कभी लग सकता है); न उसका यही अभिप्राय है कि तुलसीदास पर 'अर्थापहरण' दोष लगाया जाय, बल्कि यह दिखलाने का है कि कितनी सफाई से प्राचीन भाव अपनाए गए हैं— किस तरह तुलसीदास ने उन प्राचीन भावों में रमणीयता पैदा कर दी है। यह काम किसी साधारण थर्ड रेट कवि का नहीं है, परंतु

किसी प्रतिभाशाली कवि की ही लेखनी का प्रभाव है जो प्राचीन भावों में इतनी जान डाल सकती है। महात्मा तुलसीदास ने तो स्पष्टतः अपने भावों को नाना पुराणों का निचोड़ बतलाया है। इस लेख से लेखक का अभिप्राय तुलसीदास की असीम विद्वत्ता दिखलाना है। कुछ लोग समझते हैं कि ये केवल भाषा के ही कवि थे, अतः केवल हिंदी भाषा का ही ज्ञान इन्हें था। परंतु यह कथन ठीक नहीं। तुलसीदास का संस्कृत साहित्य तथा भाषा का भी ज्ञान बहुत गहरा था। पुराण, गीता, नाटक तथा महाकाव्यों के ये अच्छे ज्ञाता थे। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में रचित सुंदर पद्यों से भी इनका विपुल संस्कृत ज्ञान स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस लेख से भी इसी बात की यथेष्ट पुष्टि होती है। ये महात्मा लोग कविता करने के लिये उद्योग नहीं करते थे, बल्कि इनके स्नेहमय हृदय से आप से आप ही कविता का स्रोत निकल पड़ता था। असीम भगवद्-भक्ति के कारण ही इनकी कविता इतनी तलस्पर्शिनी तथा मनोरंजिनी है। ऐसे ही कवियों के लिये महात्मा भर्तृहरि ने कहा है:—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥



(११)—गोस्वामी तुलसीदास जी और नारि जाति

[लेखक—पंडित रामचन्द्र दूबे]

श्रीयुत मिश्र-बन्धुओं ने अपने "हिन्दी नवरत्न" में इस विषय पर इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—

"गोस्वामी जी ने स्त्रियों की हर जगह पर निन्दा की है। यद्यपि उन्होंने सीता और कौशल्या इत्यादि की स्तुति भी की है, परन्तु वह स्तुति रामचंद्र के सम्बन्ध के कारण की गई है। गोस्वामी जी ने स्त्रियों को सहज जड़, सहज अपावन, अनाधिकारिणी, अज्ञ कहकर नारि-चरित्र को गम्भीर समुद्र कहा है और लिखा है कि स्वतंत्र होकर यह विगड़ जाती हैं।

"इन्होंने स्त्रियों की जॉच की कसौटी बड़ी कड़ी रक्खी थी। इसी से विदित होता है कि ये उनसे असंतुष्ट रहते थे।

" गोस्वामी जी की माता जी इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और अपनी स्त्री से ये अप्रसन्न हो गए थे। इनके वैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इन्हें नहीं मिलती थीं। और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को इधर उधर देखते होंगे, अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव न था। यही कारण है कि उनकी निन्दा की है। परंतु फिर भी ऐसे महात्मा और महाकवि को इतनी प्रचण्ड निन्दा करना अनुचित था।"

श्रीयुत बाबू शिवनन्दन सहाय जी अपनी रचित गोस्वामी जी की बृहत् जीवनी में इस विषय पर इस प्रकार सम्मति देते हैं—

"कवि ने नारी से ऋतुओं की उपमा तो अच्छी की, परंतु रामचंद्र से स्त्रियों को अच्छा सर्टीफ़िकेट नहीं दिलवाया। स्त्री-गुण-गायक कवीश्वर तथा स्त्री-भक्त पुरुषगण इससे कितना संतुष्ट होंगे, सो नहीं कह सकते। गुसाईं जी "प्रमदा" से ऐसे क्यों चिढ़े

थे ? कोई कहते हैं कि गुसाईं जी को मातृ-वियोग शैशवावस्था में हो गया था, स्त्री का संग चिरकाल तक रहा नहीं, गृह-त्यागी हो जाने के कारण इन्हें उच्च श्रेणी की महिलाओं से प्रसंग नहीं हुआ, इसीसे इन्हें स्त्रियों के सद्गुणों की जाँच का सुअवसर नहीं मिला; और इसी से इन्होंने स्त्रियों की स्वयं निन्दा की है, और रामचंद्र से भी कराई है। सच पूछिए तो यह समस्या बड़ी कठिन है। इस संबंध में जैसा जिसका अनुभव है, वह वैसा ही कहेगा।

"रामचंद्र उस समय नारी-विरह से दुःखित थे; अतएव वे उन्हें दुःखदायिनी कह सकते थे। पर गुसाईं जी को तो उनकी स्त्री ही उनके ईश्वर के सन्मुख होने का कारण हुई। उन्हें नारियों से ऐसा नाराज़ होना नहीं चाहता था।"

बाबू साहब के ये शब्द "सच पूछिए तो यह समस्या बड़ी कठिन है। इस संबंध में जिसका जैसा अनुभव है, वह वैसा ही कहेगा" बहुत ही विचारपूर्ण है। एक महाकवि के संबंध में इस प्रकार सहसा कोई मत स्थिर कर लेना उचित नहीं प्रतीत होता।

(१) गोसाईं जी की माता का उनकी शैशवावस्था में ही देहांत हो गया था (२) स्त्री का प्रसंग भी चिरकाल तक नहीं रहा (३) गृहत्यागी होने से उनको उच्च श्रेणी की महिलाओं के प्रसंग का अवसर न मिलने से वह स्त्री-चरित्र की जाँच ठीक ठीक न कर सके और (४) नीच श्रेणी की स्त्रियों को देखकर ही स्त्री-निन्दा पर कमर कस ली, क्या इतना कह देना सच्चे महाकवि की जाँच हो गई ?

जो बातें कवि पर बीती हों, क्या कवि उन्हींका अनुभव कर सकता है ? कवि सृष्टि के सम्पूर्ण व्यापारों का अनुभव करता है। वह लोकदर्शी होता है। एक प्राचीन कवि के विषय में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। किसी राजा की सभा में एक कवि थे। एक दिन रानी के चित्र को देखकर उन्होंने उसकी जाँघ पर एक तिल बना दिया जो वास्तव में था भी। राजा को इस पर संदेह

हुआ और उन्होंने बेचारे को कारागार में डाल दिया। कुछ दिन बाद फिर किसी कठिन समस्या को सुलझाने के हेतु वे बुलाए गए और उन्होंने उसको सहज ही में सुलझा दिया। राजा को आश्चर्य हुआ। पूछा—"महाराज, आपने विना देखे यह वृत्तांत कैसे जान लिया?" कवि-राज ने उत्तर दिया—"जिस प्रकार रानी की जाँघ का तिल।" राजा का समाधान हो गया। यह आख्यायिका, चाहे झूठ हो चाहे सच, पर इससे इतना जरूर सिद्ध होता है कि कवि की दृष्टि बड़ी तीव्र होती है। एक साधारण कहावत भी है "जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि"। गुसाईं जी की दृष्टि कैसी पैनी थी, इसके विषय में स्वयं मिश्रबन्धु एक स्थान पर लिखते हैं—

"जिस प्रकार गोस्वामी जी ने कलिधर्म के विषय में भविष्य-वाणी सी की है, उसी प्रकार भारतेंदु जी ने किया है। इन वर्णनों से इन कविरत्नों की पैनी दृष्टि तथा संसार-चक्र की गति परखने की शक्ति प्रगट होती है"। यदि वास्तव में देखा जाय तो यह शक्ति गुसाईं जी में भारतेंदु जी से कहीं बढ़ीचढ़ी है। जो वर्णन उन्होंने तीन सौ वर्ष पूर्व किया था, आज वह कैसा सच्चा उतर रहा है! तब कैसे कहा जा सकता है कि जिस महाकवि की दृष्टि ऐसी पैनी हो, वह नीच कुलटा स्त्रियों को देखकर स्त्री जाति मात्र को कलंकित करने पर उद्यत हो जाय? ऐसे कवि से कब आशा हो सकती है कि उसकी कविता मानव व्यापारों को प्रत्यक्ष कर सकेगी? उसकी वीणा की झंकार मनुष्य की हृदय-तंत्री की झंकार के साथ कब मिल सकती है? ऐसा कवि कदापि रामचरित-मानस का लेखक नहीं हो सकता।

गुसाईं जी का वास्तविक जीवनचरित्र ऐसे घोर अंधकार में पड़ा है, जिसमें अन्वेषण और गवेषणा की रश्मि कठिनता से पहुँच सकती है। अनुमान की भीत पर यह इमारत खड़ी की जाती है, पर यह दृढ़ नहीं। बालू की भीत के समान यह एक धक्के से गिर सकती है। केवल अनुमान द्वारा संगृहीत चरित्र भानमती का कुनबा है

जो कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा जोड़ने से बनता है। पर इसी के सहारे एक महात्मा ने गोस्वामी जी को "जार-पुत्र" तक कह डाला है! और भी न जाने क्या ऊटपटांग हाँकी है। उन्हें चारण और भाट तक बना दिया है। "शैशवावस्था में ही मातृ-वियोग हो गया था" यह अनुमाम भी इसी बालू की भीत पर खड़ा है। यदि ऐसा ही होता तो गुसाईं जी यह कैसे लिखते कि—

"तुलसिदास हित हिय हुलसी सी"

क्या शिशु को मातृ-प्रेम की इतनी स्मृति रह सकती है?

गृह-त्यागी होने से उनको उच्च श्रेणी की महिलाओं का प्रसंग नहीं मिला। आज धार्मिक भाव उस समय की अपेक्षा बहुत कम हैं, जिस समय गुसाईं जी थे। फिर भी साधु महात्माओं के लिये आज भी राज-प्रासादों के अंतःपुर के द्वार खुले रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के किसी नगर या ग्राम में प्रवेश करने पर दर्शकों और भक्त जनों की भीड़ लग जाती है जिसमें विशेषतः हमारी कुलांगनाएँ ही होती हैं। बड़े बड़े लक्ष्मी-संपन्न प्रतिष्ठित घरों की महिलाएँ भी आने में संकोच नहीं करतीं। तीन सौ वर्ष पूर्व यह भक्ति-भाव आज से कहीं अधिक था। साधु वेषधारी महात्माओं में कपटी और दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति आज की अपेक्षा उस समय कम थे। उस समय के आस पास ही अनेक सच्चे संतों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्होंने किसी न किसी रूप में भक्ति-मार्ग को ही पुष्ट कर उसकी पतितपावनी धारा से देश को एक छोर से दूसरे छोर तक प्लावित कर दिया था। मीराबाई ने उसी समय को पवित्र किया। श्री सूरदास जी ने उसी काल में अपने भक्ति रस के पदों से जनता को मुग्ध किया। अतएव यह समझ में नहीं आता कि हमारी उच्च कुल की ललनाएँ गुसाईं जी सरीखे महात्मा के दर्शन से वंचित रहीं और उनका उपदेशामृत पान न कर सकीं, और गोस्वामी जी महाराज को श्रेष्ठ महिलाओं के सद्गुणों के जाँचने का अवसर न मिला। अगर यही

माना जाय कि कवि अपने व्यक्तिगत अनुभव से ही चित्रण में सफल हो सका है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि जिस कवि ने सीता, कौशल्या, सुमित्रा आदि का मनोहर एवं आदर्श चरित्र-चित्रण किया है, उसका ऐसी स्त्रियों का अनुभव बहुत बढ़ा चढ़ा था। उसको यदि केवल नीच कुल की स्त्रियों से ही मिलने जुलने का अवसर मिला होता तो वह केवल मंथरा और शूर्पणखा के ही मलिन चित्र खींच सकता था, न कि सीता, कौशल्या आदि श्रेष्ठ रमणी-रत्नों के। पर रामचरित मानस में हमको दोनों कोटि की स्त्रियों के दर्शन होते हैं। अतएव यह मानना पड़ता है कि महाकवि ने दोनों प्रकार की स्त्रियों को देखा था, और स्त्री जाति की उन्होंने जो निन्दा की है, वह रागद्वेष से नहीं, किसी अनभिज्ञता से नहीं, किसी अनुभव की कमी से नहीं, वरन् किसी विशेष इष्ट-सिद्धि के लिये। जब तक हम ऐसा न मानें, हम इस निन्दा का उन पवित्र निर्मल चरित्रों के साथ समाधान नहीं कर सकते।

मुख्य विषय पर आने से पूर्व यह भी देख लेना चाहिए कि क्या पाश्चात्य कवि-पुंगवों ने नारी चरित्र को कभी मलिन नहीं बताया। शेक्सपियर की कारनेलिया, मैकेबेथ, आदि साक्षात् राक्षसी या दानवी हैं जिनकी तुलना में मंथरा और शूर्पणखा भी देवी कही जा सकती हैं। क्या संसार के एक इतने बड़े कवि ने, जो मानव चरित्र के चित्रण में सबसे निपुण गिने जाते हैं, स्त्री जाति की कभी निन्दा नहीं की? यदि की, तो वे भी नारिविद्रोही क्यों न कहे जायँ? बेचारे गोस्वामी जी ने ही क्या अपराध किया है कि उन पर दोषारोप किया जाय? एक स्थान पर महाकवि शेक्सपियर फरमाते हैं—

Frailty! Thy name is woman.

अर्थात्—विश्वासघात! तेरा ही नाम स्त्री है।

हा, कैसी घोर निन्दा है! स्त्री जाति ही एक दम असती, चंचला

बताई गई है। और गुसाईं जी ने दस शब्दों में और दस स्थानों पर अलग अलग जो कुछ कहा है, वह इस महाकवि ने एक ही वाक्य में कह डाला है।

गोल्डस्मिथ भी अँग्रेज़ी के एक प्रसिद्ध कवि और लेखक हैं। आप भी एक स्थान पर लिखते हैं—

A woman's reason! It is so, because I think it to be so.

कहिए, स्त्रियों की बुद्धिमत्ता की कैसी प्रशंसा है?

यूनान के प्रसिद्ध नाटककार सोफ़ोक्लीज़ एक स्थान पर अपने नायक के द्वारा कहलाते हैं—

Woman! Thy sex's noblest ornament is silence.

स्त्री! चुप रहना ही तेरी जाति का सर्वोत्तम भूषण है।

कैसी आज्ञा है!

स्त्रियों के विषयों में अँग्रेजी साहित्य की कुछ उक्तियाँ और भी सुन लीजिए।

A woman's mind and winter wind change oft.

स्त्री का हृदय और शीत काल की वायु स्थिर नहीं रहती।

A woman's strength lies in her tongue.

स्त्री की शक्ति उसकी वाचालता में ही है।

The proof of woman is gold, of man a woman.

कामिनी की कसौटी कनक है और पुरुष की कामिनी।

स्त्री जाति के यह सर्टिफ़िकेट कैसे हैं? अधिक अवतरणों की आवश्यकता नहीं।

यह भी आक्षेप किया गया है कि गोस्वामी जी ने सीता, कौशल्या आदि की जो स्तुति की है, वह रामचंद्र जी के नाते। यह सत्य है, पर यह भी सत्य है कि उन्होंने पुरुषों की स्तुति भी इसी नाते से की है।

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। मानिअ सबहि राम के नाते ॥
पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भगति जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ बरु बादि बयानी। राम विमुख सुत ते हित-हानी ॥

इतना ही नहीं, शरीर भी वही अच्छा है जिससे राम-भजन हो।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जेहि तनु पाइ भजहि रघुबीरा ॥

महाराज दशरथ, जनक, भरत, लक्ष्मण आदि की वंदना क्यों की है ? इसी नाते से।

बन्दौं अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद।
बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥

प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम-पद गूढ़ सनेहू ॥
जोग भोग में राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥
प्रणवौं प्रथम भरत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न बरना ॥
राम-चरन पंकज मन जासू। लुब्ध मधुप इव तजै न पासू ॥
बन्दौं लछिमन पद जल-जाता। सीतल सुभग भगत सुख-दाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका ॥
... ...

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी ॥

मित्र का मित्र भी मित्र होता है। अपने इष्ट देव के भक्त का भक्त भी अपने ही इष्ट देव का भक्त है।

क्या इस वन्दना से भी यही अर्थ निकाला जाय कि गोसाईं जी की दृष्टि में पुरुष भी वास्तव में निन्दनीय है ? पुरुष-चरित्र भी वैसा ही दोषपूर्ण है जैसा कि स्त्री-चरित्र ?

इस सब का आशय इतना ही है कि गुसाईं जी राममय हैं। उनकी दृष्टि में वही पवित्र, निर्मल और विशेष आदरणीय है जो राम जी का भक्त है। अस्तु।

गुसाईं जी के ग्रंथ दो दृष्टियों से देखे जा सकते हैं। एक महाकवि की कृति की और दूसरी विरक्त साधु की कृति की दृष्टि से।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि कवि-दृष्टि से गुसाईं जी ने नारी-चरित्र का चित्रण किस खूबी से किया है। उनकी दृष्टि में स्त्री का कितना उच्च स्थान है।

कवि ने रामायण की रचना करके ही यह दरसा दिया है कि उसकी दृष्टि में स्त्री का पद कितना ऊँचा है। एक स्त्री के अपमान के बदले में हज़ारों योद्धा अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। उसी के प्रतिकार में सीता-हरण होता है। फिर उनकी रक्षा, उनकी मान-मर्यादा को पददलित करने के प्रयत्न को विफल करने के लिये लंका में रक्त की नदी बहती है।

सुनसान स्थान है। एक अकेली अबला पर्ण कुटी में बैठी है। रावण सा प्रतापी सम्राट् उसके रूप-लावण्य की कथा पर मुग्ध हो उसको उड़ाने तथा अपनी भगिनी के अपमान का बदला लेने आता है। पर उसे इतना साहस नहीं होता कि सम्मुख जाकर प्रेम-भिक्षा की याचना करे। अतः यती का वेष कर के जाता है।

करि अनेक बिधि छल चतुराई। माँगेउ भीख दसानन जाई॥

पर जब इस प्रकार सफल-मनोरथ नहीं होता, तब अपना असली रूप दिखाता है। पर उत्तर क्या मिलता है?

जिमि हरि-बधुहुँ छुद्र सस चाहा। भयेसि कालवस निसिचर नाहा॥
बायस करि चह खगपति-समता। सिन्धु समान होहिं किमि सरिता॥
खरि कि होइ सुरधेनु समाना। जाहु भवन निज सुनु अज्ञाना॥

इसका प्रभाव कामान्ध पर क्या पड़ता है?

सुनत बचन दससीस लजाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥

पर प्रतिकार-मिश्रित काम की ज्वाला हृदय में दहक रही है जिसमें पड़कर यह विचार भस्म हो जाता है और वह श्री सीता जी को बलात् ले जाता है। वे कातर ध्वनि से विलाप करती जाती हैं। यह क्रन्दन का शब्द जटायु के कर्ण-कुहर में पड़ता है। बेचारा जरा से अशक्त हो रहा है।

तो भी—

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुल-तिलक नारि पहिचानी॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥
अहह प्रथम बल मम तनु नाहीं। तदपि जाय देखौं बल ताहीं॥
सीते पुत्रि करेसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधान के नासा॥

एक अबला हरी जा रही है। एक अशक्त वृद्ध पक्षी या नवीन दृष्टि के मतानुसार कोई वृद्ध अनार्य सरदार यह दृश्य देखता है। वह कातर हो उठता है। वह इस अनाचार को सहन नहीं कर सकता और अबला के बचाने में अपने प्राणों की आहुति दे देता है। क्या पाश्चात्य शिवेलरी (Chivalry) में इसकी समानता मिलती है? वहाँ तो किसी रमणी की सहायता के उपलक्ष में यह मानी हुई बात है कि आगे चलकर प्रेम की भिक्षा माँगी जायगी। भारत के तुच्छ जीव भी अबला के रक्षार्थ अपने प्राणों की परवा नहीं करते। "पुत्रि" शब्द में भी कैसा माधुर्य्य, कैसा वात्सल्य-स्नेह झलक रहा है। कहिए, यह स्त्री का स्थान उच्च दिखाने का प्रयत्न किया है या उसको गिराने का?

इसी संबंध में एक और भी दृश्य देख लीजिए। मारीच मरते समय श्री लक्ष्मण जी का नाम उच्च स्वर से पुकारता है। यह आर्त-नाद श्री सीता जी के कर्णगोचर होता है। पतिपरायणा किसी अशुभ की शंका से विह्वल हो जाती है और—

... . । कह लछिमन सन परम सभीता॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥
भृकुटिबिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परै कि सोई॥
सौंपि गए मोहिं रघुपति थाती। जौ तजि जाउँ तोषु नहिं छाती॥
यह जिय जानि सुनहु मम माता। पूछत कहहु कवन मैं बाता॥

आहा, कैसा आदर-मान है! माता शब्द में कैसा उच्च भाव है! क्या पाश्चात्य लेखक इस भाव को प्रदर्शित करने में समर्थ हुए हैं। अस्तु!

सीतादेवी उस समय ऐसी कातर हो गईं कि उनको यह उपदेश बुरा लगा।

मरम बचन सीता तब बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला॥

उन मर्म वचनों की ओर केवल संकेत कर साफ़ साफ़ न लिखना भी कवि के उच्च आदर्श को ही दरसाता है। कवि उन शब्दों को लेखनी द्वारा अंकित न करके दिखलाता है कि सती का आदर्श उसकी दृष्टि में कितना ऊँचा है। उस आदर्श के साथ ये शब्द शोभा नहीं पाते। वीर लक्ष्मण के समान तुनक-मिज़ाज, जो किसी की बात सहन नहीं कर सकते थे, देवी के शब्दों को सुनकर दम-बखुद हो जाते हैं। उत्तर तक नहीं देते। वह Ajax की तरह यह नहीं कह उठते कि—

"स्त्री! तेरा चुप रहना ही सबसे अच्छा भूषण है"। बल्कि—

चहुँ दिसि रेख खँचाइ अहीसा। बारहि-बार नाइ पद सीसा॥
बन-दिसि-देव सौंपि सब काहू। चले जहाँ रावन-ससि-राहू॥
चितवहिं लषन सीय फिरि कैसे। तजत बच्छ निज मातुहिं जैसे॥

ऐसे कठोर वचन सुनकर भी वही आदर, वही भक्ति, वही स्नेह झलकता रहा है।

भाई की आज्ञा का उल्लंघन होता है। यह भी मालूम है कि सीता जी को सुनसान आश्रम में छोड़ना उचित नहीं। पर देवी की ही आज्ञा का पालन किया जाता है; और जब इस आज्ञा-उल्लंघन का इस प्रकार जवाब तलब होता है—

जनकसुता परिहरेउ अकेली। आयेहु तात वचन मम पेली॥

तब लक्ष्मण भाभी की चुगली नहीं खाते। केवल इतना ही कह देते हैं

.............................। कहेउ नाथ कछु मोरि न खोरी॥

अब ज़रा जनकपुर की पुष्प वाटिका में श्रीराम-सीता का प्रथम सम्मिलन देखिए। स्थानाभाव से हम विशेष नहीं कहेंगे। जिनको इस दृश्य का पूरा सौन्दर्य देखना हो, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे

"प्रभा" के वर्ष २ खंड १ संख्या १, ३, ५, आदि में "हिन्दीभाषा और तुलसीकृत रामायण" शीर्षक लेखमाला * पढ़ें और देखें कि कवि ने स्त्री के पद का कैसा उच्चादर्श दिखाया है! इसकी टक्कर का आदर्श पाश्चात्य साहित्य में मिलना कठिन और संस्कृत में भी दुर्लभ है। Fernanda और Miranda तथा दुष्यन्त और शकुंतला के मिलन का पलड़ा इसकी तुलना में आकाश से जा लगता है।

जनकनंदिनी श्री मिथिलेश कुमारी से चार आँखें होती हैं।

देखि सीयसोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई।
सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीप-शिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥

सिय सोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय-अनुहारि॥

तात जनक तनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लै आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पग धरैं न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥
जिन्हके लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मनु दीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥

स्त्री जाति के लिये कैसा उच्च भाव है! सीता जी को देखकर कैसे पवित्र भाव हृदय में उठते हैं। तभी तो छोटे भाई से साफ़ कह देते हैं; और फिर—

हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥

* यह लेख-माला आगे चलकर इसी निबन्धावली में उद्धृत की गई है।

स्त्री मात्र को जननी रूप से देखना भारतीय हृदय का भाव है। गुसाईं जी ने भी कहा है—

जननी सम जानहिं परनारी।

श्री रामचंद्र जी के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है। कुछ घंटों में वह युवराज पद पर अभिषिक्त होने को हैं। इतने में बुलावा आता है। वे पिता की सेवा में जाकर जो दृश्य देखते हैं, उससे अवाक् रह जाते हैं। कैकेयी वनवास की आज्ञा सुनाती है। रघुनाथ जी इस पर कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी॥
तनय मातु–पितु–पोषण–हारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलत बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि मँह पितु–आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर॥

जब पिता की आज्ञा के साथ माता की भी राय मिल गई, तब फिर क्यों न जाऊँ। अर्थात् माता की आज्ञा विशेष शिरोधार्य है। यही भाव माता कौशल्या के द्वारा और भी साफ़ साफ़ दरसाया गया है।

जौं केवल पितु–आयसु ताता। तौ निज जाउ जानि बड़ि माता॥
जौं पितुमातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत-अवध-समाना॥

इसमें स्त्री जाति का पतन दिखाया गया है या उनको उच्च से उच्च आसन प्रदान किया गया है?

इस आपत्ति-काल में सबकी मति विह्वल हो रही है।

सोक बिकल मूर्छित नरनाहू। काह करिअ कछु सूझ न काहू॥

सब सखी-सहेलियाँ रानी कैकेयी को समझाती हैं कि हठ छोड़ो और दूसरा बर माँगो, पर सब व्यर्थ। इस अवसर पर भी एक स्त्री-रत्न ही समस्या को हल करती है। श्री रामजी माता कौशल्या के पास बिदा होने जाते हैं। सब वृत्तांत सुनकर—

राखि न सकै न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥

लिखत सुधाकर लिखिगा राहू । विधिगति वाम सदा सब काहू ॥
धरम सनेह उभय मति घेरी । भै गति साँप छुछुंदरि केरी ॥
राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू । धरम जाइ अरु बंधु-विरोधू ॥
कहौं जान वन तौ बड हानी । संकट सोचविवस भै रानी ॥
बहुरि समुझि तियधरम सयानी । रामु भरतु दोउ सुत सम जानी ॥
सरल सुभाउ राम-महतारी । बोली वचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ वलि कीन्हेहु नीका । पितु-आयसु सव धरम क टीका ॥

राजु देन कहि दीन्ह वनु, मोहिं न सो दुख लेसु ।
तुम्ह विनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचण्ड कलेसु ॥

जौं पितु मातु कहेउ वन जाना । तौ कानन सत-अवध-समाना ॥

कैसे उदार भाव है ! कैसी दूरदर्शिता है ! कैसी राजनीतिज्ञता है ! गृह-क्लेश को उग्र रूप धारण करते करते बचा लिया । धन्य है माता कौशल्या आपको ! क्या भारत में अब फिर ऐसी उदार माताएँ पैदा होंगी ?

श्री सीता जी को वन जाने से रोकने का प्रयत्न करना भी नारी जाति के उच्च पद को बता रहा है । अपनी हृदयेश्वरी के मनोभावों को देखकर कि वह साथ चलने पर तुली हुई है, पतिदेव कहते हैं—

कहौं सुभाय सपथ सत मोही । सुमुखि मातुहित राखौं तोही ॥

ये शब्द सीता को दासी नहीं बता रहे हैं, राम के, हृदय की सम्राज्ञी बता रहे हैं । वक्ता यह अंकित करना चाहता है और वह भी डरते डरते, कि मैं तुम्हारी रुचि को पद-दलित करना नहीं चाहता, तुम्हारी बात को टालना नहीं चाहता । पर माता की ख़ातिर ! अहा कैसे मधुर और मातृ-प्रेम-पूर्ण शब्द हैं !! तुम से अनुरोध करता हूँ । फिर भी चिन्ता की कोई बात नहीं ।

मैं पुनि करि प्रमान पितु-बानी । बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा । सुंदरि सिखवनु सुनहु हमारा ॥

पर जब सीतादेवी के भावों में कुछ परिवर्तन नहीं होता, तब बनों के कष्टों का वर्णन करते हुए रघुनाथ जी कहते हैं—

हंसगवनि तुम्ह नहि बनजोगू। सुनि अपजसु मोहिं देइहि लोगू॥
मानस-सलिल-सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन-पयोधि मराली॥
नव-रसाल-बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चन्दवदनि दुखु कानन भारी॥

ये शब्द उससे कहे जाने योग्य हैं जो कवि की दृष्टि में ताड़ना की अधिकारिणी है और सब पापों की मूल है, या उससे जो हमारे प्रेम की पात्री और हमारे आदर की भाजन है? पति देव को उत्तर देते हुए अन्त में देवी कहती है—

मैं सुकुमारि, नाथ बनजोगू। तुम्हहिं उचित तप, मो कहँ भोगू॥

इन शब्दों से क्या ध्वनि निकलती है? कैसी चुटकी है? पति पत्नी को उच्चतर स्थान देते हैं, पर वह उसको ठुकरा देती है। वह सच्ची अर्धांगिनी ही रहना चाहती है।

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

जैसे बिना जल के नदी सार्थक नहीं, वैसे ही बिना पुरुष के स्त्री की दशा है।

यह अर्द्धांग रूप ही दोनों की सच्ची समता बताता है। इसी से विनयपत्रिका में गुसाईं जी पार्वती की स्तुति इस प्रकार करते हैं—

दुसह-दोष-दुःख-दलनि करु देवि! दाया।
विश्वमूलासि जन सानुकूलासि शर शूलधारिणि महामूल माया॥
तड़ितगर्भांग सर्वांग सुंदर लसत दिव्य पट भव्य भूषन विराजे।
बाल मृग मंजु खंजन-विलोचनि चन्द्रवदनि लखि कोटि रतिमार लाजे॥
रूप सुख-शील सीमासि भीमासि रामासि वामासि वर बुद्धि बानी।
छ मुख हेरम्ब अंबासि जगदंबिके शंभुजायासि जै जै भवानी॥
चण्ड भुज दण्ड खण्डनि बिहण्डनि महिष मुण्ड मद भङ्ग करि अङ्ग तोरे।
शुम्भ निःशुम्भ कुम्भीश रण केसरिनि क्रोध बारिधि बैरिवृंद बोरे॥

निगम आमग अगम गुर्वि तव गुण कथन उर्विधर करे सहस जीहा।
देहि मा! मोहि प्रण प्रेम यह नेम निज राम घनश्याम तुलसी पपीहा॥

कैसी विशुद्ध स्तुति है! और वह किसी शाक्त की लेखनी से प्रवाहित न होकर एक अनन्य वैष्णव की लेखनी का धाराप्रवाह है। जिनके पराक्रम के सामने देवी देवता थर थर काँपते थे, जिनके आतंक से इन्द्रादि लोकपाल सिर ऊँचा नहीं कर सकते थे, जिनका वैभव और ऐश्वर्य संसार को चकित करता था, उनके गर्व को भी खर्व करनेवाली स्त्री हैं। यदि गृहिणी रुप से उनकी मनोहर छवि के सामने रति भी पानी भरती है, तो स्वजातीय प्रेम, देशानुराग से उन्मत्त हो देश-द्रोही शत्रु के विनाशार्थ वही भवानी और काली बनकर सिंहिनी के समान अपनी संतान, अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करती है।

महारानी कैकेयी भी रणांगन में पति की सहचरी हुई थीं और उन्होंने उनकी प्राण-रक्षा की थी।

महारानी कौशल्या जी का आत्म-त्याग देख लिया! कैसा उच्च और विशुद्ध है! अब सुमित्रा जी का भी आत्म-त्याग देखिए।

सौत के पुत्र को देश-निर्वासन का दण्ड मिलता है। स्वपुत्र भी उसीके साथ निर्वासित होना चाहता है। बेचारी बड़ी असमंजस में पड़ती है। आजकल के बाल की खाल निकालनेवाले समालोचक इस देवी को यदि चाहें तो पक्की स्वार्थी, कूट-नीतिज्ञ बता सकते हैं। दो में से एक के राज्य के उत्तराधिकारी होने की संभावना है। चतुर सुमित्रा दोनों के साथ एक एक पुत्र बाँट देती है "दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।" कोई भी राज्य का स्वामी हो, उनका तो स्वार्थ सिद्ध ही है। पर हमारे कवि बेचारे पुराने ढर्रे के मनुष्य हैं। उनकी दृष्टि पैनी है, पर इतनी पैनी नहीं। वह देवी में एक अनुपम धर्म-सौंदर्य का अवलोकन करते हैं।

वन-गमन के समाचार सुनकर देवी की क्या दशा होती है?

समुझि सुमित्रा राम सिय-रूप सुसीलु सुभाउ ।
नृपसनेह लखि धुनेउ सिरु, पापिन दीन्ह कुदाव ॥

लक्ष्मण जी आज्ञा माँगते सकुचाते हैं ।

............................जान संग विधि कहहि कि नाहीं ।

पर महारानी सुमित्रा का हृदय इस अन्याय को नहीं देख सकता ।

धीरज धरेउ कुअवसर जानी । सहज सुहृद बोली मृदु बानी ।
तात तुम्हारि मातु वैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ।
अवध तहाँ जहँ राम-निवासू । तहइँ दिवसु जहँ भानु-प्रकासू ।
जौं पै सीय राम बन जाही । अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ।

इतना ही नहीं—

तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं । दूसर हेतु तात कछु नाहीं ।

और भी—

भूरि भाग भाजन भयेहु, मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौ तुम्हरे मन छाँड़ि छलु, कीन्ह रामपद ठाउँ ॥

कैसी उदारता है ! कैसे विशुद्ध भाव हैं !

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू ।
सकल प्रकार विकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ।
जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू ।

जिस स्त्री के मुख से ये शब्द निकलें, जो ऐसी उदारता दिखा सकती हो, कवि की लेखनी से निकले हुए ये शब्द—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी । ये सब ताड़न के अधिकारी ।

क्या उसके लिये हो सकते हैं ?

आजकल पाश्चात्य सभ्यता चाहती है कि झूठा सत्कार दिखाने के लिये श्रीमती गाड़ी या मोटर आदि में पहले सवार कराई जायँ और पीछे से श्रीमान् विराजें । इसीमें स्त्री जाति के प्रति मान प्रदर्शित होता है । इसके प्रतिकूल आचरण असभ्यतासूचक है । यदि ऐसा ही माना जाय तो गुसाईं जी इसमें भी नहीं चूके ।

राम सखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाय चढ़े रघुराई॥
लषन धरे धनु बान धनाई। आप चढ़े प्रभु आयसु पाई॥

श्री रामचंद्र जी, श्री सीता जी और लक्ष्मण जी सहित चित्रकूट में विराजते हैं। भरत जी ज्येष्ठ भ्राता को मनाने जाते हैं। सब लश्कर को कुछ दूर छोड़ भरत और शत्रुघ्न आश्रम में पहुँचते हैं। दोनों भाइयों का मिलना तो अपूर्व है ही, उसके विषय में कहने की आवश्यकता नहीं। भाइयों से मिलकर—

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर करकमल परसि बैठाए॥
सीय असीस दीन्हि मन माहीं। मगन-सनेह देह-सुधि नाहीं॥
सब विधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥

भाई के इतने प्रेम के साथ मिलने पर भी कुछ शंका बनी रही; पर सीता जी को संतुष्ट देखकर वह शांत हो जाती है। कवि ने व्यंजित किया है कि स्त्री का पुरुष की गतिमति में कितना भाग रहता है।

भरत जी अपनी सफ़ाई में महापातकों का वर्णन करते हैं। यदि माता के इस षड्यंत्र में मेरी ज़रा भी सम्मति हो तो मैं ऐसा ही पापी समझा जाऊँ जैसे ये महापातकी होते हैं। इन महापातकियों में एक यह भी है—

जो अघ तिय बालक बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे॥

अर्थात् स्त्रीहत्या राजहत्या के समान भयंकर दुष्कर्म है। क्या आजकल की सभ्यता के दंड-शास्त्र पीनल कोड में स्त्रीहत्या और पुरुषहत्या में कोई अंतर बताया गया है?

एक नारि-व्रत रत नर झारी। ते मन वचक्रम पति हितकारी॥

यहाँ भी वही समता टपकती है। स्त्री को पति की आज्ञाकारिणी और पतिपरायणा बनाने के लिये पति को भी वैसा ही बनना ज़रूरी है। गोसाईं जी ने एक-पत्नीव्रत का सदुपदेश भी अपने

मुख्य नायक के चरित्र द्वारा बड़े ही ज़ोर से दिया है और बहु-विवाह की हानियों का सुंदर चित्र खींच दिया है।

महारानी मंदोदरी का चित्र भी उसी उच्चादर्श की ओर संकेत करता है। रावण को जो कोई समझाने का प्रयत्न करता है, भाई, पुत्र, वृद्ध मंत्री सभी को कटु वचन सुनने पड़ते हैं, ठोकरें खानी पड़ती हैं; पर जब मय-तनुजा वही बात कहती है तब वह सिर्फ हँसकर टाल दी जाती है। एक बार भी कटु-शब्द का प्रयोग नहीं होता। यद्यपि महारानी कठोर से कठोर शब्दों का प्रयोग कर डालती है, पर पतिदेव चुपचाप सहन कर लेते हैं।

लंका-दहन के पश्चात् लंकेश्वरी पति को समझाते हुए कहती है—

तासु नारि निज सचिव बुलाई। पठवहु कन्त जो चहत भलाई॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥

इतना ही नहीं, कुछ और भी—

राम-बान अहिगन सरिस, निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तबहिं लगि, जतन करहु तजि टेक॥

इतना कह डालने पर भी लंकेश्वर केवल—

................................। बिहँसा जगत-बिदित अभिमानी॥

और दो चार चिकनी चुपड़ी बातें कह डालीं और फिर—

अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥

श्रीरामचंद्र जी समुद्र पार कर लंका द्वीप में पहुँच जाते हैं।

मंदोदरी सुनेउ प्रभु आयो। कौतुकही पाथोधि बँधायो॥

भावी का चित्र उसकी आँखों के सामने खिंच जाता है। वह फिर समझाने का प्रयत्न करती है—

कर गहि पतिहि भवनु निज आनी। बोली परम मनोहर बानी॥
चरन नाइ सिरु अंचलु रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा॥
नाथ बैर कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों॥
तुम्हहिं रघुपतिहिं अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥

कैसी फटकार है। जिसकी सभा में—

कर जोरहिं सुर दिसप विनीता। भृकुटि विलोकहिं सकल सभीता॥

उसीको खल खद्योत तक कह डाला, और जिस शत्रु को वह तपसी ही कहता रहा और जिसके साहस को—

भूमि पराकर गहत अकासा। लघु तापस कर वाग विलासा॥

समझता रहा, उसी को महारानी दिनकर बताती है और वह चुपचाप इस उपदेशामृत को सानन्द सुन रहा है। यहाँ तक कह डाला जाता है—

रामहिं सौंपहु जानकी, नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज्य समर्पि वन, जाइ भजिअ रघुनाथ॥

यह तो "मनहु घाव महँ माहुर देहीं" वाली बात है। रावण को Abdication राज्याधिकार छोड़ने तक के लिये कहा जाता है। यह लम्बा चौड़ा व्याख्यान-कटु वचनों से भूषित-महाराज सुन रहे हैं और जब समाप्त हो जाता है—

तब रावन मय-सुता उठाई। कहै लाज खल निज प्रभुताई॥
सुनु तैं प्रिया वृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥

इतनी कड़ी कड़ी बातें सुनने पर भी महारानी वही " प्रिया " है। इसको स्त्री का आदर कहा जाय या अनादर, पाठक स्वयं विचार लें।

तीसरी बार मंदोदरी फिर एक लम्बा चौड़ा उपदेश दे डालती है और उसमें शत्रु का और भी विकट बखान करती है। यह उस समय का वर्णन है जब लंका-शिखर पर महफ़िल जम रही है, नाच-रंग हो रहा है और रघुनाथ जी ने—

छत्र मुकुट ताटंक सब, हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे, मरम न कोऊ जान॥

पर इस बार लंकापति—

बिहँसा नारि वचन सुनि काना। अहो मोहमहिमा बलवाना॥

जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि मिसु कहहि मोरि प्रभुताई॥
तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥

महारानी की लम्बी चौड़ी बातों को बिल्कुल मज़ाक में उड़ा दिया जाता है। इसी उत्तर में लंकाधिपति कुछ स्त्री-चरित्र के विषय में भी कह डालते हैं—

नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥

गुसाईं जी के द्वारा स्त्रियों की जो निन्दा की गई है, उसकी पुष्टि में यह भी एक प्रमाण पेश किया जाता है। यह किसी संस्कृत श्लोक का अनुवाद है।

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषा स्वभावजाः॥

पर इस निन्दा के असली कर्ता का नाम तक नहीं लिया जाता, और बेचारे गुसाईंजी के माथे सारा दोष मढ़ा जाता है। सच पूछिए तो कवि ने इसको ऐसे स्थान में जड़ दिया है, जिससे इसकी भयंकरता लुप्तप्रायः हो गई है और इसमें केवल परिहास की छटा रह गई है। अँग्रेजी कवि स्काट ने भी कहा है—

Woman ! In our hours of ease,
Uncertain coy, and hard to please,
And variable as the shade,
By the light quivering ashen made,
When pain and anguish wring the brow,
A ministering angle thou !

एक बार फिर मन्दोदरी समरानल को भभकने से रोकने का प्रयत्न करती है और इस बार ऐसी जली कटी सुनाती है कि हद हो गई। श्री बालिकुमार अंगद जी अपना दूत-कार्य्य कर बिदा होते

हैं। लंकेश्वर अंतःपुर में पधारते हैं और वहाँ उनका इन मधुर शब्दों से स्वागत होता है—

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही ॥
रामानुज लघुरेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेहु असि मनुसाई ॥
पिय तुम्ह तेहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर अस कामा ॥
कौतुक सिंधु नाँघि तव लंका। आयेउ कपि केसरी असंका ॥
रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहि मारा ॥
जारि नगर सब कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा ॥
अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु ॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अज जगनाथ अतुलबल जानहु ॥
बान प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहु नीचा ॥
जनकसभा अगनित महिपाला। रहे तुम्हउ बल बिपुल बिसाला ॥
भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही ॥
सूपनखा की गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी ॥

....

सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि-बरूथ महँ मृगपति जथा ॥

. .. .

अहह कंत कृत रामबिरोधा। काल-बिबस मन उपज न बोधा ॥
कालु दंड गहि काहु न मारा। हरै धरमु बल बुद्धि बिचारा ॥

दुइ सुत मारेउ दहेउ पुर, अजहुँ पूर पिअ देहु।
कृपासिंधु रघुपतिहि भजि, नाथ बिमल जस लेहु ॥

कैसे कड़े शब्द हैं! पर लंकाधिपति इनको चुपचाप सुन लेते हैं, करारी करारी बात होने से कुछ उत्तर नहीं बन आता। उसको ये शब्द कड़वे ज़रूर लगते हैं, लेकिन फिर भी उस नीति का अवलम्बन नहीं करता जिसमें गुसाईं जी ने कहा है—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

न "Ajax" के समान यही आज्ञा दी जाती है, "Silence" "बस चुप"। इसके विपरीत लंकेश्वर—

नारि वचन सुनि विसिख समाना। सभा गयेउ उठि होत बिहाना॥

कैसा जन्त है। यहाँ पर भी स्त्री जाति के प्रति उच्च आदर का ही भाव झलकता है।

गुसाइँ जी ने कन्या का जन्म भी शुभ समझा है और उसको उस दृष्टि से नहीं देखा, जिस दृष्टि से आज कल देखा जाता है।

पार्वती का जन्म हिमाचल के घर होता है—

जब ते उमा सैल-गृह आई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई॥
जहँ तहँ मुनिन सुआस्रम कीन्हें। उचित बास हिम भूधर दीन्हें॥
सदा सुमन फल सहित सब, द्रुम बन नाना जाति।
प्रगटीं सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति॥
सरिता सब पुनीत जल बहईं। खग मृग मधुप सुखी सब रहईं॥
सहज वैर सब जीवन त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥
सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जन रामभक्ति के पाये॥

एक दिन नारद जी हिमाचल के घर आते हैं। जैसे आजकल ऐसे महात्मा के पधारने पर कोई पिता पुत्र को ले जाकर दर्शन करना है, हिमाचल के हृदय में भी पुत्री के लिये वही भाव है।

....सुता बोलि मेली मुनि चरना॥

और जैसा पुत्र के शुभाशुभ भाग्य जानने को माता पिता आतुर होते हैं, वही भाव उमा के माता पिता के हैं।

त्रिकालग्य सर्वग्य तुम, गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष गुन, मुनिवर हृदय विचारि॥'

और जब ऋषिराज उमा के शुभाशुभ का वर्णन करते हैं—

सैल सुलच्छनि सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी।

और वह अवगुण इतना ही है कि पति अच्छा न मिलेगा। पर इसको सुनकर माता-पिता की क्या दशा होती है—

पतिहिं इकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे मुनि-बैना ॥
जौं घरु बरु कुल होइ अनूपा। करिय बिबाहु सुता अनुरूपा ॥
नत कन्या बरु रहै कुँआरी। कंत उमा मम प्रान-पिआरी ॥
सोइ बिचारि पति करहु बिबाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू ॥

पुत्र के लिये भी और अधिक वात्सल्य भाव क्या हो सकते हैं ! यह बात चीत हो ही रही है कि पुत्री के पास माता जाती है ।

सुनि पतिबचन हरषि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं ॥

उसको देखकर मातृ-प्रेम कैसा उमड़ पड़ता है—

उमहिं बिलोकि नयन भरि बारी। सहित सनेह गोद बैठारी ॥
बारहिं बार लेति उर लाई। गद्गद कंठ न कछु कहि जाई ॥

यदि गिरिजा पुत्र होती तो भी इससे अधिक प्रेम की भाजन न होती।

जब बरात आती है और शंकर की रुद्र-मूर्ति के दर्शन होते हैं, तब माता की क्या दशा होती है—

मैना हृदय भयेउ दुख भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी ॥
अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरि बारी ॥
जेहि बिधि तुमहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड बर बाउर कस कीन्हा ॥

और जब कहती है कि—

तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं ।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिबाह न हौं करौं ॥

तो इससे बढ़कर और कौन शब्द माता का गाढ़ प्रेम दिखा सकते हैं ।

यह कहा जा सकता है कि यह माता के प्रेम की बानगी है । माता तो पुत्र और पुत्री दोनों को गर्भ में धारण करती है और दोनों के लिये समान कष्ट और वेदना सहन करती है, अतएव उसके लिये दोनों ही समान प्रेम के पात्र हैं । पर पिता को पुत्री से ऐसा प्रेम नहीं होता। अच्छा पुत्री के लिये पिता के प्रेम का भी नमूना देखिए:-

महाराज-जनक राजर्षि थे, राज्य करते हुए भी विरक्त थे ।

इसी से विदेह की पदवी मिली थी। सीता जी के प्रति उनका कैसा अगाध प्रेम था, यह उस समय प्रकट होता है जब उनको विदा करने का समय आता है।

विवाह हो चुका, विदा की तैयारी हो रही है, जनक जी अंतःपुर में प्रवेश करते हैं, जानकी माता, सखी आदि से बिदा हो रही हैं—

बंधुसमेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥
सीय विलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्ह राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की॥
समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह विचार अनवसरु जाने॥

और देखिए—

श्रीरामचंद्र जी जानकी जी और लक्ष्मण जी सहित चित्रकूट में निवास करते हैं। श्रीभरत जी ज्येष्ठ भ्राता को लौटाने के वास्ते आते हैं। इसी बीच में महाराज जनक भी चित्रकूट पधारते हैं। जनक-महिषी कौशल राज-परिवार से मिलने आती हैं और विदा होते समय जानकी जी को भी कुछ समय के लिये अपने डेरे पर ले जाती हैं। जब डेरे पर पहुँचती हैं, तब—

तापस बेष जानकिहिं देखी। भै सब विकल विषाद विसेखी॥

पर जब जनक जी पुत्री को इस दशा में देखते हैं, तब उनका क्या हाल होता है :—

जनक राम गुरु आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी आई॥
लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुन पावनि प्रेम प्रान की॥
उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयेउ भूप मन मनहुँ प्रयागू॥
सिय सनेह बट बाढ़त जोहा। तापर राम-प्रेम सिसु सोहा॥
चिरंजीव मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलम्बनु॥

जैसी जिसकी रुचि होती है, वह उसके उपयोगी सामग्री सभी जगह ढूँढ़ लेता है। गुसाईं जी राम-भक्त हैं। उनको इसमें भी अपने मतलब की बात मिल गई।

मोह-मगन मति नहिं विदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥

पर क्या कवि जो चित्र पुत्री-प्रति पिता के प्रेम का ऊपर खींच गया, उसमें कुछ इजाफ़ा हो सकता है ? पुत्र के साथ भी इससे अधिक गाढा प्रेम नहीं दिखाया जा सकता।

खैर, माता पिता तो प्रेम करें, इसमें कोई अनोखी बात नहीं; पर ससुर का भी प्रेम पुत्र-वधू पर कैसा है, यह भी देखिए—

महाराज-कुमारी का विवाह कर महाराज दशरथ आते हैं, तो नव-वधुओं के विषय में आज्ञा देते हैं—

वधू लरकिनी पर घर आईं। राखेउ नयन पलक की नाईं॥

और भी एक झाँकी देखने योग्य है।

जब राम लक्ष्मण सीता जी समेत वन जाते हैं, तब महाराज दशरथ सुमंत्र को रथ में बैठाकर चार दिन में वन दिखाकर वापस ले आने को कहते हैं। पर—

जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसिंध दृढ़व्रत रघुराई॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेस-किसोरी॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होई तुम्हारी॥
एहि बिधि करेहु उपाय कदम्बा। फिरइ त होइ प्रान-अवलम्बा॥

यह तो हुआ ससुर का प्रेम, अब सास का प्रेम भी देखिए। आज सास बहू की कलह घर घर को नरक सदृश बनाए है।

माता कौशल्या बंधुओं के विषय में क्या विचार जाहिर करती है—

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुत-बधू देव सरि बारी॥

और इनका व्यवहार इन वधुओं के साथ कैसा प्रेममय था—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि इव प्रीति बढ़ाई। राखेउ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलप बेलि जिमि बहु बिधि लाली। सींचि सनेह सलिल मति पाली॥
पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥

जिवनमूरि जिमि जुगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

बधू का भी सास के प्रति कैसा प्रेम होना चाहिए, यह श्रीसीता जी के इन शब्दों से प्रकट होगा—

तव जानकी सास पद लागी। सुनिअ मातु मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा॥
तजब छोभ जनि छाडिब छोहू। करमु कठिन कछु दोष न मोहू॥

यहाँ तक हमने यह दिखाया है कि रामचरित मानस के कवि की दृष्टि में स्त्री-जाति का स्थान कितना उच्चतम है। पुरुष की अपेक्षा वह आदरणीय है। हमारे सत्कार और प्रेम की पात्री है। वह हमारी सच्ची सखा है। हर एक महत्व के विषय में उसकी सम्मति ली जाती है। वह दरबार में बोलने की अधिकारिणी है। ज्येष्ठ राज-महिषी का पुत्र जो राज्य का उत्तराधिकारी निश्चित हो चुका है, षड्यन्त्र के कारण वह निर्वासित होता है और सौत के पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाने की योजना की जाती है। उस अवसर पर भी वही दुःखिनी राज-माता मंत्र-गृह में उपस्थित है और वस्तुस्थिति को देखकर अपने ही पुत्र के स्वतत्व को–अपने ही स्वार्थ को–पददलित कर उदारता की पराकाष्ठा दिखाती है। वह सदुपदेश देने में जरा भी नहीं हिचकती। मंदोदरी पतिदेव को भी खरी खरी कहने में नहीं चूकती। वह सत्य से पराङ्मुख हो ठकुरसुहाती कहना ही अपना कर्तव्य नहीं समझती। यही सच्चे मित्र का लक्षण है। स्त्री आत्म-त्याग का भी आदर्श है। रणांगण में भी वह हमारे साथ मार-काट में शरीक होती है और अवसर पड़ने पर अपना कर्तव्य पालन करने में जरा भी नहीं चूकती। पर स्त्री-जाति के प्रति हमारा आर्दश (Ideal) पाश्चात्य आदर्श के विपरीत है। वह हमारा आदर्श पाश्चात्य आदर्श से गिरा हुआ नहीं, वरन् एक प्रकार से बहुत ऊँचा है। हम स्त्री का आदर केवल शब्दों से ही अलंकृत करके नहीं रह जाते, वरन् हम उसे अपने जीवन के

ओतप्रोत पाते हैं। हिंदू पति का जीवन पत्नी के समर्पित है। वह उसका स्वामी कहलाते हुए भी उसका चिरदास है। वह उसको संसार रूपी सागर के वक्षस्थल पर थपेड़े जाने को अकेला नहीं छोड़ देता। जन्म से ही उसकी रक्षा का भार पुरुष लेता है। यह जो कहा जाता है कि हिंदू स्त्री स्वतंत्र नहीं, वह कौमार-पन में माता पिता की अधीनता में रहती है, यौवन प्राप्त होने पर दाम्पत्य अवस्था में पति की रक्षा में रहती है और वैधव्य अवस्था या बुढ़ापे में पुत्रादि की, यह वास्तव में नारी-जाति का अपमान-सूचक नहीं वरन् उनके प्रति हमारे आदर एवं प्रेम का ही द्योतक है; और उसका आशय यही है कि लड़कपन में माता-पिता पर उसकी रक्षा का भार है, विवाह हो जाने पर पति पर और विधवा या जरा हो जाने पर पुत्रादि पर। सतीत्व का दृढ़ कवच तो सदा ही उसकी रक्षा करता रहता है। यह उस रक्षा के साधन मात्र हैं। यह कहा जा सकता है कि इसके कारण हिंदू रमणी परावलम्बी बन जाती है। किसी अंश में यह ठीक हो सकता है, यद्यपि इतिहास उसकी साक्षी नहीं देता। पर भारत की देवियों ने कैसा साहस और पराक्रम दिखाया है। भारत के इतिहास के पन्ने इससे रँगे पड़े हैं। युद्ध में यह साक्षात् रणचंडी बन गई हैं। आज नारी-जाति की जो पतित दशा है, वह हमारे आदर्श के कारण नहीं, बल्कि परिस्थितियों के कारण जिनसे हिंदू जाति ही परावलम्बी बन गई है। अनेक शताब्दियों के अत्याचार ने हमको गुलाम बना दिया है। पर सारे संसार के इतिहास को ढूँढ डालिए, गिनिए और बताइए कि कितनी देवियाँ उसमें मिलती हैं जिन्होंने अपने देश और जाति के लिये तलवार उठाई है। फिर उस संख्या का भारत की वीर नारियों की संख्या से मुकाबला कीजिए और देखिए कि किधर का पलड़ा झुकता है। महमूद ग़ज़नवी के एक आक्रमण के समय स्त्रियों ने धनुष की प्रत्यञ्चा बनाने के लिये अपने केश तक काटकर दे दिए थे और युद्ध को चलाए रखने के हेतु

अपने आभूषण अर्पण कर दिए थे। अभी १८५७ का ज़िक्र है कि झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई अपने युद्ध-कौशल और नीति-चातुर्य से योरोपियनों को भी चकित कर गईं। इस घोर योरोपीय समर में जो सेवा नारी-जाति ने की, वह हमारी देवियों की सेवा से बढ़कर नहीं। अतएव परावलम्बन का लाञ्छन हमारी देवियों पर लगाना निर्मूल है। हमारा स्वतंत्रता का आदर्श ही योरोपीय स्वतंत्रता के आदर्श से भिन्न है।

किसी शासन-प्रणाली के अंतर्गत होते हुए स्वतंत्रता एक शाब्दिक भ्रमजाल है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति संयम-नियमों से जकड़ा हुआ होता है। अतएव वह दार्शनिक परिभाषा में स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। अनियमित स्वतंत्रता स्वतंत्रता नहीं, उच्छृंखलता है। गुसाईं जी इस नियमित स्वतंत्रता के विरोधी नहीं। आप ने रामचरित मानस में स्त्रियों को इस नियमित स्वतंत्रता के भीतर स्वच्छन्द रमण करने से नहीं रोका, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है।

गृहस्थ आश्रम की उपमा हमारे शास्त्रों में गाड़ी के पहियों से दी जाती है, जिसमें दंपति दोनों पहियों के समान हैं। यहाँ पर भी स्त्री-पुरुष की समानता ही प्रतीत होती है। यह वास्तव में असमानता नहीं। हिंदू दाम्पत्य-आदर्श में जो असमानता किसी प्रकार दिखाई देती है, वह बाहर से देखनेवालों का भ्रममात्र है।

गृहस्थ आश्रम के दो पहलू हैं, एक अंतरंग दूसरा बाह्य। इन दोनों का संचालन दो व्यक्तियों में बँटा है। दोनों ही अपने कार्य क्षेत्र में एक प्रकार से स्वतंत्र हैं। यह कार्य विभाग (Division of Labour) गृहस्थी के चलाने का सुगम उपाय है। अंतरंग क्षेत्र को यदि सिविल (Civil) कहा जाय तो बाह्य क्षेत्र को मिलिटरी (Military) कहना उचित है। पुरुष का कार्य कठिनतर है। उसका मुख्य कर्त्तव्य गृहस्थी के मुख्य साधन, धन का उपार्जन

करना है। उसको वाहरी संसार से सामना करना पडता है। अत-एव कार्यक्षेत्र विस्तृत होने से उसकी स्वतन्त्रता कुछ विशेष दिखाई पड़ती है। जो अधिकार सिविल को नहीं होते, वह मिलिटरी को देने पड़ते हैं, पर हैं वे सिविल के रक्षार्थ ही; और उनका आधार भी वही सिविल ही है। पुरुष को जो ऐसी विशेषता प्राप्त है, वह स्त्री-जाति के कल्याणार्थ ही है। हमारी गृहस्थी की संचालिका हमारी देवियाँ हैं। वही उसको सुचारु-रूप से चलाती हैं। पुरुष सामग्री मात्र जुटा देते हैं, उसका सदुपयोग उन्हींके कर-कमलों में रहता है। वह गृहस्थी को स्वर्ग या नरक कर सकती हैं। समाज उनको गृह-लक्ष्मी या गृह-देवी के नाम से संबोधित करता है। उनको भी गृह-कार्य्य करने में लज्जा नहीं आती। भारत की सम्राज्ञी गुरुजनों की सेवा में जरा भी संकोच नहीं करती, और उसको दूसरों के सहारे छोड़ने का स्वप्न भी नहीं देखती।

सीय सासु प्रति वेष वनाई। सादर करहिं सरस सेवकाई॥
सीय सासु सेवा वस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिय आसिष दीन्ही॥

पुनः—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील विनीता॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। सब प्रकार सेवा विधि लीनी॥
निजकर गृह परिचर्या करहीं। रामचंद्र आयसु अनुसरहीं॥
जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानहिं। सोइ सिय सेवा विधि उर आनहिं॥
कौशल्यादि सासु गृह माहीं। सेवहिं सवै मान मद नाहीं॥

यह उसी सुव्यवस्था के कारण है कि पश्चिमी सभ्यता की लहर भारत में पहुँचने के पूर्व यह हेय समझा जाता था कि पुरुष के जीवित रहते स्त्री धनोपार्जन के लिये चिन्तित हो। जब तक कुटुम्ब में कोई पुरुष होता था, उसको इस कार्य के लिये कष्ट उठाने को वाध्य नहीं होना पड़ता था। युरोप के समान यहाँ ललनाओं को उदर-पूर्ति के लिये दर दर भटकने की आवश्यकता न थी। अस्तु।

गृहस्थी का जो विभाग ऊपर दिखाया गया है और उसके संचालन का क्रम-विभाग जिस प्रकार किया गया है, वह भी एक प्रकार वैज्ञानिक सिद्धांत पर निर्भर है।

स्त्री स्वभावतः कोमलांगी और कोमल-हृदय होती है। वह साधारणतः पुरुष के समान शारीरिक परिश्रम नहीं कर सकती। उसका हृदय भी पुरुष की अपेक्षा अधिक दयापूर्ण होता है। यदि ऐसा न होता तो संतान-पालन का कठोर कार्य उससे होना कठिन था। पर रणक्षेत्र में इस दया से काम नहीं चलता। वहाँ समय पर पाषाण से भी कठोर बनना पड़ता है। अतएव इस सांसारिक युद्ध-क्षेत्र में सैनिक का कार्य पुरुष अधिक योग्यता से कर सकता है, न कि स्त्री। इसको स्त्री-जाति का अनादर करना नहीं कहा जा सकता। "दया" ईश्वरीय गुण है। इसकी अधिक मात्रा से संपन्न होना अधिक पूज्य और आदरणीय होता है, न कि निन्दनीय। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं जो स्त्री के बाह्य क्षेत्र में प्रविष्ट होने में बाधक होते हैं। यदि वह उधर लग जाय तो इन गृह-कार्य्यों का चलाना पुरुष के लिये असंभव सा हो जाय। संतान का लालन-पालन स्त्री ही कर सकती है। पुरुष से इसका सम्पादन होना कठिन है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह हिंदू दृष्टि-कोण से कहा गया है; और यही दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि हिंदू समाज में स्त्री पुरुष में पूर्ण समानता है। वह हमारी अर्धांगिनी है; वह हमारे पाप पुण्य की साझीदार है। हमारा कोई धार्मिक कृत्य बिना उसको साथ लिए सम्पादित नहीं हो सकता। प्रकट में जो विषमता दिखाई देती है वह दोनों के कार्यक्षेत्र के भिन्न भिन्न होने से है, न कि स्वाभाविक उच्चता या नीचता के भाव से।

गोस्वामी जी ने श्रीरामचंद्रजी के वन-गमन के पूर्व कैकेयी के प्रति एक भी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है। प्रारंभ में ही जब रानियों के दर्शन होते हैं, तो कवि कहते हैं।

कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
मति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि-पद-कमल विनीत॥

प्रथम वंदना में भी सब के प्रति कवि का यहि भाव है।

दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी॥

पुनः

मंदिर महुँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी॥

यहाँ तक कवि के हृदय में सब के प्रति समान आदर तथा प्रेम है।

अब हम इस विषय में अधिक न कहकर इस प्रश्न को दूसरे दृष्टिकोण से देखेंगे, जिस दृष्टिकोण से कि साधु तुलसीदास ने स्त्री-निन्दा में कहा जाता है कि कसर नहीं की, चुन चुनकर उनको कटु वाक्य कह डाले हैं।

महर्षि विश्वामित्र घोर तपस्या में मग्न हैं। उनके इस व्रत के भंग होने का कारण कौन होता है? स्त्री का अनुपम सौंदर्य। महर्षि पाराशर नौका में श्री गंगाजी के पार जा रहे हैं। एक सुंदर युवती, वह भी नीच कुल की, पास में बैठी है। फल क्या होता है? ब्रह्मचर्य-खंडन। नारद जी को अपने जितेंद्रिय-पन का घमंड है। इस दर्प को कौन खर्व करती है? एक षोडशी नृप-बाला। देवराज इंद्र को किसके कारण सहस्र भग धारण करने पड़ते हैं? स्त्री के रूप-लावण्य के कारण। महर्षि अगस्त्य की जन्म-कथा क्या पाठ देती है? वही कामिनी की प्रबल मोहिनी शक्ति। यह पौराणिक कथाएँ झगड़ों के गपोड़े हैं। अच्छा, अब ऐतिहासिक काल में आइए। हिंदू-राष्ट्रीयता, हिंदू सभ्यता के विनाश का कारण कौन होता है? सयोगिता का रूप। चित्तौड़ को ख़ाक में मिलाने का कारण क्या होता है? महारानी पद्मनी के रूप की कथा। जहाँगीर से शेर अफ़ग़न की हत्या कौन कराता है? नूरजहाँ की सुंदरता! हेनरी अष्टम से रानी कैथरीन को सिंहासनच्युत कराने का मूल कौन है? ऐनी बोलीन

का रूप-लावण्य। पंजाब केसरी को कौन अपने माया-जाल में फँसाने का प्रयत्न करती है? एक स्त्री! और वह किसके द्वारा? स्त्री की मोहिनी सूरत के द्वारा! इतिहास के पृष्ठ इन घटनाओं से भरे पड़े हैं। सांसारिक मनुष्य के लिये इस मोहिनी जाल में फँस जाने से विशेष हानि नहीं। वह तो माया-जाल में फँसे हुए ही हैं। वह तो प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी हैं ही। पर जो आत्मोन्नति के आकांक्षी हैं, जो इस संसार से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं, जो निवृत्ति मार्ग में अग्रसर हैं, उनकी दशा दूसरी है। वह इसके आकर्षण में पड़कर नहीं बच सकते। उनका पतन भयानक होता है। इसी कारण महात्मा कबीर जी कहते हैं—

चलो चलो सब कोइ कहैं, पहुँचे बिरला कोय।
एक कनक और कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥
नारी की झाईं परत, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग॥

इसी भाव को गुसाईं जी ने इन चौपाइयों में प्रतिध्वनित किया है—

लछिमन देखहु काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।
एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते ऊपर सुभट सो भारी।

कबीर जी और भी फरमाते हैं—

दीपक सुंदर देखिके, जरि जरि मरै पतंग।
बढ़ी लहर जो विषय की, जरत न मोड़ैं अंग॥

गुसाईं जी ने भी कहा है—

दीप-सिखा सम जुवति जन जनि मन होसि पतंग।

उधर कबीर जी ने इतने पर ही संतोष नहीं किया। और भी देखिए:—

साँप बीछि को मंत्र है, माहुर झारे जात।
बिकट नारि पाले पड़ी, काढ़ि करेजा खात।

कनक कामनी देखके, तू मत भूल सुरंग।
बिछुरत मिलन दुलेहरा, कैंचुलि तजै भुजंग॥

स्वयं अपने विषय में कबीर जी एक स्थान पर कहते हैं:—

नारी तो हम भी करी, कीना नहीं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

महात्मा रामदास जी अंतर पट के पड़ते ही क्यों भाग उठे थे? क्या इसी लिये नहीं कि विवाह बंधन में पड़कर वे वह आत्मोन्नति और ब्रह्मज्ञान न प्राप्त कर सकते थे, जिसके वह जिज्ञासु थे? बुद्ध भगवान् भी स्त्री-जाति को ऐसी ही सशंक दृष्टि से देखते थे और शुरू शुरू में अपने स्थापित भिक्षु समुदाय में उनके प्रवेश का उन्होंने घोर विरोध किया था। श्रीयुत हरिपद घोषाल एम० ए० Indian Review Vol XII. No. 1 of 1920, page 431. में इस प्रकार लिखते हैं—"Buddhism was a thoroughly monastic religion. So it was first ruled that no woman should find room within the precincts of the Buddhist Church. The Bhiksus should not, says Buddha, look on women; but if they come near, to overlook them and not to speak with them If they speak, Bhikhus will respond, but with a clear mind without eyeing lustfully on them" इसका भावार्थ यह है कि पहले यह नियम बनाया गया था कि किसी स्त्री का प्रवेश बौद्ध संघ में न हो। भगवान् बुद्ध की आज्ञा है कि भिक्षु स्त्री मात्र की ओर दृष्टिपात तक न करें। यदि स्वयं भी स्त्री बोल उठे तो उत्तर तो दें, पर शुद्ध हृदय से। लेकिन सकाम दृष्टि से उनकी ओर न देखें।

यदि ऐसे ऐसे वाक्य साधु संतो के ग्रंथों से उद्धृत किए जायँ तब तो एक पूरा पोथा बन जाय। इस कारण हम इन्हीं पर संतोष करते हैं। सब के सब संत महात्मा कम से कम इस विषय

में एकमत हैं, चाहे उनके सांप्रदायिक विचार कितने ही भिन्न क्यों न हों। साधु लोग निवृत्ति मार्ग के उपदेशक हैं। समाज प्रवृत्ति मार्ग का पोषक है। उसका आधार गृहस्थ है और गृहस्थ का स्तंभ स्त्री है। जब इन संत महात्माओं के अखाड़े बनकर ऐश्वर्य और वैभव-संपन हो गृहस्थी का रूप धारण कर लेते हैं, तब स्वभावतः उनमें नारी का प्रवेश होता है और फिर उनका काया-पलट होते देर नही लगती। इसका अनुभव पाठक वर्तमान मठों से कर सकते हैं कि उनका यह रंग कैसे बदला है। आजकल उनके विरुद्ध क्यों इतनी हलचल हो रही है। क्यों अकाली लोग अपने जीवन की बलि दे रहे हैं। यह आज ही नहीं हुआ; सदा और सब देशों में हुआ है। बौद्ध मठों का सात्विक प्रवृत्ति से तामसिक प्रवृत्ति में परि-वर्तन किसने किया? जिनको इसकी विशेष जिज्ञासा हो, वे "करुणा" और "शशांक"* ऐतिहासिक उपन्यासों को पढ़ें और देखें कि क्या उत्तर मिलता है। युरोप में क्या हुआ। नाइट-टेम्पलर्स (Kinht-Templars) और ऐसी अन्य संस्थाओं का नाश किसने किया? स्काट के Ivanhoe के पढ़ने से इसका रहस्य खुल जायगा। बुलवर लिटन का एक उपन्यास जेनोनी (Zanoni) है। उसके अध्ययन से पाठक अनुभव करेंगे कि नारी-प्रेम किस प्रकार शनैः शनैः एक उच्चात्मा का पतन करता है। आदम के स्वर्ग से निकाले जाने का कारण कौन होती है? वही भुवन-मोहिनी प्रमदा।

संसार के इतिहास के अध्ययन के अनुभव से जो सदोपदेश मिल रहा है और जो उन जातियों के मान्य लेखकों की लेखनी से अंकित किया गया है, जो स्त्री-जाति के उच्च पद का राग अलापती हैं, वही रामचरित मानस के कवि ने इन ग्रंथों और इतिहासों का स्वप्न में भी अध्ययन किए बिना ही किस खूबी से निम्न शब्दों में दिखाया है। उससे उसकी पैनी दृष्टि की ही दाद देने को जी

* ये दोनों उपन्यास काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा

चाहता है न कि उसको स्त्री-जाति का निंदक कहने को ।

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि ॥

सुनि मुनि कह पुरान श्रुति सन्ता । मोह विपिन कहँ नारि वसन्ता ॥
जप तप नेम जलासय भारी । होइ ग्रीषम सोखइ सब वारी ॥
काम क्रोध मद मतसर भेका । इन्हहिं हरषप्रद वरषा एका ॥
दुर्वासना कुमुद समुदाई । तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥
धरम सकल सरसीरुह वृन्दा । होइ हिम तिनहिं देति दुख मन्दा ॥
पुनि ममता जवास वहुताई । पलुहे नारि शिशिर ऋतु पाई ॥
पाप उलूक निकर सुखकारी । नारि निविड रजनी अँधियारी ॥
बुधिवल सील सत्य सब मीना । वंसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना ॥

अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि ।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिअ्र जानि ॥

यहाँ पर यह भी विशेष दृष्टव्य है कि यह उपदेश किसको दिया गया है और किस संबंध में दिया गया है। बिना इस पर दृष्टि रक्खे इसका वास्तविक रूप समझ में नहीं आ सकता। एक सच्चा साधु जिसने अपना सारा जीवन ईश-गुण-गान में बिताया है और ब्रह्मचर्य धारण किया है, जिसने कामदेव को भी एक बार परास्त किया है, अपनी इस तपश्चर्या से गर्वित हो उठता है। जहाँ गर्व वहाँ भक्ति नहीं। भक्तवत्सल उसके गर्व को एक विश्व-मोहिनी के रूप-लावण्य पर उसको मुग्ध कर खर्व कर देते हैं। पर आध्यात्मिक पतन से उसको बचा लेते हैं। इसी पर भक्त महाशय प्रश्न करते हैं कि स्त्री से मेरी क्या हानि हो सकती थी। उत्तर में यह उपदेश दिया जाता है।

विचारणीय यह है कि यह उपदेश किसी गृहस्थ को नहीं दिया गया है, वरन् एक विरक्त को; एक ऐसे व्यक्ति को जिसने संसार से इसी कारण से माया मोह का नाता तोड़ रक्खा था कि मैं ईश्वर के गुण-गान में मस्त रहूँ। इससे यह स्पष्ट है कि यह निन्दा स्त्री-जाति

से संबंध नही रखती किंतु एक विशेष स्थिति से और एक विशेष उद्देश्य से।

रंभा-शुक सम्वाद में एक श्लोक है—

मायाकरण्डी नरकस्य हण्डी तपो विखंडी सुकृतस्य भंडी।
नृणां विखंडी चिर सेविता चेतदयागतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

क्या गुसाईं जी के शब्द इससे भी कड़े हैं?

इस कारण कवि सचेत करता है—

दीप सिखा सम जुवतिजन, मन जनि होस पतंग।
भजहि राम तज काम मद, करहि सदा सतसंग॥

यह भी एक सन्त महात्मा का उपदेश आध्यात्मिक उन्नति के जिज्ञासुओं के प्रति है।

गुसाईं जी को दृष्टि में ऐसे पुरुषों के लिये केवल स्त्री ही त्याज्य नहीं है, वलिक—

सुख संपति परिवार वड़ाई। सव परिहरी करा सेवकाई॥
यह सव राम-भगति के वाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥

श्रीरामचंद्र जी का यह उपदेश किसी साधारण मनुष्य या गृहस्थी के लिये होता तो स्वयं रामजी सीता के लिये इतना विलाप न करते फिरते और न राम-रावण का युद्ध ही होता और न "प्रमदा सव दुख खानि" का पता न मिलने से आप ऐसे आपे से वाहर होते कि सुग्रीव के लिये यहाँ तक कह वैठते कि—

जेहि सायक मारा मैं वाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहँकाली॥

उस "दुख खानि" के लिये ऐसा विलाप करने से लाभ? जव तक उससे वचे रहते, तभी तक ग़नीमत थी। जान वूझकर कौन अपने गले में फाँसी डालता है। पर सच यह है कि ऐसे भावों से गृहस्थी का कर्त्तव्य दिखाया है। जो स्त्री विरक्तों के लिये राम-भक्ति की वाधक है, वही गृहस्थों को ईश्वर सन्मुख कराती है। वही आत्म-त्याग की शिक्षा देती है, वही परोपकारिता का पाठ **पढ़ाती है**।

दो दृष्टिकोण से हम इस विषय पर मनन कर चुके हैं। एक पहलू से यह प्रश्न और भी देखा जा सकता है। कवि अपना आदर्श दिखाता है। वह यह भी बताने का प्रयत्न करता है कि मेरे आदर्श और मेरी समकालीन अवस्था में कितना अंतर है। यदि वह ऐसा न कर सके तो कवि ही क्या। न वह अपने काल का प्रतिनिधि समझा जा सकता है।

गुसाईं जी का प्रादुर्भाव जिस समय हुआ, उस समय मुसलमानी सभ्यता का प्राबल्य अपने उच्च शिखर की ओर शीघ्रगामी हो रहा था और उसका प्रभाव आर्य सभ्यता पर जितना पड़ना था, पड़ चुका था। हमारे आचार-विचार में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। इस्लाम ने नारि-जाति को विचार में (In theory) चाहे कैसा ही पद क्यों न दिया हो, पर उसने व्यवहार में उनको जर-खरीद गुलाम के दर्जे से ऊपर नहीं उठने दिया। इस्लाम ने हरमसरा के परिकोट के भीतर उनको क़ैद कर परिन्दे के समान क़फ़स में बन्द किया है। इस्लाम ने दूसरों की स्त्रियों को हरण कर अपने घरों को आबाद करने तथा बलात्कार अपने धर्म का प्रचार करने में ही अपना गौरव समझा है और इसी एक कृत्य से उसने स्त्री-जाति को खड्डे में ढकेल दिया है। यदि वह इस्लाम को स्वीकार न करें तो घोर से घोर अत्याचार और निन्दा से भी केवल सतीत्व उनकी रक्षा नहीं कर सकता। इस्लाम ने ही अलिफ़लैला की रचना कर "तोता मैना" किस्से कहानियों की बुनियाद डाली और स्त्री-चरित्र को कलंकित और अपमानित किया। विधर्मियों द्वारा स्त्री जाति पर अत्याचार करने ने, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, नारि-जाति के गौरव का, उनकी पवित्रता का, विनाश किया। इधर शिवाजी और राजसिंह, कोई मुसलमानी उनके हाथ में पड जाने पर, उसको आदर के साथ उसके घर पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। उधर अलाउद्दीन आदि किसी परीजमाल हिंदुस्थानी के उनके हाथ में पड़ जाने

पर उस अबला को हरमसरा में दाख़िल करते हैं। पाठक विचार सकते हैं कि किस जाति की दृष्टि में नारि-जाति का उच्चतर स्थान है। क़रीब ८०० वर्ष तक भारत में इस्लाम का दौर दौरा रहता है। इस अरसे में सिर्फ़ ३ स्त्रियाँ ही हिन्द में इस्लाम के स्टेज पर दृष्टिगोचर होती हैं। रज़िया, चाँद बीबी और नूरजहाँ। रज़िया अपने सरदारों के हाथ से क़तल होती है। पठान सरदार औरत के ज़ेर-हुकूमत रहना अपनी तौहीन समझते हैं। चाँद बीबी भी अपने ही सिपाहियों के हाथ से मारी जाती है। नूरजहाँ के चरित्र के विषय में कहने की ज़रूरत नहीं। उसके मजार पर जो कुतबा है, वही बता रहा है कि उसका जीवन कैसा निराशामय हुआ।

बर मज़ारे मा ग़रीबाँ नै चिराग़े नै गुले।
नै परे परवानः सोज़द नै सदाए बुलबुले॥

इधर हिंदू-समाज में अनेक वीरांगनाओं के नाम स्वतः स्मरण हो आते हैं:—

१—केरल की तारा-जिसने अपने वीरत्व से मेवाड़ भूमि को पवित्र किया और पिता के खोए हुए राज्य को पुनः तलवार से प्राप्त किया।

२—पद्मा-इस वीर नारी ने भूपाल देश को पवित्र किया और रणाङ्गन में ख्याति प्राप्त करके अपने भाई को बन्धन से छुड़ाया।

[सन् १८०८ ई०]

३—कलावती-राजस्थान की एक वीर क्षत्राणी जिसने अला-उद्दीन के सेनापति के दाँत खट्टे किए और पति के विषाक्त व्रण को चूस अपने प्राण न्यौछावर करके अपने पति को आरोग्य किया।

[तेरहवीं सदी]

४—दुर्गावती (मंडला की)—दो बार अकबर के सेनापति आसफ़खाँ को पराजित किया और तीसरी बार युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुई।

५—कर्म देवी, करुणावती, कमलावती-(चित्तौड़ की) पुत्र, पति और भ्राता के साथ युद्ध में अकबर के आक्रमण के समय वीर-गति प्राप्त की।

६—नीला या नील देवी-पठान सरदार अब्दुल शरीफ़ खाँ को भरे दरबार में मारकर पति को कैद से छुड़ाया।

७—लक्ष्मी बाई-(झाँसी की विख्यात रानी) जिसके बारे में अँग्रेज़ों ने लिखा है कि सब से चतुर और बुद्धिमती थी।

८—अहिल्या बाई-(इंदौर की प्रातः स्मरणीय शासिका) जिसके शासन और सुप्रबन्ध की तारीफ़ सर जान मालकम ने दिल खोल-कर की है।

अनेक योरोपियन यात्री इस समय भारत में आए और उन्होंने यहाँ की दशा का वर्णन लिखा है। मुनक्की नामक एक इटली-निवासी ने मुग़ल सम्राट् की हरमसरा का जो वर्णन किया है, उसको पढ़कर शरीर काँप उठता है। वे शाही महल थे, या रण्डीख़ाने? जो बहिश्त होना चाहिए थे, वही दोज़ख का मंज़र दिखाते हैं। इन महिलाओं को फ़रिश्ता-ख़सलत कहा जाय या शैतान-सीरत? अस्तु! विशेष कहने की ज़रूरत नहीं। सारांश यह है कि इस पतित आदर्श का प्रभाव भारत पर पड़ा और खूब पड़ा। स्त्री विलासिता की सामग्री, मनोरंजकता का खिलौना और पाँव की जूती बन गई। वह एक सुलभ वस्तु हो गई। तभी तो कवि ने भी रघुनाथजी से भी कहला दिया कि—

नारि हानि विशेष छति नाहीं।

और दूसरी जगह सागर द्वारा यह सूत्र बनवा दिया कि—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। यह सब ताड़न के अधिकारी॥

नारि जाति की स्वतंत्रता अपहरण हो चुकी है, तभी तो पार्वती जी को बिदा करते समय उनकी माता दुःखित हृदय से कह उठती हैं—

कत बिधि नारि सिरजि जगमाहीं । पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं ॥

यहाँ एक ही स्थल पर उस समय के दो घोर अत्याचारों का चित्र खींच दिया है। हिंदू जाति परतंत्रता के पंक में पड़ी सिसक रही है। यवनों के शासन में उसकी कैसी दुर्गति हुई है। सच है, पराधीन को सुख कहाँ! यह दबी ज़बान से स्वराज्य की माँग है। साथ ही यह भी दिखा दिया गया है कि इस परतंत्रताने हमारी देवियों का आसन कितना नीचे गिरा दिया है। महारानी कैकेयी के संबंध में कवि ने कई कड़े कड़े शब्दों का प्रयोग किया, पर यह सब श्रीरामचंद्रजी के बनवास का वर माँगने के पश्चात्। उसके पूर्व तो वह सभी महारानियों को समान आदर की दृष्टि से देखते हैं और तीनों ही को "सब आचरन पुनीत" कहते हैं।

कैकेयी उसी समय रौद्र रूप धारण करती है, जब महाराज दशरथ उसको दूसरा वर देने में हिचकते हैं। उस समय जो जो कटु वचन महारानी ने पतिदेव के प्रति कहे हैं, उन्हीं की ओर संकेत कर कहा जाता है कि कवि को उच्च कुल की महिलाओं को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। वह वाक्य क्या उच्च-कुलीन महिला के मुख से निकलने योग्य हैं? पर हमको इसके स्वीकार करने में संकोच होता है। एक बार हमने एक बड़े उच्च कुल की देवी को इनसे भी कटु शब्द पतिदेव के प्रति कहते सुना था। कवि-सम्राट शेक्सपियर के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं।

A woman's mind is like a fountain troubled.
Muddy, ill-seeming thick bereft of beauty.

एक दूसरे कवि ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

Heaven has no rage like love to hatred turned.
Nor hell a fury like a woman scorned.

अब इनको दृष्टि में रखकर विचारिए कि गुसाईं जी ने जो शब्द कैकेयी के मुख से कहलवाए हैं, वे कहाँ तक असंगत और असं-

आत्मग्लानि और पश्चात्ताप से उनका हृदय दग्ध होने लगा । उसी अवस्था में—

सती हृदय अनुमान किअ, सब जानेउ सर्वग्य ।
कीन्ह कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अग्य ॥

जब पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से चित्त व्याकुल हो रहा है, तब क्या कोई दूसरे शब्द कहना शोभा देते थे ।

ऋषिपत्नी देवी अहिल्या का शाप से मोक्ष होता है और वह गद्गद स्वर से श्रीरामचंद्रजी की स्तुति करती हुई कहती है—

"मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन"

यह भी ऊपर से मिलता हुआ ही स्थल है। पूर्व पापाचरण की स्मृति है और परब्रह्म परमात्मा की स्तुति है। उस पतित-पावन के सम्मुख अपने आपको अपावन कहने में क्या हर्ज है ।

स्त्री कामरूप है । और काम कैसा शक्तिशाली है, देखिए ।

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ । भय बस अगहुड़ परै न पाऊ ॥
सुरपति बसै बाँहबल जाके । नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥
सो सुनि तियरिस गयेउ सुखाई । देखहु काम-प्रताप-बड़ाई ॥
सूल कुलिस असि अंगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन-सर मारे ॥

इसी लिये कहा है—

नारि नयन सर जाहि न त्यागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥
लोभ-पास जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम समान रघुराया ॥'

नहीं तो—

देव दनुज नर किन्नर व्याला । प्रेत पिसाच भूत बैताला ॥
इनकी दसा न कहूँ बखानी । सदा काम के चेरे जानी ॥

क्या यह पुरुष-जाति की निन्दा नहीं ?

शंकरजी काम देव को भस्म कर चुके, जिस पर—

हा हाकार भयो जग माहीं ।

पर शिवजी महाराज अचल शांत रूप हो विराजमान हैं। पर जब रति शोकातुर—

रोदति वदति बहु भाँति करुणा करत शंकर पहँ गई।
प्रभु आसुतोष कृपालु शिव अवला निरखि बोले सही॥

स्त्री के अश्रुपात का सामना न कर सके।

स्कॉट (Scott) ने बहुत ही सत्य कहा है—

The Rose is fairest when, 'tis budding anew;
And hope is brightest when it dawns from fears,
The Rose is sweetest, washed with morning dew;
And love is loveliest when embalmed in tears.

क्या नारि का यह आदर नहीं? जैसे पुरुषों को काम का चेरा बताया है और यहाँ तक कह डाला है "नहिं मानहिं कोउ अनुजा तनुजा" तो फिर यदि—

सूपनखा रावण की बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जिमि अहिनी॥

की कामांधता का जिक्र करते हुए यह कह डाला कि—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखति नारी॥

तो गुसाईं जी ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के प्रति कौन सा घोर अन्याय किया! वह तो दोनों को एक ही लाठी से हाँक रहे हैं।

शूर्पणखा के नाक-कान कटवाना भी स्त्री जाति का अपमान बताया जाता है। हो सकता है। पर इसमें गुसाईं जी का दोष क्या? उसके नाक-कान गुसाईं जी के जन्म से हजारों लाखों वर्ष पूर्व कट चुके थे। यह सज़ा अच्छी थी या बुरी, इसके जाँचने का अधिकार हमको नहीं। इन बातों में सदा परिवर्तन होता रहता है। जो आज अच्छा समझा जाता है, वही कालांतर में बुरा हो जाता है। आज भी अनेक दुष्ट कर्मों की जो सज़ा बहुत कठोर समझी जाती है, आगे चलकर उसका असभ्यतासूचक तक समझा जाना संभव है। आज हम उसे ऐसा नहीं समझते तो क्या आगामी पीढ़ियों का इस

समय के लोगों को ऐसा दंड देने पर खरा-खोटा कहना अच्छा होगा। एक बात और विचारणीय है। वह यह कि क्या जिसको हम सभ्य दंड कहते हैं, उससे हमारी इष्ट-सिद्धि होती है? जेलखाने सुधार-घर है या दुराचार और अनाचार की पाठशालाएँ? कितने अभियुक्त जेलखाने की हवा खाकर सुधर कर निकलते हैं और भविष्य में निन्दित कर्मों से बचते हैं? यदि बहुत कम, तो फिर क्यों उस पुराने दंड की जिससे एक ही के प्रति पाशविक क्रूरता होती थी, पर बहुतों को उससे शिक्षा मिलती थी और फिर वैसा करने का साहस न होता था, निंदा की जाय। आज के समान तब अनेक प्रकार के अनाचारों की वृद्धि नहीं होने दी जाती थी, जेलखानों के ग्राम के ग्राम नहीं बसते थे। सम्राट् अशोक के जन्मोत्सव पर केवल एक या दो वन्दी मुक्त होते थे। कारण कि होते ही बहुत कम थे। अस्तु।

हमारा आशय सिर्फ यही है कि जो रिवाज जिस समय प्रचलित होता है, उस समय वह साधारण प्रतीत होता है। उसके दोष जनता को दिखाई नहीं देते। वह बुरा नहीं दिखाई देता। आज भी यही है।

सभ्यता-अभिमानी अमेरिका-निवासियों को Lynch Law में कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता। वह न्याययुक्त और गुणमय ही दिखाई देता है। पर दूसरों की आँखों में वह काँटे के समान खटकता है, अन्यायमूलक और पाशविक प्रतीत होता है।

गोसाईंजी पर स्त्री जाति की स्वतंत्रता के अपहरण का दोष लगाया जाता है।

महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।

हम ऊपर दिखा चुके हैं कि गुसाईं जी संयमित स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। वहाँ स्वतंत्रता का स्वच्छंदता के अर्थ में प्रयोग हुआ है। वृष्टि से क्यारी नहीं फूटती। उसकी हानि नहीं होती; वरन् वह आवश्यक है। नाशकारक है महावृष्टि। इसी प्रकार जब

स्वतंत्रता का उल्लंघन हो जाता है, तब वह महा स्वतंत्रता की सीमा पर पहुँच जाती है। तभी उससे बिगाड़ होता है और वह स्त्री के सुलभ गुणों के लिये घातक होती है।

महाराज दशरथ श्रीरामचंद्र जी के अभिषेक के लिये तैयारी कर आनंद से महारानी कैकेयी के अंतःपुर में पधारते हैं; पर वहाँ का रंग ढंग दूसरा ही नज़र आता है। और आख़िर में दो बातें माँगी जाती हैं। जिस रानी को वह इतना चाहते थे कि सबका यही विश्वास था—

तुमहिं न सोच सोहागबल, निज बस जानहु राव।

उसी की ज़बान से यह शब्द कर्णगोचर होते हैं। अतएव यदि ऐसे अवसर पर कवि दशरथ जी से यह कहलाते हैं तो क्या अनर्थ करते हैं—

कौने अवसर का भयेउ, गयउ नारि विस्वास।

इतना होने पर भी क्या वह विश्वास की पात्र समझी जा सकती है?

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भल।
बिलग होइ रस जाय, कपट खटाई परत ही॥

हम नहीं समझते कि ऐसा मर्माघात पहुँचने पर दशरथ जी और क्या कह सकते थे; और ऐसा अवसर पड़ने पर क्या गुसाईं जी के समालोचक अपनी ऐसी गृहदेवी पर अटल विश्वास और प्रेम बनाए रक्खेंगे।

मंथरा और कैकेयी का सम्वाद इसी का साक्षी है कि स्त्रियाँ कैसी सरल-हृदय होती हैं और कैसी आसानी से उनकी द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। जिन्होंने Othelo पढ़ा है, वे जानते हैं कि पुरुष जाति में भी यह द्वेषाग्नि कैसी आसानी से भभक उठती है। जहाँ यह विचार मन में आया कि जिसको हम अपनी समझते हैं,

वह दूसरे की है, वहीं ग़जब हो जाता है। ऐसे ही स्त्रियों का भी हृदय है। ज्योंही मंथरा कैकेयी से यह संकेत करती है कि—

जरि तुम्हारि वह सवति उखारी।

और फिर इस पर हाशिया चढ़ाती है। तब कैकेयी कुछ से कुछ जाती है और यहाँ तक कह बैठती है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति-सेवकाई॥

और—परौं कूप तुअ वचन पर, सकौं पूत पति त्यागि।

Othelo को उत्तेजित करने में समय लगता है। Iago को कई षड्यन्त्र रचने पड़ने हैं। पर यहाँ तो एक दम ही काया-पलट हो जाती है। यही स्त्री और पुरुष में अंतर है। तभी तो किसी कवि ने कहा है—

My only books
Were woman's looks
And Folly's all they have taught.

इन्हीं भावों को दृष्टिगोचर रखते हुए गुसाईं जी ने—

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवक वस नहिं लेखिअ।
राखिय सदा जदपि उर माहीं। जुवति सास्त्र नृपति वस नाहीं।

ऊपर हम मुख्य मुख्य स्थल, जिनसे गुसाईं जी स्त्री-निंदक समझे जाते हैं, दे चुके हैं।

हमने इनके संबंध में यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारी तुच्छ बुद्धि में इनसे स्त्री जाति की निंदा सिद्ध नहीं होती। कुछ तो विचार ऐसे हैं जो कवि ने एक साधु की दृष्टि से लिखे हैं, कुछ उस समय के उन सामाजिक विचारों को लिए हुए हैं जो स्त्रियों के प्रति फैले हुए थे, और कुछ ऐसे हैं जो नैतिक दृष्टि से लिखे गए हैं। हम कहाँ तक कृतकार्य हुए, यह पाठक ही कह सकते हैं।

हिंदी भाषा और तुलसी कृत रामायण *

[लेखक—बाबू राजबहादुर लमगोड़ा एम. ए. एल-एल. बी.]

अत्यंत आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में सौ वर्ष से अधिक अँग्रेज़ी शिक्षा होते हुए भी, वह उन्नति जो जापान ने केवल पचास वर्षों में प्रत्येक विषय में प्राप्त की है, भारतवर्ष के किसी भाग में दृष्टि नहीं आती। कोई इसका कारण देश की जलवायु और कोई राजनीतिक स्थिति बताता है। इस लेख में इस बात पर विचार किया जायगा कि क्या भाषा की अवनति देशहित के मार्ग में कोई बाधा डाल सकती है ? मेरी अपनी धारणा तो यह है कि यदि आप एक विशेष प्रकार के विचारों को किसी जाति के विचारों के प्रधान अंश बनाना चाहें और उसकी समस्त बातों तथा सब क्रियाओं से प्रकट करना चाहें तो यह आवश्यक है कि उन विचारों को उस जाति की भाषा के साँचे में इस प्रकार ढाला जाय कि वे सर्व साधारण के समझने योग होकर सबके हृदय पर अपना पूर्ण प्रभाव डाल सकें। उदाहरणार्थ, क्या कभी "स्वतंत्रता" और 'समता' के वे पुनीत विचार, जो आजकल संसार में बड़े ज़ोरों के साथ फैल रहे हैं, उस समय हमारी जाति की नस नस में व्याप्त हो सकते हैं जब तक कि वे हमारी ही भाषा में इस सुंदरता के साथ वर्णित न किए जायँ कि हमारे हृदयों पर अपना अधिकार जमा लें। और जब तक कि उन्हें सर्व साधारण अपने विचार न कहें, तब तक हम ऐसे विचारों को समस्त जाति के विचार नहीं कह सकते।

युरोप के कृत्रिम सौंदर्य पर मुग्ध हो अपने सीधे सादे प्राचीन ढंग को गँवारू समझ उसे त्याग देने से अथवा अपने पैतृक आध्या-

---

* "प्रभा" से उद्धृत।

त्मिक और नैतिक गौरव के गर्व में चूर होकर वास्तविक अमूल्य वस्तुओं को केवल इसलिये त्याग देने से कि उनमें पश्चिमी भावों की छूत लगी है, काम नहीं चलेगा। हिंदी भाषा-भाषियों की अधिक संख्या ऐसी है जिन्हें दूसरी भाषाओं से कोई सम्पर्क नहीं। और हमारे कालेज और स्कूल के मनचले विद्यार्थियों को यह ज्ञान नहीं कि हमारी भाषा का रत्न-कोष कितना बड़ा है। कोई कहता है कि हिंदी गँवारी भाषा है; और किसी के मुँह से सुनाई देता है कि अँगरेज़ी राज्य के पूर्व इसका अस्तित्व ही न था। कोई कहता है कि इसमें मिल्टन की उच्च कल्पनाएँ, शेक्सपियर की चित्रणकला, "ग़ालिब" के से सूक्ष्म भाव और 'नसीम' के शब्दालंकार कहाँ मिल सकते हैं। इसके उत्तर में यदि काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ अपने पुराने ढंग से कुछ कहते भी हैं, तो वह इन नव-युग-आसक्त लोगों की समझ में ही नहीं आता।

इस प्रबंध के लिखने का उद्देश यह है कि साहित्य-संसार को यह ज्ञान हो जाय कि वह खूबियाँ जिन के लिये मुँह से सहसा "वाह वाह" निकल पकड़ती है, साधारणतः हिंदी भाषा में और विशेषतः तुलसीकृत रामायण में अत्यंत मनोहर रूप में प्रस्तुत हैं। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ ऐसी खूबियाँ भी हैं जो अभी अन्य भाषाओं को हमारी भाषा से सीखनी हैं। मेरा कहना यह नहीं कि हिंदी भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा उत्तम नहीं या किसी अन्य भाषा में ऐसे कवि हुए ही नहीं जैसे के हमारी भाषा में। हाँ, मैं यह अवश्य कहूँगा कि साहित्य-गगन में हमारा नक्षत्र भी इस अलौकिक और अनुपम छटा का है कि अभी इसकी ज्योति की कतिपय किरणों का प्रतिबिम्ब भी किसी दूसरे स्थान पर नहीं पड़ता।

सब से प्रथम गुण जो कवि में होना चाहिए वह शब्द-शक्ति* (Sound force) है। यह वह शक्ति है जिस से उत्तम गान, चाहे

* शब्द का प्रयोग लेखक ने ध्वनि के अर्थ में किया है।

वह किसी भाषा का क्यों न हो, अपनी मनोहर शक्ति द्वारा चित्त को चुरा लेता है। इसी शक्ति के वश होकर सर्प 'मोहर' और मृग 'वीणा' पर उन्मत्त हो जाता है। वर्षा ऋतु में जब आल्हा के गायक किसी गाँव में चौपाल की मचिया पर बैठकर ढोलक की थाप के साथ उच्च स्वर में 'खप खप खप खप तेगा बाजे बोले छुपक छुपक तलवार' अलापते हैं, तब वीर राजपूतों की तलवार की चमक और काट तथा युद्ध-क्षेत्र का दृश्य विचित्र स्फूर्ति के साथ एकाएक प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि के सन्मुख आ जाता है।

रोक लेते हैं जो मौजों को करौंदे के दरख्त।
दिल में सर पीट के कहती हैं कि संग आमद सख्त॥

इस शेर के प्रथम चरण के, मौजों (तरंगों) और करौंदे के दरख्तों के आंदोलन-अवरोध तथा दूसरे चरण में मौजों (तरंगों) की सनसनाहट के साथ सर पीटने और ठण्ढी साँसें भरने का चित्र शाब्दिक रूप धारण किए हुए श्रवण-शक्ति के शृंगार-गृह में शोभा पाता है। यह तो साधारण शेर (पद्य, सिंह नहीं) है। अब मैं एक अँगरेज़ी का और दूसरा हिंदी का दो उदाहरण ऐसे देता हूँ जिनसे यह पता लग जाय कि वास्तव में कुशल कवि कैसा मंत्र फूकते हैं, सागर को गागर में कैसे भरते है। अँगरेजी के प्रसिद्ध कथाकार डिकंस ने एक स्थान पर तूफान के भयानक शब्द को (Dread disturbance) इन दो शब्दों में किस विचित्र सौंदर्य्य के साथ प्रस्तुत किया है। तुलसीदास जी ने भी "घन घमंड नभ गरजत घोरा" इन शब्दों में पावस-गर्जन का दृश्य हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक शब्द के और विशेष कर ऐसे गर्जन के शब्द के तीन भाग होते हैं। पहला भाग (Original sound) या मूल शब्द है। गर्जन के आरंभिक शब्द को डिकंस D और T, ड और ट इन दोनों शब्दों में व्यक्त करता है; और तुलसी-

दास जी उसे घ' और 'भ' से व्यक्त करते हैं। शब्द का दूसरा भाग 'शब्द' का पैदा होते ही वायु-मण्डल में तरंगित हो उठना है जिसे (Reverberations) गूँजना कहते हैं। शब्द के इस भाव को दोनों शाब्दिक चित्रकारों ने R या र से व्यक्त किया है। प्रत्येक शब्द का तृतीय भाग अंत में समाप्त होता है। उस समाप्ति को डिकंस ने "S, C" से और तुलसीदास ने 'आ' से व्यक्त किया है।

• यहाँ यह प्रश्न होता है कि (Dread disturbance) में डिकंस ने D और T तथा तुलसीदास ने "घन घमंड नभ गरजत घोरा" में 'घ' और 'भ' से ही शब्द की प्रारंभिक प्रक्रिया को क्यों व्यक्त किया? बात यह है कि शीत-प्रधान इंगलैंड के भयंकर तूफान की गरज में गूँज कम और शब्द की कर्कशता अधिक होती है। हमारे देश में भी पत्थरों की कड़क प्रसिद्ध है। किंतु भारत की वर्षा ऋतु के मेघ-गर्जन की गूँज में शब्द की गूँज अधिक होती है। हाली ने कहा भी है—

जाते हैं कहीं तो कोई जाने। हमराह हैं लाखा तोपखाने।

इंद्र महाराज की तोपों की गड़गड़ाहट से जमीन की छाती दहली जाती है।

अब रहा द्वितीय भाग का विवरण, सो डिकंस के शब्दों में 'र' का शब्द बहुत ही स्पष्ट रूप में है। किंतु क्या तुलसीदास की चौपाई में नहीं? उत्तर स्पष्ट है। ओले की कड़क में दो शब्दों की कर्कशता की तरंग का वेग अधिक होता है, वर्षा ऋतु के गर्जन में कम।

की भाँति अपने शब्द का चित्र खींच देती है। और तुलसीदास ने प्रतिध्वनि के रूप में आ, प्लुत आ, से श्रीरामचंद्र जी से ऐसे स्थल पर (उपदेश-पूर्ण आध्यात्मिक पाठ के साथ) वर्षा ऋतु का दृश्य खिंचवा दिया, जहाँ पम्पासुर के निकट एक छोटी पहाड़ी पर महाराज रामचंद्र जी बैठे हैं और चारों ओर प्रतिध्वनि को ध्वनित करनेवाली पहाड़ियाँ उपस्थित हैं। ऐसी एक नहीं, सहस्रों अमूल्य चौपाइयाँ मोतियों की भाँति तुलसीदास जी के अतुल कोष में भरी पड़ी हैं। आप इस कोष को पश्चिमी सिद्धांत की ही कुंजी से खोलिए और उसे अपने ही नहीं, वरन् सारे जगत् के साहित्य के गौरव का कारण बनाइए।

काव्य की दूसरी शक्ति चित्रशक्ति (Picture force) है। चित्र-शक्ति के उदाहरण प्रस्तुत करने के पूर्व चित्र के गुण निश्चय कर लेना उचित है। गहरे रंग और बाँकेपन के आधुनिक चित्र वास्तव में चित्रकला के नाम पर कलंक लगाते हैं। चित्र वह है कि जिस में चित्रकार की लेखनी चित्र खींचते हुए समस्त भावों का फ़ोटो लाकर सामने उपस्थित कर दे, चित्र का प्रत्येक अंग आंतरिक भाव को बता दे। इस समय हम को अपने मित्र सहर (हंगामी) का एक शेर स्मरण आ गया है जिसमें उन्होंने आनन्दोल्लास और लज्जा के भाव को एक साथ ही अमित सादृश्य के साथ इस प्रकार प्रकट किया है, मानो जीता जागता चित्र सामने खड़ा है।

आह यह जोशे मसर्रत यह तकाज़ाए हया।
खंदः ज़ेरे लब निगाहे शौक़ शरमाई हुई॥

तुलसीदास जीने भी इस दोहे में—

नाम पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रिका, प्रान जाहिं केहि घाट॥

जिस सुंदरता तथा सफलता से अशोक के नीचे राम के स्मरण में तल्लीन बैठी हुई सीता की पद-पृष्ठ पर आँखों की टकटकी

दास जी उसे घ' और 'भ' से व्यक्त करते हैं। शब्द का दूसरा भाग 'शब्द' का पैदा होते ही वायु-मण्डल में तरंगित हो उठना है जिसे (Reverberations) गूँजना कहते हैं। शब्द के इस भाव को दोनों शाब्दिक चित्रकारों ने R या र से व्यक्त किया है। प्रत्येक शब्द का तृतीय भाग अंत में समाप्त होता है। उस समाप्ति को डिकंस ने "S, C" से और तुलसीदास ने 'आ' से व्यक्त किया है।

• यहाँ यह प्रश्न होता है कि (Dread disturbance) में डिकंस ने D और T तथा तुलसीदास ने "घन घमंड नभ गरजत घोरा" में 'घ' और 'भ' से ही शब्द की प्रारंभिक प्रक्रिया को क्यों व्यक्त किया? बात यह है कि शीत-प्रधान इंगलैंड के भयंकर तूफान की गरज में गूँज कम और शब्द की कर्कशता अधिक होती है। हमारे देश में भी पत्थरों की कड़क प्रसिद्ध है। किंतु भारत की वर्षा ऋतु के मेघ-गर्जन की गूँज में शब्द की गूँज अधिक होती है। हाली ने कहा भी है—

जाते हैं कहीं तो कोई जाने। हमराह हैं लाखा तोपखाने।

इंद्र महाराज की तोपों की गड़गड़ाहट से जमीन की छाती दहली जाती है।

अब रहा द्वितीय भाग का विवरण, सो डिकंस के शब्दों में 'र' का शब्द बहुत ही स्पष्ट रूप में है। किंतु क्या तुलसीदास की चौपाई में नहीं? उत्तर स्पष्ट है। ओले की कड़क में दो शब्दों की कर्कशता की तरंग का वेग अधिक होता है, वर्षा ऋतु के गर्जन में कम।

डिकंस "S,C" से शब्द क्यों समाप्त करता है और तुलसीदास जी 'आ' से क्यों? इसको ईश्वरीय प्रसाद के अतिरिक्त और क्या कहा जाय कि स्थान और ऋतु का चित्र दो दो चार चार शब्दों में पूर्ण रूप से खींच दिया है। डिकंस समुद्र के किनारे एक ऐसे तूफ़ान की चर्चा कर रहा है कि जहाँ गरज और कड़क कम होते ही प्रबल पवन तथा समुद्र की लहरें:—

"चलत पुरवाई सूँम सूँम सनानानाना"

की भाँति अपने शब्द का चित्र खींच देती है। और तुलसीदास ने प्रतिध्वनि के रूप में आ, प्लुत आ, से श्रीरामचंद्र जी से ऐसे स्थल पर (उपदेश-पूर्ण आध्यात्मिक पाठ के साथ) वर्षा ऋतु का दृश्य खिचवा दिया, जहाँ पम्पासुर के निकट एक छोटी पहाड़ी पर महाराज रामचंद्र जी बैठे हैं और चारों ओर प्रतिध्वनि को ध्वनित करनेवाली पहाड़ियाँ उपस्थित हैं। ऐसी एक नहीं, सहस्रों अमूल्य चौपाइयाँ मोतियों की भाँति तुलसीदास जी के अतुल कोष में भरी पड़ी हैं। आप इस कोष को पश्चिमी सिद्धांत की ही कुंजी से खोलिए और उसे अपने ही नहीं, वरन् सारे जगत् के साहित्य के गौरव का कारण बनाइए।

काव्य की दूसरी शक्ति चित्रशक्ति (Picture force) है। चित्र-शक्ति के उदाहरण प्रस्तुत करने के पूर्व चित्र के गुण निश्चय कर लेना उचित है। गहरे रंग और बाँकेपन के आधुनिक चित्र वास्तव में चित्रकला के नाम पर कलंक लगाते हैं। चित्र वह है कि जिस में चित्रकार की लेखनी चित्र खींचते हुए समस्त भावों का फ़ोटो लाकर सामने उपस्थित कर दे, चित्र का प्रत्येक अंग आंतरिक भाव को बता दे। इस समय हम को अपने मित्र सहर (हंगामी) का एक शेर स्मरण आ गया है जिसमें उन्होंने आनन्दोल्लास और लज्जा के भाव को एक साथ ही अमित सादृश्य के साथ इस प्रकार प्रकट किया है, मानो जीता जागता चित्र सामने खड़ा है।

आह यह जोशे मसर्रत यह तकाज़ाए हया।
खंदः ज़ेरे लब निगाहे शौक़ शरमाई हुई॥

तुलसीदास जीने भी इस दोहे में—

नाम पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रिका, प्रान जाहिं केहि बाट॥

जिस सुंदरता तथा सफलता से अशोक के नीचे राम के स्मरण में तल्लीन बैठी हुई सीता की पद-पृष्ठ पर आँखों की टकटकी

लगी हुई दशा का चित्र खींचा है, उसे मर्मज्ञ ही समझ सकता है। उन्होंने पंच ज्ञानेंद्रियों में विशेष कार्यकर्ता श्रवण, नेत्र और जिह्वा को रूपक के बंदीगृह में कैसा जकड़ा है। जिह्वा पर राम-नाम का पहरा है। अतएव इस मार्ग से प्राण का निकलना अथवा मृत्यु का आना कठिन है। इसी भाँति जिह्वा तो राम-नाम के आनन्द में लीन है और श्रवण जिह्वा से निकले हुए आध्यात्मिक आनन्द से पूर्ण उस नाम के सुनने में तल्लीन हैं। (यह स्मरण रहना चाहिए कि अपनी जिह्वा का शब्द चाहे वह कितना ही मंद क्यों न हो, कानों को अवश्य सुनाई पड़ता है।) आह! फिर यह तन्मयता या पहरा भी किस ग़ज़ब का है कि "दिवस-निसि" दिन रात रहता है, कोई समय ख़ाली नहीं। आलस्य का कहीं पता नहीं। 'लोचन निज पद जंत्रिका' दृष्टि में सूत्र की कैसी सुंदर ज़ंजीर है। पैर पर तल्लीनता की टकटकी लगी हुई है। जब मनुष्य का ध्यान अधिक गहराई में होता है, तब वाह्येंद्रियाँ इसी प्रकार प्रकट रूप में एकाग्र हो जाती हैं। टेनिसन Tennyson ने भी Passing of Arthur में, जब सर वेडीवेर (Sir Bedivere) आर्थर की तलवार फेंकने अथवा छिपाने के संबंध में सोच विचार कर रहा था तब, लिखा है कि वह (Counting the dewi bebbles) ओसकण की गणना कर रहा था। अब उन अंतरेंद्रियों को लीजिए जिनके लिये 'ध्यान तुम्हार कपाट' राम के ध्यान का कपाट है। दर्शन शास्त्र का कहना है कि मनुष्य अपने मन से जिस वस्तु का ध्यान निकाल डाले, उसका अस्तित्व वहाँ नहीं रह सकता। भला जब भीतरी और बाहरी इंद्रियों को राम के अतिरिक्त किसी और बात को स्मरण करने का समय ही नहीं, तब फिर मृत्यु बेचारी की क्या शक्ति है कि इस सदेह तन्मयता में प्रवेश कर सके। ऐसे उत्तम शब्द-चित्र उन लोगों की भाषाओं में कितने हैं जो हमारी भाषा को गँवारी भाषा कहने का दुस्साहस करते हैं? हमारा कहना यह नहीं कि ऐसे चित्र अन्य भाषाओं में हैं ही नहीं। परंतु

प्रश्न यह है कि इस श्रेणी के चित्र कितने और किस ढंग के हैं?

अँगरेज़ी भाषा के पंडित प्रायः कहा करते हैं कि शेक्सपियर के चित्रों का प्रभाव बायस्कोप (Bioscope) का सा होता है। अर्थात् चलती फिरती तस्वीर सामने आ खड़ी होती है। वास्तव में है भी ऐसा ही। शेक्सपियर इन्हीं विशेषणों के कारण काव्य-संसार के राजाओं में समझा जाता है। किंतु क्या विविध आकर्षणों तथा प्रेम-प्रभावों का चित्र निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहे से बढ़कर और कहीं मिल सकता है—

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

अब तुलसीदास का भी एक वैसा ही चित्र देखिए। जब धनुष-यज्ञ में देश-देशांतरों के बडे बड़े राजाओं से शिव जी का धनुष तिल भर भी न हट सका और स्वभावतः राजा जनक ने क्रोध और निराशा के ये वाक्य कि, "वीर-विहीन मही मैं जानी" भरी सभा में कह डाले, तब लक्ष्मण जी को वे असह्य हो गए। जनक के क्रोधपूर्ण शब्दों ने बाण से भी अधिक काम किया। वीर क्षत्री बालक तड़प गया।

माखे लखन कुटिल भई भौंहें। रद-पट फरकत नयन रिसौहें॥

इन शब्दों में उस दशा के आवेग के समस्त भावों का चित्र कवि ने किस सुंदरता और कुशलता से खींचा है!

इस समय हमें लक्ष्मण के रूप में बीसवीं शताब्दी का एक स्वाभिमानी युवक आवेश की स्टीम से भरा हुआ देख पड़ता है। किंतु खेद है कि इस स्टीम को एकाएक रोक देने के लिये कभी कभी हमारे नवयुवकों में अनुशासन (Discipline) नहीं होता। किंतु लक्ष्मण के उस आवेग के रोकने के लिये श्री रामचंद्र जी का संकेत पर्याप्त था। "सैनहि रघुबर लखन निवारे।"

इन दोनों शक्तियों के अतिरिक्त एक और तीसरी शक्ति है जिसके बिना कविता कविता नहीं कही जा सकती।

वर्तमान समय के सबसे बड़े कवि रवींद्र बाबू का कहना है कि कवि वह है जो अपने को वस्तुओं के अंतस्तल में तन्मय कर दे। (A poet is he who loves himself into the heart of things) "नसीम" का भी कहना है कि "मरकज़ पे कशिश मेरी पहुँच जाय।" मरकज (केंद्र) से "नसीम" का तात्पर्य भावुकता के केंद्र से है। इस शक्ति को भावशक्ति (Heart-force) कहते हैं। जिस प्रकार तर्क-शास्त्री (नैयायिक) बुद्धि के रूप में अपने सिद्धांत को क्रमशः मस्तिष्क तक पहुँचा देता है, उसी प्रकार कवि अपनी बात को एक ऐसे मन-भावने रूप में प्रस्तुत करता है कि उसका साक्षात् चित्र सामने उपस्थित हो जाय। वह वाक्-शक्ति से मानवी श्रवण शक्ति को ऐसा मुग्ध कर लेता है कि उस राग के अतिरिक्त और कोई राग अच्छा ही नहीं लगता; और इस प्रकार हृदय पर अधिकार जमा लेता है। इसका फल यह होता है कि तर्कशास्त्री (नैयायिक) की बातों का प्रभाव कदाचित् मस्तिष्क ही तक परिमित रह जाय, परंतु कवि श्रोताओं को नख से शिख तक मंत्र-मुग्ध कर देता है।

अब मैं वर्तमान काल के मनचले पाश्चात्य साहित्य-प्रेमियों को पहले उन्हीं की वाटिका की सैर कराता हूँ। मैं उनको यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि अँग्रेज़ी के जिस उद्यान में वे टहलते हैं और जिसके पुष्पों के साधारण निरीक्षण ने उनको इतना प्रमत्त बना रक्खा है, यदि वे उसके फूलों के "रस" को मधुप की भाँति ठहर ठहर कर पान करें, तो अनुभव करेंगे कि वास्तव में हमारी वाटिका नंदन-वन से कम नहीं। उन्हें "नरगिस" की निराली चितवन "सौसन" की ज़ुबाँ-दराज़ी और "कुमरी" के उन्मतकारी राग और "सर्व" के माशूक़ाना ढंग का उसी समय ठीक पता लगता है। आइए, पहले "रसकिन" के कथनानुसार किसी अँग्रेज़ी वाक्य का शाब्दिक निरीक्षण करें। किंगस्ले नामक सफल कथाकार ने एक

ऐसे स्थान की चर्चा करते हुए, जहाँ सदैव वसंत विराजता है, पतझड़ की प्रशंसा में कहा है कि, "गत वर्ष, नवीन वर्ष के लिये हार गूँथने को मुसकराता हुआ घसिट रहा है।" (The old year lingers smilingly to twine a garland for the new.) इस रूपक में पतझड़ की ऋतु को वृद्ध पुरुष के रूप में मनुष्य का जामा पहनाने में, ऋतु का फोटो सामने लाकर खड़ा कर दिया गया है। हिम का श्वेत वर्ण वृद्धावस्था के श्वेत केशों की भाँति है। यौवन की आवेगपूर्ण उष्णता का भी समय शेष नहीं रहा है; इसलिये (Lingers) घसिटना बड़ा ही सार्थक शब्द है। वृद्ध वर्ष उस रमणीक स्थान से जहाँ वह प्रकृति के शृंगार पर आसक्त रहकर १२ मास तक रहा, जाना नहीं चाहता। प्रकट रूप में वह स्वार्थ, खेद और अभिलाषा के भावों से युक्त है। जैसे "सहर" साहब शकुंतला के कण्व ऋषि के आश्रम से विदाई की चर्चा करते हुए कहते हैं "दीवार से दर से मिल के रोई", कुछ वही बात इस शब्द Lingers में भी है। किंतु स्वार्थ अथवा खेद का दोष हमारे वृद्ध वर्ष में नहीं है। उसका ठहरना या रुकना कुछ और ही अर्थ रखता है; क्योंकि Smilingly ने स्पष्ट रूप में प्रकट कर दिया है कि यद्यपि मनोरम दृश्य होने के कारण हमारे वृद्ध वर्ष को उसका वियोग बुरा लगा है, तथापि मुसकराहट इस बात का प्रमाण है कि इस कृतज्ञ "वर्ष" ने १२ मास तक अपना कर्तव्य पूर्ण रीति से पालन किया। अतएव अब "सादी" के कहने के अनुसार:—

आँ चुनाँ ज़ी कि वक्तं मुरदने तो,
हमः गिरियाँ बुवंदो तो खंदाँ।

संतोष की प्रसन्नता मुसकराहट के रूप में प्रकट है। फिर शब्द मुसकराहट है, ठट्ठा मारकर हँसना नहीं। यह क्यों? कारण स्पष्ट है कि ठट्ठा मारकर हँसना यौवन का चिह्न है जो वृद्धावस्था की गंभीरता के विरुद्ध है।

दूसरे विदाई का समय है। ठट्ठा मारकर हँसना हार्दिक भावों के विरुद्ध होता है। तीसरे रूपक के रूप में ठट्ठा मारकर हँसना फलों के खिलने का द्योतक है। अतएव पतझड़ के थोड़े से फूलों की उपमा वृद्ध वर्ष की मुसकराहट से दी गई है। अब दूसरा दोष स्वार्थ रहा। वह "to twine a garland for the new" (नूतन वर्ष के लिये हार गूँथने के लिये) शब्दों से किस खूबी के साथ दूर हो जाता है। अर्थात् उदारचित्त 'वर्ष' के ठहरने का अभिप्राय यह है कि वह अपने आनेवाले पदाधिकारी के स्वागत के लिये एक सुंदर हार गूँथ ले। यह भी सोचने की बात है कि केवल एक ही हार गूँथने की कृपणता क्यों? पुष्प-वृष्टि क्यों नहीं? इसके कारण निम्न लिखित हैं—

(१) पतझड से थोड़े से बचे खुचे फूल रहे हैं। इतनी अधिकता नहीं कि लुटाए जा सकें। वृद्ध वर्ष परिश्रम से एक एक फूल चुन कर हार गूँथ रहा है।

(२) उपेक्षा के साथ डलियों से फूल लुटाना वृद्धावस्था की गंभीरता के विरुद्ध है।

(३) फूलों के लुटा देने में यौवन के थोड़ी देर के उबल पड़नेवाले आनंद-वेग का भान होता है; इतने गहरे और चिरस्थायी प्रेम का नहीं, जो परिश्रमपूर्वक एक एक फूल चुनकर केवल एक हार गूँथने में पाया जाता है।

वसंत की मनोहरता के चिह्न अब भी शेष हैं। गद्य-लेखक ने किस सौंदर्य के साथ विगत वर्ष की प्रशंसा की है; और साथ ही नूतन वर्ष का आगमन तथा नव आशाओं का चित्र सामने उपस्थित किया है। ऐसा कौन हृदय होगा जो इस विगत वर्ष को, जिसने अपने संरक्षण में बारह मास तक उपवनों का सौंदर्य स्थिर रक्खा, आनंद और प्रेम के साथ नूतन वर्ष का स्वागत करते देख और

प्रसन्नता से इस ध्यान में मग्न न हो जाय कि कृतज्ञ 'वर्ष' को नवागत होनहार वर्ष से अनेक आशाएँ हैं।

इसी प्रकार शब्दों के पारखी एक एक शब्द को परखकर अनमोल हार तैयार करते हैं। विषय बढ़ गया, इसलिये उर्दू भाषा से केवल एक ही उदाहरण पाठकों के सामने और उपस्थित किया जाता है। यदि कभी अवकाश मिला तो दिखाऊँगा कि 'नसीम' का यह सादा शेरः—

'बाक़ी साक़ी शराब दे दे।
साक़ी बाक़ी जो कुछ हो ले ले॥

इस साहित्य-कसौटी हर कैसा खरा उतरता है। यहाँ कवि के शब्दों का बदलना तो दूर रहा, उनमें उलट-फेर भी नहीं कर सकते।

अब उस भाग की तरफ भी आइए जिसे लोग गँवारू कहते हैं। जो बहु-मूल्य रत्न-जटित हार आप को हिंदी के कोष से भेंट किया जाता है, वह एक देहाती गीत का प्रथम चरण है। 'कहे मँदोदरि सुनो लंकपति सिया न तेरे काम की है। दे दे सिया को पिया तू यह प्यारी सीता राम की है॥' भाषा प्राकृतिक रंग में ऐसी रँगी है और कृत्रिमता से इतनी दूर है कि बाह्य काव्य की कृत्रिमता पसंद करनेवालों को हिंदी की सरलता ही उसका दोष प्रतीत होती है। जिन्होंने Scott के Ballads नहीं पढ़े, उनको "मोहबेवाले बड़े लड़ैया जिनके बल का वार न पार" आल्हे के सादे चरण का क्या ज्ञान? उनको कदाचित् जामी की भाँति युद्ध में अस्थियों के चूर चूर होने का एक रूपक बादाम चबाना ही भला जान पड़ेगा। हर्ष की बात है कि समय के साथ साथ साहित्य-संसार ने भी रंग बदला है; और हिंदी अँग्रेजी के स्वाभाविक सौंदर्य ने कालगति के कारण भारतवर्ष के साहित्य-संसार पर अपना रंग जमाना आरम्भ कर दिया है। आइए, लंकापुरी में महाराजा रावण और उनकी पटरानी मंदोदरी का वार्तालाप सुनें। कवि कहता है—"कहे [illegible] सुनो

लंकपति सिया न तेरे काम की है। दे दे सिया को पिया तू यह प्यारी सीता राम की है ॥"

कवि अवश्य देहाती है; क्योंकि उसने "मंदोदरी" के स्थान पर "मँदोदरि" का प्रयोग किया है। यद्यपि इसके भीतर भावों का वह कोष है जिसका मूल्य भावुक हृदय ही परख सकता है, किंतु जहाँ तक वाक्-शक्ति इनको प्रकट कर सकती है, वहाँ तक मैं अपने पाठकों के सामने निवेदन करने का प्रयत्न करूँगा।

पहले पद्य का प्रथम अर्द्ध चरण लीजिए। मंदोदरी उन पाँच पवित्र महिलाओं में से है जिन्हें पंचकन्या कहते हैं और प्रातःकाल जिनका नाम लेना शुभ समझा जाता है। ऐसी स्त्री का पति एक ऐसा घोर पाप करना चाहता है जिसके स्मरण-मात्र से आत्मा काँप उठती है। रानी किसी प्रकार उसको इस कार्य्य से वंचित रखना चाहती है। वह बुद्धिमती रानी जानती है कि मेरे पति-देवता रावण का भी अपनी आन-बान (मान-मर्यादा) की संरक्षकता का भाव एक ओर तो परिणत होकर आचारिक सौंदर्य्य के रूप में और उससे भी अधिक दूसरी ओर अहंकार के रूप में काम कर रहा है।

मिल्टन के कथनानुसार निर्बल आत्माओं में आदि से अंत तक अहंकार का दोष होता है; और महान्-आत्माओं में यह अंतिम दोष है जो समस्त दोषों के दूर हो जाने पर भी प्रायः शेष रहता है। अर्द्ध चरण में रानी इसी आन-बान के ध्यान और अहंकार के भाव को सम्मिलित करके अपना काम निकालना चाहती है। यह भी ठीक है; क्योंकि अगर किसी से उसके विचारों को दृष्टि में रखते हुए प्रार्थना की जाय तो उसी समय सफलता की आशा होती है। इसी लिये मंदोदरी रानी की हैसियत से महाराज रावण से मान के साथ कहती है। इसी संबंध में 'कहै' का जिसमें प्रतिष्ठा का भाव पाया जाता है, प्रयोग किया गया है, और रावण को भी लंक-

पति (लंका के राजा) के सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। फिर सिया और लंकपति! मंदोदरी रावण की शान में लकापति जैसे शानदार नाम का प्रयोग करती है; और उसके सम्मुख सीता जी के लिये सिया जैसा छोटा नाम जिह्वा पर लाती है। अभिप्राय यह कि लंकपति को यह कदापि उचित नहीं कि सिया जैसी तुच्छ स्त्री पर दृष्टि डाले। यही नहीं, वरन् किसी किसी समय कवि, जिसकी रवींद्र नाथ टागोर उस प्यारी बाँसुरी से उपमा देते हैं जिसके छिद्रों से प्रकृति के शब्द निकलते हैं, ऐसी उत्तम बातें लिखता है जिनके सौंदर्य को सम्भवतः वह स्वयं भी न समझे, किंतु जिसकी खूबियाँ बाद में प्रकट हुए बिना नही रह सकतीं। कवि देहाती है, अतएव मेरी धारणा है कि शब्दों का वह सौंदर्य जो अब वर्णन किया जायगा, संभव है उसके ध्यान में उस समय न आया हो। किंतु वह इन दोनों शब्दों के विरोधाभास अलंकार के सौंदर्य को दूना कर रहा है। फिर सिया का शाब्दिक अर्थ "हल के कूँड़े से पैदा होनेवाली" है और सीता जी का नाम भी इस कारण सिया था कि वे राजा जनक को खेत में मिली थीं। कैसा सुंदर संबंध है। ऐसी तुच्छ हैसियतवाली स्त्री लका जैसी कांचन-पुरी के राजा की स्त्री बनने के योग्य कैसे हो सकती है?

जहाँ पूरा पद समाप्त होने पर हमें कुछ विराम की आवश्यकता है, वहाँ उसी विराम की इसलिये भी आवश्यकता है कि मंदोदरी को इस बात का पता लगे कि उसकी बातों का रावण पर क्या प्रभाव पड़ा। ज्यों ही रावण के मुख पर मंदोदरी की दृष्टि पड़ी कि तत्क्षण विद्युत् के सदृश यह भाव उसके मस्तिष्क में दौड़ गया कि वासना के दास रावण की प्रतिष्ठा और अहंकार का भाव भी चला गया और अब उसको अपनी राजसी मर्यादा की भी परवाह नहीं। रानी तड़प जाती है; और अत्यंत बुद्धिमत्ता के साथ, जिसमें कुछ निराशा की झलक भी है, अपनी बातों का ढंग बदलती है और

अपने पति को इस पाप से वंचित रखने के लिये जी तोड़कर अंतिम चेष्टा करती है।

पाठकों को यह तो मालूम होगा कि इस अवनति काल में भी आर्य स्त्रियाँ सेवा, कृतज्ञता और सहिष्णुता में संसार में अपनी उपमा नहीं रखतीं। कैसी सच्ची सहिष्णुता है कि पत्नी की हैसियत से अपने पत्नीत्व के स्वत्व पर विवाद करते हुए अपने स्वार्थ से लगाव रखनेवाली प्रार्थना कभी उसकी जिह्वा पर न आवे। परंतु मंदोदरी की यह अंतिम चेष्टा है। पति को पाप से बचाने का कठिन प्रश्न उपस्थित है। पति का गर्व भी कुछ सहायता नहीं करता। अस्तु, विवश होकर अंतिम उपाय का अवलंबन करती है और पत्नीत्व के स्वत्व का स्मरण दिलाते हुए कैसे जोर के साथ कहती है कि:—'दे दे सिया को पिया तू!' अहाहा इस एकाएक परिवर्तन में नाटक की यवनिका बदलने का सा आनंद आता है। पल भर में ही राजा-रानी के स्थान पर पति और पत्नी सन्मुख हैं। 'कहैं' के प्रतिष्ठा-पूर्ण शब्द के स्थान पर सीधा सादा बल और स्वत्व से भरा हुआ 'दे दे' का शब्द कहा जाता है (वास्तव में घर में और विशेष कर ऐसे स्थल पर कृत्रिमता के शब्द बुरे लगते हैं)। पिया का प्यारा शब्द, वह शब्द जिसको हिंदू स्त्रियाँ अपने प्रेम भरे सच्चे भावों के प्रकट करने को संसार के कानों से दूर प्रयोग करती हैं, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पत्नीत्व के स्वत्व पर पूरा विश्वास है और पति के भावों के उभारने की पूर्ण चेष्टा की जा रही है। कुछ क्रोध की झलक भी अवश्य है। कहना यह है—हे दुष्ट रावण! तेरी स्त्री तो मैं हूँ। क्यों पर-स्त्री को अपनाना चाहता है? मेरे होते हुए तुझे इस बात का कोई स्वत्व नहीं। किंतु पूजनीय हिंदू स्त्रियों की जिह्वा से, जो कभी सदाचार की परिधि से बाहर नहीं जातीं, ऐसे स्थल पर भी पति के लिये कटु शब्द नहीं निकलते। अतः रानी इसी बात को बड़ी सुंदरता के साथ यों कहती है—"यह प्यारी सीता

राम की है।" अभिप्राय यह है कि तेरी तो मैं हूँ; यह सीता तो राम की है। तुझे सीता पर कोई अधिकार नहीं। यह सब बातें वह ऐसे प्रबल ढंग से कहती है कि तेरी स्त्री होने की हैसियत से मुझे यह स्वत्व प्राप्त है कि मैं तुझको बल-पूर्वक ऐसा करने के लिये विवश करूँ। 'दे दे' इसी लिये कहा गया है। (कटु बातों को मृदुलता से कहने का) इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है। बिहारी, तुलसी और सूर का तो कहना ही क्या, जिस भाषा के तुच्छ तुच्छ पद्यों में भी ऐसी खूबियाँ उपस्थित हैं, क्या वह भाषा या उसका साहित्य इस योग्य नहीं कि विश्वविद्यालयों की कक्षा में पढ़ाया जा सके? मेरा अंतिम निवेदन यह है कि इस प्रबंध को कालेज के विद्यार्थी विशेष रूप से पढ़ें और उनसे भी अधिक वे महापुरुष पढ़ें जिन्होंने हिंदू विश्वविद्यालय के पाठ्यविषय नियत किए हैं।

'शबनम से जो वजहे गिरियाँ पूछी तो कहा।
रोना फकत अपनी बे-सबाती का है।'

ठीक इसी प्रकार हम प्रयाग विश्वविद्यालय को दोष क्यों दें, जब कि अपनी जाति के ही लोगों को अपनी भाषा पर इतना भरोसा नहीं कि उसको कम से कम आवश्यक विषय ही की भाँति रख सकें। क्या केवल हिंदी लेखन-कला से ही काम चल सकता है? आह! क्या नौरत्न तथा तीस से अधिक प्रथम श्रेणी के, सत्तर से अधिक द्वितीय श्रेणी के और तीन सहस्र से अधिक और कवि रखनेवाली शताब्दियों की वह भाषा जिसके भक्त कबीर, रहीम, मलिक मुहम्मद जायसी और अमीर खुसरो जैसे उच्च विचार के मुसलमान तक रहे हैं और जिसकी प्रतिष्ठा 'नियाज' फ़तेहपुरी जैसे प्रसिद्ध कवि अब भी करते हैं, इस योग्य नहीं कि हिंदू उसे अपने विश्वविद्यालय में विशेष स्थान दें? क्या बिना हिंदी के हिंदू विश्वविद्यालय नाम रखना अनुचित नहीं? क्या निजाम सरकार हैदराबाद के कार्यक्रम से उपदेश नहीं लिया जायगा?

काव्य के दो बड़े भेद हैं,—एक तो वह जिस की कसौटी शेक्स-पियर 'प्रकृति-दर्पण' ठहराता है, जिसमें प्रतिदिन के सामान्य गीतों से लेकर नाट्यकला के उच्च आदर्श तक सम्मिलित हैं। इस कला का निपुण कवि मनुष्य के हृदगत भाव, उनके संबंध और प्राकृतिक दृश्य का यथातथ्य चित्र 'दर्पण के समान' सामने रख देता है। यदि कुछ अंतर होता है तो केवल इतना ही कि [illegible] प्रकृति में जो बुराइयाँ हैं, वे इस ढँग पर दिखलाई जाती हैं कि देखनेवालों को उनसे शिक्षा मिल सके और उसकी अच्छाइयाँ ऐसे चित्ताकर्षक ढँग से सामने लाई जाती हैं कि हृदय अवश्य ही उनकी ओर खिंच जाय। किंतु ऐसा कवि शिक्षक के रूप में प्रत्येक समय सामने नहीं रहता, इसलिये प्रायः सामान्य त्रुटियों के उभारने में भी निस्संदेह कुछ न कुछ सहायता पहुँच जाती है, कवि का अभिप्राय चाहे इसके प्रतिकूल ही क्यों न रहा हो। उदाहरण रूप में वह प्रभाव सामने है जो आजकल देश के नवयुवकों को नाटक तथा उपन्यास के अध्ययन-वाली 'लत' दिखला रही है।

दूसरे प्रकार का भेद वह है जो लोगों के सामने अनुकरण करने के लिये चुने हुए नियमों को रखता है। ऐसे कवि का हार्दिक अभिप्राय यह होता है कि उन व्यक्तियों के चित्र सामने लाए जायँ जिन के दर्शन से प्रभावित होना हमारे लिये उन्नति का कारण हो। कवि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रायः संसार को छोड़कर स्वर्ग, नरक, देवताओं और राक्षसों के चित्र खींचता है जिससे हमारी विचार-शक्ति इस प्रकार प्रभावित हो जाय जैसी केवल सामान्य मानवीय क्षुद्र चरित्र-चित्रण से सम्भव नहीं। ऐसी रचना की उच्च कक्षा पर महाकाव्य (Epic poetry) है। किसी ने कितना अच्छा कहा है "Shakespeare's imagination was horizontal and that of Milton vertical" अर्थात् शेक्सपियर की रचना प्राकृत थी और मिल्टन की—जो दूसरी श्रेणी का बहुत बड़ा कवि हुआ है—

अप्राकृत तथा ऊँची उड़ान भरनेवाली। एक सांसारिक दृश्यों का वर्णन करता है और दूसरा पृथ्वी पर पैर नहीं रखता। इसी कारण अँग्रेज़ी काव्य-कला के समालोचकों की धारणा है कि शेक्सपियर मिल्टन नहीं हो सकता और न मिल्टन शेक्सपियर। किंतु हिन्दी के प्रसिद्ध और विख्यात कवि तुलसीदास ने इस असम्भव बात को सम्भव करके दिखला दिया है।

तुलसीकृत रामायण के बालकाण्ड में एक स्थान पर महाराज रामचंद्र और महारानी सीता दोनों राजकुमार और राजकुमारी के रूप में जनकपुर के एक मनोहर उपवन में टहलते हुए शृङ्गार-रस में निमग्न दिखलाई देते हैं। जीते-जागते प्रेम की पारस्परिक आकुलता देखकर हृदय एकाएक बोल उठता है कि मेरा पूर्ण-त्रुटिहीन-चित्र यही है। आभूषणों और घुँघरू की झनकार इस बात के लिये पर्य्याप्त होती है कि राजकुमार के हृदय को अधीर करके स्वयं उसी के मुँह से प्रेम की विजय-घोषणा करा दे,—

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विस्व-विजय कहँ कीन्हीं॥

इससे भी अधिक रोचक वह बात-चीत है जिसमें राजकुमार अपनी प्रेम-विमग्नता की चर्चा लक्ष्मण से करते हैः—

करत बतकही अनुज सन, मन सिय-रूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरंद-छवि, करै मधुप इव पान॥

बातें तो भाई से हो रही हैं, पर ध्यान सीता की सौंदर्य-कल्पना में लगा हुआ है। भ्रमर के समान कमल से रस चूसना—कितनी उत्तम उपमा है! सीता की अधीरता का चित्र भी तुलसीदास ने कितना प्रभावपूर्ण खींचा है—

धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरि आपनपौ पितु-बस जाने॥
देखन मिस मृग विहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥

प्रेम का भाव वेग हृदय को अधीर किए हुए है। तरुणाई का

स्वाभाविक लजीलापन, जो मानवीय सभ्यता का एक प्रधान अंग है, इस बात की आज्ञा नहीं देता कि फिरकर प्रेमाधार के दर्शन कर सके। सखियाँ साथ हैं और फिर प्रिय-मिलन भी पिता के कठिन प्रण पर निर्भर है। अतृप्त, आकुल हृदय चाहता है कि फल, फूल, पेड़ और पक्षियों के देखने के बहाने से ही उस आत्म-मुग्धकारी सौंदर्य की एक झलक देख ले, और देखने में —

मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की।

किंतु पलक झपकते ही दोनों पात्र मानवीय वेश छोड़कर देवता और देवी का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और ऊपर का सम्पूर्ण दृश्य उनकी 'लीलाओं' के रूप में पलट जाता है। सीता की सुकुमार सौंदर्य-प्रतिमा "जगत जननि सोभा अति भारी" में-मातृत्व (Beauty of the universal Motherhood) का भाव आ जाता है और राम 'जगतपति राम सुजान' बनकर सामने आते हैं। शेषावतार लक्ष्मण के " सकोप वचन " से 'डग-मगान महि दिग्गज डोले' संसार को हिला देने का दारुण विभीषिकामय दृश्य सामने आता है। यहाँ पर तुलसीदास ने अपनी कला की पराकाष्ठा का एक महान् अद्भुत उदाहरण दे दिया है।

वास्तव में तुलसीदास नाट्य-लेखन-कला के पण्डित हैं। कौन नहीं जानता कि सारी रामायण अंकों और दृश्यों में बाँटकर रामलीला के अवसर पर किस मनोमोहकता के साथ दिखलाई जाती है। यूनान के नाटक-लेखकों का सिद्धांत था कि नाटक लिखने में अवसर, स्थान और घटना के संकलन (Unities of time, place & action) पर ध्यान रहना चाहिए। वे नाटक को इस प्रकार अनुक्रमित करते थे कि अभिनीत-काल की अपेक्षा न सही, तब भी थोड़े ही समय में नाटक की समूची मूल कथा समाप्त हो जाय। अर्थात् ऐसा नहीं कि एक दृश्य में आज की बात है तो दूसरे में सौ वर्ष पीछे की। इसी प्रकार स्थान और घटना के संकलन का विचार

भी अनिवार्य्य समझा जाता था। परंतु शेक्सपियर जैसे स्वतंत्र विचार के नाटक-लेखक ने उन सिद्धांतों को पूर्णतः कृत्रिम समझ कर त्याग दिया। है भी सचमुच अत्यंत ही कठिन काम, कि प्रेम-भाव की सब श्रेणियाँ किसी ऐसे नाटक में दिखला दी जायँ जिस का समय केवल दो तीन दिन में समाप्त हो जाय। शेक्सपियर से महाकवि को भी अपने "Tempest" नामक नाटक में उपर्युक्त संकलन का ध्यान रखने के कारण प्रेमिक का हृदयावेग परखने के लिये लट्ठों के उठाने आदि कृत्रिम उपायों से काम लेना पड़ा है। लेकिन तुलसीदास ने जनकपुरवाली बाज़ार की सैर से धनुषयज्ञ के अंत तक एक पूरा नाटक समाप्त कर दिया है। इस नाटक को इस प्रकार क्रम दिया गया है कि इसमें काव्य के सभी, नवो, रस आ गए हैं। राजाओं की आपस में खींचातानी, जनक की निराशा, लक्ष्मण का कोप, सीता की माता की व्याकुलता, सीता की अधीरता तथा लक्ष्मण और परशुराम की बात चीत बीच में लाकर प्रेम भाव की वह परख की है कि सीता जी निराशा की मूर्ति बनी सामने खड़ी हैं। और प्रेम इस परख में खरा उतरकर अपने विश्वास की ऊँची कसौटी पर (जापर जाकर सत्य सनेहू। अवसि मिलै नहिं कछु सन्देहू) एक आशान्वित विचार बन गया है। जो लोग प्रेम की उलझन और काव्य की बारीकी समझते हैं, वे भले प्रकार जानते हैं कि इस श्रेणी पर पहुँचाने के लिये कितना समय चाहिए और यह मार्ग कितना कठिन है। शेक्सपियर की चित्रशाला में Portia के अतिरिक्त कदाचित् ही कोई महिला इस श्रेणी के निकट तक पहुँची होगी। पदों की व्याख्या करते हुए मैं पाठकों को बतलाऊँगा कि प्रेम के आरम्भ से इस श्रेणी में पहुँचने तक उसकी सब श्रेणियाँ और कठिनाइयाँ इतने ही समय में कितनी सुंदरता के साथ तै कराई गई हैं। और आनंद यह है कि कहीं कोई बात मानवीय स्वभाव के प्रतिकूल नहीं जान पड़ती और न यही जान पड़ता है कि

कवि ने अपना मस्तिष्क खरोंचकर, बड़ी कठिनाई से, सोच साच-कर लिखा है।

काव्य-कला के समालोचकों की यह भी धारणा थी कि खेद और आनंद काव्य की दो विपरीत शक्तियाँ हैं। इनका मिश्रण कठिन है। किंतु अँगरेज़ी के महाकवि शेक्सपियर ने Merchant of Venice के न्यायालयवाले दृश्य में यह दिखला दिया है कि दोनों शक्तियाँ किस उत्तमता के साथ मिलाई जा सकती हैं। उधर तो Antonio (अंटोनियो) के प्राणों पर आ बनी है और इधर निर्दय Shylock (शायलाक) का पत्थर सा हृदय पिघलता ही नहीं; जिसके लिये ठीक ही कहा गया है:—

Not on the sole but on thy soul, harsh Jew, thou makest thy knife keen (ऐ दुष्ट यहूदी ! तू अपने पद-तल पर नहीं, प्रत्युत् अपनी आत्मा पर छुरी तेज़ कर रहा है)। और पास ही पास मुस्कुराहट के साथ महिलाओं और अँगूठी के उपहास हैं। तुलसीदास की रामायण में इससे कहीं अच्छे ढँग पर 'धनुषयज्ञ' में एक ओर तो लक्ष्मण का परशुराम के साथ 'राजपूती' और निर्भीकता से भरा हुआ चुलबुला उपहास है और दूसरी ओर सीता जी, उनकी माता और महाराज जनक के निराशाजनित ज्वार-भाटे के दृश्य हैं। अब यह अनुमान करने की बात है कि एक का दूसरे पर क्या प्रभाव है !

तुलसीदास केवल कवि न थे। रामायण लिखने से उनका अभिप्राय केवल यह न था कि काव्य की एक अनोखी रचना संसार में छोड़ जायँ, वरन् मिल्टन के समान उनका भी यही उद्देश्य था कि अपनी आयु का एक बहुत बड़ा भाग तैयारी में लगाकर—

श्री गुरु-चरन सरोज-रज, निज मन-मुकुर सुधार।
बरनौं रघुबर बिमल जस, जो दायक फल चार॥

गुरु के कमल रूपी चरणों की धूल से अपने मन-मुकुर को

स्वच्छ करके राम के उस पवित्र चरित्र को वर्णन करें जिससे चारों फल अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्त हों। और इसी लिये उन्हों-ने अपने नायक के जीवनचरित्र का ऐसे विस्तार के साथ वर्णन किया है कि हम उसका अनुकरण कर सकते हैं और उससे अपने जीवन के लिये अनेक उचित शिक्षाएँ ले सकते हैं। फुलवारी में दोनों राजकुमारों का पूरा टाइम-टेबुल बाँधा गया है। शिक्षा का समय समाप्त हो चुका है, और अब अवकाश पाकर सैर और भ्रमण में लगे हुए हैं। इसलिये यद्यपि टाइम-टेबुल में पढ़ने के समय की सी कड़ाई नहीं है: परंतु फिर भी प्रत्येक कार्य्य-प्रणाली स्पष्ट रूप से पुकारकर कह रही है कि काम करना प्रारम्भ करो, स्वभाव स्थिर करो, सौजन्य आप आ जायगा। सौजन्य राम और लक्ष्मण के चरित्र का अंश बन चुका है और इसलिये स्पष्ट है कि 'सौजन्य ग्रहण करो, भाग्य आप बन जायगा'।

इस प्रकार के स्वभाव और ढंगवाले संसार में क्या न कर जायँगे? उत्तम शिक्षा और सुधार का प्रभाव उनके प्रत्येक भाव, गति और वार्त्तालाप से प्रकट है। अधिक नहीं तो केवल इसी सुधार के साथ वर्त्तमान शिक्षा के प्रभाव की तुलना कीजिए कि लक्ष्मण जैसे आवेश-युक्त राजकुमार का सम्पूर्ण आवेश और आवेग एक क्षण में दबा देने के लिये राम की पलक का केवल एक संकेत पर्य्याप्त होता है,—

सैनहिं रघुपति लषन निवारे।

बस, पराकाष्ठा है। शृंगार की तल्लीनता में भी सौजन्य हाथ से नहीं गया। संसार के पुस्तकालय में शृंगार-रचना ढूँढ़कर दिख-लाइए तो सही कि जहाँ शृङ्गार की बारीकियाँ पूर्ण प्रकार वर्णन की गई है, वहाँ सौजन्य और सभ्यता की भी वही कसौटी स्थिर रही हो जो तुलसीदास के इस आनन्दोत्पादक वर्णन में है। क्या कालि-दास और क्या शेक्सपियर कोई ऐसे अवसर पर नहीं बच सके। मिल्टन ने इस संबंध में कुछ प्रयत्न किया तो परिणाम यह हुआ कि

Paradise Lost में नितांत मनोरंजकता से रिक्त और प्रेम-भाव से शून्य रूखा फीका विषय रह गया। यहाँ तुलसीदास के उपदेश उपहास और प्रेम के आनन्दमय दृश्यों के साथ कितने सुंदर लगते हैं। और उपदेश भी कैसे कि वेद, शास्त्र, स्मृति और पुराण सब का निचोड़ कहिए।

इंगलैंड-निवासी कहते हैं कि मिल्टन की रचना हम अपना कर्त्तव्य समझकर पढ़ते है और शेक्सपियर की रचना आनंद के लिये, किंतु एक हिंदी विज्ञ कह सकता है कि मैं तुलसीदास की रचना का अध्ययन कर्त्तव्य समझकर भी करता हूँ और उससे मुझे असीम आनंद भी प्राप्त होता है। तुलसीदास न केवल उपदेशक थे और न केवल कवि। उनकी रचना में पद पद पर उपदेश का पुट है और काव्य-रसास्वादन तो कभी हाथ से जाने ही नही पाया।

पाठक महोदय, अब अपने मुख्य दृश्य की ओर आइए। पहले प्रेमिक और प्रेमिका के हृदयों में प्रेम भाव पैदा करने के लिये उनकी सौंदर्य्य-परिचायक शक्ति (aesthetic faculties) को उभारना आवश्यक है। इसलिये वसंत ऋतु, प्रातःकाल और उपवन के भ्रमण का सम्मेलन कराया गया है। परतु इस विचार से कि यह उपर्युक्त शक्ति सौजन्य की परिधि से बाहर न निकल जाय और इस पवित्र दृश्य (scene) में पाश्चात्य साहित्य के Scenes of courtship की गुप्त appointment (विवाह होने से पूर्व ही नियत समय पर होनेवाली भेंटों) की बुराइयाँ न आ जायँ, हमारे राम और सीता एक पवित्र उद्देश्य के लिये रंगमंच पर लाए जाते हैं। अब आवश्यक पद्य को व्याख्या की जाती है,—

उठे लषनु निसि बिगत सुनि, अरुन-सिखा-धुनि कान।
गुरु तें पहिलेहि जगतपति, जागे रामु सुजान॥

[१]—'लखन'-यह छोटा सा प्यारा (घर में लिया जानेवाला नाम) इसलिये लाया गया है कि यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाय कि कृत्रिमता और बनावट का पता भी नहीं है; वरन् दिनरात के सीधे सादे संबंध की चर्चा है । छोटा भाई लखन किस नियम-बद्धता के साथ अपने सेवा-धर्म के अनुसार सब से पहले उठता है। यह नहीं कि बीसवीं शताब्दी के मन-चले नवयुवकों के समान सूर्योदय के पश्चात् भी करवटें बदला करे। प्यार और दुलार का अर्थ कर्तव्य का परित्याग करा देना कभी नहीं है।

[२] अरुन-सिखा-धुनि कान—कृत्रिम सहायता न थी और न उसकी आवश्यकता थी। ऋषियों की गोद में पले नवयुवक के लिये प्रकृति के बिगुल बजानेवाले की ध्वनि पर्याप्त थी। इसलिये मुर्ग की बाँग सुनते ही राजकुमार उठ बैठा। (नोट—अरुण =लाल, शिखा=चोटी। अंधकार के विचार में यह लाल रंग की कल्पना क्या आनन्द देती है, मानों आनेवाली अरुणता के गुलाबी चित्र की सूचना दे रही है।)

[३]—जगनपति और सुजान—संसार के स्वामी होने पर भी श्रेष्ठ ज्ञान का यह प्रभाव है कि समय, स्थान और कर्तव्य का विचार बराबर बना हुआ है। सेवाधर्म के अनुसार राम अपने गुरु से पहले ही जागते हैं। सच है, वह दूसरों पर क्या शासन कर सकेगा, जो अपने ऊपर शासन न कर सके। स्वतंत्रता (Liberty) और स्वनिर्धारित नियमों (Self adopted limitation) पर चलने में कोई विभिन्नता नहीं है। क्या आप नहीं जानते कि यद्यपि हमारे सम्राट् के राज्य में सूर्य्य नहीं अस्त होता, परंतु सन् १९१२ ई० में यात्रा और राज-सभा के अधिवेशन के समय सम्राट् के प्रोग्रामों में कुछ भी अंतर न पड़ा। नामधारी रईस विलासप्रियता की झोंक में समय, नियम और कर्तव्य की पूर्त्ति के विचार को अलग रख हैं। विष्णु के अवतार और संसार के स्वामी स.

के पालन का कितना ध्यान रखते हैं। इसका कारण तुलसीदास ने स्पष्ट बतला दिया है कि उनका ज्ञान पवित्र और निर्मल है।

(सूचना :—यद्यपि कोई चौपाई ऐसी नहीं है जो काव्य चमत्कार से भरी हुई न हो, किंतु मेरा अभिप्राय प्रत्येक चौपाई की व्याख्या लिखने का नहीं है; इसलिये प्रायः चौपाइयाँ छोड़ दी जायँगी या उनकी शाब्दिक व्याख्या न की जायगी।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥

समय-विभाग का भी स्पष्ट पता चल गया। परंतु इसका विस्तृत विवरण या तो कवित्व-हीन होता या अलंकारों से परिपूर्ण होने के कारण मुख्य उद्देश्य से दूर होता, अतः इस दशा में काव्य की दृष्टि से एक त्रुटि पड़ती। इसलिये संक्षेप से काम लिया गया है। किंतु भावों का कोई प्रधान अंश हाथ से नहीं जाने दिया गया। सचमुच प्राचीन प्राच्य नियम कितने हृदयस्पर्शी हैं (आह, आजकल ये किस प्रकार लुप्त होते जा रहे हैं!) कि प्रति दिन प्रातः-काल स्वच्छता संबंधी कर्तव्य से निपटकर गुरुजनों के सामने सिर झुकाकर उनका आशीर्वाद लिया जाय। वास्तव में मर्यादापुरुषोत्तम राम की एक एक बात अनुकरणीय है।

"समय जानि गुरु आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥

और आगे चलकर लिखा है—गिरिजा पूजन जननि पठाई।

इधर नवयुवक राजकुमारों का उचित समय पर स्वयं गुरु की आज्ञा लेकर फूल लेने जाना और उधर पूर्वीय सभ्यता की गोद में पली हुई राजकुमारी का अपनी माता के भेजने पर आना—यह संयोग स्वयमेव अत्यंत पुनीत और शिक्षाप्रद है।

दोनों पूजा के पवित्र संकल्प की पूर्णता के लिये जा रहे हैं, इस-लिये शृंगार रस के लिये पर्याप्त रुकावट है कि सभ्यता की परिधि से बाहर पैर न रक्खा जा सके और गुप्त भेंट की छूत न लगने पावे। और इसी अभिप्राय से एक ओर "दोउ भाई" एक साथ हैं और

दूसरी ओर सीता के संबंध में "सखी लै आई" के शब्द लाए गए हैं। सौंदर्य्य और प्रेम का कैसा पवित्र और पूर्वीय जीवन से भरा हुआ दृश्य है! इसका अन्य उदाहरण संसार की सभ्यता की चित्रशाला में मिलना कठिन है। तुलसीदास के अतिरिक्त और कौन कवि इस सफलता के साथ शृंगार और आचार एकत्र कर सकता है। फुलवारी का सम्पूर्ण दृश्य उर्दू कवि "ज़ौक" के इस पद्यांश के अनुसार है,—

'इस तरह जाते हैं देखा पाकदामन* आव† में।'

नहीं तो सांसारिक शृंगार रस की निराशापूर्ण पुकार तो यह है,—

दरमियाने क़अरे-दरिया तख्तावंदम् करदई।
बाज़ मी गोई कि दामन तर मकुन हुशियार बाश॥

तूने मुझे नदी की तह में डाल दिया है और फिर कहता है कि सावधान रह, कपड़े न भीगने पावें।

भूप बागु वर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई॥

'भूप बागुवर'—किसी बड़े साहित्यज्ञ का कथन है कि किसी भाषा में दो शब्द ठीक एक ही अर्थ के नहीं हुआ करते। साधारण विद्यार्थी समझते हैं कि 'भूप' का अर्थ राजा है और 'नृप' का अर्थ भी राजा है, इसी लिये बोलने और लिखने में बिना झिझके हुए एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द से काम ले लेते हैं। वास्तव में यह बड़ी भूल है। परंतु भाषा का जौहरी तुलसीदास इस प्रकार परख परखकर रत्न जड़ता है कि जो रत्न जहाँ फबता है, उसे वहीं रखता है। निस्संदेह भूमि के स्वामी भूप का बाग़ अवश्य अच्छा ही होगा। 'नृप' अर्थात् 'नृपति'—'मनुष्यों के स्वामी' इसी दृश्य में वहाँ पर लाया गया है, जहाँ राजकुमारों की छवि का वर्णन है—'नृप-बालक दोऊ'।

---

* सज्जन। † जल।

'वर' शब्द यद्यपि यहाँ श्रेष्ठता का द्योतक है, फिर भी संकेत कर रहा है कि विवाह का प्रबंध प्रकृति में और जनकपुर में, दोनों जगह है। 'नसीम' उर्दू भाषा में इस अलंकार का पूर्ण पण्डित है। उसके पहले ही पद्य में,—

"हर शाख़ में है शिगूफ़ःकारी। समरा है कलम का हम्देबारी।"

शब्द 'हर' का जो संकेत है, उसे प्रत्येक भाषाविज्ञ भली प्रकार जानता है। 'जाई' की शब्द-योजना में बाग़ की मनोरमता का कितना आनन्द है।

'बसंत रितु रही लुभाई।'

प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में अँगरेज़ी कवियों में वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) ही से तुलसीदास की समानता हो सकती है, क्योंकि दोनों की दृष्टियों में प्रकृति सजीव है। तुलसीदास टेनिसन (Tennyson) की भाँति निर्जीव अभिनय के चित्रपट नहीं रँगते। वे अपनी विस्मय-कारिणी लेखनशैली से कभी मानवीय घटनाओं के अनुसार, जैसा कि जनकपुर में जहाँ प्रत्येक व्यक्ति का हृदय शृंगार रस में भीगा हुआ है, वहाँ उसी रस में विमग्न प्रकृति में भी एक विवाह रचते हैं, और कभी इसके प्रतिकूल जैसा कि वनवास से पहले अयोध्या में आनन्द का चित्र है और जिसे प्राकृतिक दृश्य के रूपक से अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में वर्णन किया है, प्रकृति के मनोरम दृश्य सामने रखते हैं और पाठकों को मुग्ध कर देते हैं। प्रायः कवियों ने वसंत ऋतु का सदा रहना बाँधा है, परंतु तुलसीदास ने इस ऋतु का एक बनी साँवरी दुलहिन की भाँति (लिंग-विचार से ऋतु का स्त्रीत्व कितना सुंदर है) अपने दूल्हे बाग़ (बाग़ वर को पुरुषत्व कितना अच्छा चपकता है) पर लुभाकर रह जाना बाँधकर काव्य-शैली में ऋतु के सदा रहने का कारण बतला दिया और प्रेम की तल्लीनता के जीते जागते चित्र को राम और सीता के मुग्ध प्रेम का अग्रसूचक बनाकर सामने रख दिया। यह इन्हीं का काम

था। लुभाकर वहीं रह जाने में अर्थात् प्राकृतिक वसंत ऋतु के आचरण का जो विरोधाभास दिखाया गया है, वह उच्च सदाचार के आदर्श स्वरूप राजकुमार और राजकुमारी के रुकने और लौटने के संबंध से कितना सार्थक है! बाग़ में राम और सीता का परस्पर हृदय-विनिमय अवश्य हो जाता है; किंतु फिर भी प्रेम के आचारिक अंश की पूर्ति अनिवार्य्य है। इसलिये तुलसीदास एक को अपने गुरु और दूसरे को अपनी माता की ओर लौटा देते हैं।

"लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलिबिताना॥"

पेड़, बेलें, सब भिन्न भिन्न रंगों की लगी हुई हैं। अद्भुत कवि है! टेनिसन की भाँति तुलसीदास की लेखनी की शक्ति देखिए। वह अँगरेज़ी कवि Keats या अन्य उर्दू-हिंदी के कवियों की भाँति ऐसे विवरण में नहीं लग जाता कि जिससे प्रधान उद्देश हाथ से जाता रहे। जैसे यदि बाग के पेड़ों और बेलों की प्रशंसा काव्य में वर्णन करना प्रारम्भ करता, तो नरगिस की निगाहबाज़ियों और सोसन की ज़ुबानदराज़ियों, बुलबुल की ग़ज़लख़ानियों और लाला के प्याले के लाल मद्य में सीता और राम के भावों की संपूर्ण संलग्नता लीन हो जाती। परंतु तुलसीदास मार्मिक कविता का ऐसा पंडित है कि चित्र के प्रधान अंग के बनाव सिंगार की ओर इस उत्तमता से संकेत कर देता है कि हमारे मस्तिष्क की प्राकृतिक भावना शक्ति उस चित्र के शेष अंगों को अपने आनन्दवर्धक प्रयत्न से स्वयं ही पूरा कर लेती है। 'मनोहर' भावों का वह परिणाम जो ऐसे दृश्यों से उत्पन्न हो सकता है, सामने है; और हमारी चिंतना को संकेत है कि ऐसे रंग और प्रकार के वृक्षों की चिंतना से, जिनमें मनोमुग्धकारी गुण है, आनन्द उठाया जाय, पर इतनी देर तक नहीं कि सीता और राम की छवि भूल जाय। बाग़ का बयान इसलिये आवश्यक है कि पाठकों को इस वर्णन से उस अवस्था का पता लग जाय जिसके द्वारा राम और सीता के सौंदर्य और [illegible] को

उभरने का अवसर मिला है। 'विटप' बड़े पेड़ (जिन पर बेलें झालर का काम दे रही हैं) का वर्णन, एक सुंदर कुंज की प्रतिच्छाया, चिंतना शक्ति की चित्रशाला को भेंट करता है। इसके अतिरिक्त दूसरे चरण में एक ही अक्षर का बार बार आना कितना सुंदर है!

"नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥"

१—शृंगार रस का दृश्य है जिसके प्रधान अक्षर 'स' 'र' आदि हैं। अस्तु सारे दृश्य में इन्हीं अक्षरों की अधिकता है। तुलसीदास की काव्यदक्षता का यह पांडित्य है कि उसके वर्णन में बनावट नहीं होती, वरन् प्रायः अनुप्रास (छेकानुप्रास) ऐसा होता है कि आनन्द दे जाता है। यह नहीं जान पड़ता कि यह किसी विशेष यत्न का परिणाम है। यहाँ 'सुमन सुहाए' इसका एक अच्छा उदाहरण है।

२—इसके पहलेवाली चौपाई में वाटिका के चित्र की एक प्रतिच्छाया थी, अब उसके मनोहर अंश की चर्चा है; किंतु उसी काव्य-सौंदर्य, समास और संकेत के साथ, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है।

३—वसंत ऋतु और उसके नए नए पत्ते तथा फल-फूलों की चर्चा राजकुमार और राजकुमारी के प्रारंभिक यौवन के प्रेम-भावों के साथ कितनी तुली हुई है। यदि प्रतिच्छाया में मनोहरता थी तो वसंत के नए नए पत्ते फल और फूल अपने सौंदर्य्य से उसकी छवि को और भी बढ़ाते हैं। 'सुहाए' यह सीधा ठेठ शब्द उनके सुंदर रूप की छटा को दूना करता है और 'लजाए' शब्द ने इसमें ऐसा जीवन डाल दिया है जो प्रायः प्रातःकालीन समीर के वर्णन में पाया जाता है।

कितना सुंदर और क्रमयुक्त अलकार है! प्रत्येक वस्तु का क्रम सुंदरता के विचार से पाया जाता है। सबसे सुंदर वस्तु 'सुमन' (फूल) सब के अंत में रक्खा गया है। जिस प्रकार कोई चित्रकार

पहले चित्र की मौलिक रेखाएँ खींचता है और फिर उस चित्र में छटा लानेवाली रेखाएँ बनाता है। राम के निरीक्षण का क्रम भी यही रहा होगा कि पहले दूर से चित्र की मौलिक रेखाएँ ही देख पड़ी होंगी; फिर उसके भीतरी मनोहर विभागों पर दृष्टि पड़ी होगी।

अब तक दृष्टि-शक्ति को वश में करने का यत्न था; अर्थात् वह आँख पैदा कर दी जाय जिससे प्रेमपात्र का सम्मान करने की दृष्टि प्रकट हो। अब श्रवणशक्ति का क्रम प्रारंभ होता है और फिर दोनों एक तल्लीनता के साथ शृंगार रस में इस प्रकार रँगे हैं कि केवल घुँघुरुओं की झनकार प्रेमभाव उभारने के लिये पर्याप्त हो जाती है; और जब प्रेमपात्र सामने हो तब वास्तव में,—

'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।' की तल्लीनता आ जाती है।

"चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहँग नचत कल मोरा।"

इसमें कवि की संगीत शक्ति का एक अनुपम उदाहरण है। जितनी भाषाएँ हैं, सब में जब चिड़ियाँ एक साथ बोलती हैं, तब उनकी ध्वनि व्यक्त करने के लिये जो शब्द होते हैं, उनमें 'च' और 'क' की ध्वनि अधिक होती है। जैसे चहक, चहचहाना इत्यादि। क्योंकि वास्तव में इस ध्वनि में प्राकृतिक रूप से यही ध्वनियाँ अधिक हैं। कवि ने कितनी उत्तमता से पहले चरण में विभिन्न चिड़ियों के नाम बता दिये और साथ ही उनके बोलने का चित्र भी खींच दिया है।

'कूजत बिहँग' में 'गूँज' का कितना सुंदर चित्र है। 'विहग' शब्द वास्तव में चिड़ियों के लिये उसी समय उपयुक्त है जब उनकी ध्वनि की गूँज की चर्चा हो।

'नचत कल मोरा'—'च' 'त' और अंत में 'र' अक्षरों के उच्चारण में जीभ स्वयं मोर के साथ नाचने लगती है।

एक चौपाई में तीन विभिन्न ध्वनियों का परिवर्तन अद्भुत

आनन्द दे रहा है। नाच में तथा मोर की चर्चा में निरीक्षण शक्ति पर भी साथ ही साथ प्रभाव डाला गया है। 'फल' के छोटे शब्द में सौंदर्य का सार उपस्थित है। प्रकृति में 'वसंत ऋतु' और 'बाग वर' के विवाह के अवसर पर नाच, रंग और गाना सभी हैं।

'मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान विचित्र बनावा।'

१—सर सोह सोहावा—में छेकानुप्रास (Alliteration) विशेष कर 'स' के सुंदर "रसभरे" अक्षर के व्यवहार से कितना आनद-प्रद है।

२—'मध्य बाग'—सचमुच अद्भुत मनोमोहक क्रम है। कदाचित् कुसुम-कानन का इससे बढ़कर क्रम दूसरा कोई न हो सके। बेकन ने भी अपनी रचना में उपवन का क्रम ऐसा ही रखा है, जिसकी बड़ाई उसके प्रशंसक बडे गर्व के साथ करते हैं। बाग़ के बीच में जहाँ से प्रत्येक ओर के दृश्य देखे जा सकें और जहाँ प्रत्येक दिशा से घूमता हुआ मनुष्य पहुँच जाय और स्वभावतः यह जी चाहे कि थोड़ी देर के लिये बैठ जायँ, वहाँ एक सुंदर जल-कुंड का होना कितना आनन्ददायक है।

जब कभी बैठते थे वाँ लबे-आब*।
धोके उठते थे दिल के दाग़ शिताब†॥ —हाली।

संसार के सब से मनोहर भवन ताज बीबी के रोजे में भी इसी क्रम पर ध्यान रक्खा गया है।

'बाग'—तुलसीदास की हिंदी वही हिंदी है जो उस समय बन चुकी थी। यदि कुछ अन्य भाषा के शब्द अपने आप आ चुके थे, तो तुलसीदास को उनसे घृणा नहीं हो सकती थी। जैसे—

'भये राम सब विधि सब लायक।'

हाँ, उनमें जो परिवर्तन भाषा के आवश्यकतानुसार हो चुका

---

* जल के किनारे। † शीघ्र।

है, वह बना रहने दिया जाता है। 'लायक़' से लायक और 'बाग़' से बाग इसका प्रमाण है।

३–दूसरा चरण–कहीं यह विस्मरण न हो जाय कि यह एक राजा का बाग़ है, अतः उसमें प्राकृतिक-कौशल की छटा के साथ उत्कृष्ट मानवीय कौशल–पच्चीकारी भी है। किंतु कितना बेढब संक्षेप है। और साथ ही साथ 'विचित्र' के चुने हुए शब्द ने कवि की भावना को पूरी सहायता भी दे दी है।

सूचना–प्रत्येक कवि की रुचि का झुकाव एक मुख्य दिशा में होता है। किंतु प्रशंसा तो इस में है कि जिस ओर रुचि का झुकाव न हो, उसका वर्णन संक्षेपतः इस प्रकार कर दिया जाय कि किसी को अनुभव न हो कि यह संक्षेप में क्यों है। वरन् उस स्थान पर संक्षेप भी प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में त्रुटि-हीन योग्यता रखते हैं। किंतु मानवीय निर्माण की ओर जैसे राजा के बाग़ और सभा आदि की ओर उनकी रुचि स्वभावतः नहीं है। इसलिये रामायण में किसी ऐसे दृश्य का विवरण नही है। यद्यपि प्रकृति की छटाओं का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया जाता है, किंतु, फिर :—

'राम सीय सुंदर परिछाहीं। जगमगात मनि खम्भन माहीं।

इसमें किस उत्तमता से महाराज जनक के राजप्रासाद की संक्षिप्त किंतु पूर्ण प्रशंसा कर दी गई है। वैसे ही यहाँ भी 'सर' की प्रशंसा है। विवरणात्मक संक्षेप कभी अवसर की प्रकृत आवश्यकताओं के प्रतिकूल नहीं होता। यहाँ भी प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी राजकुमार पर जितना विशेष प्रभाव वसंत की प्राकृतिक छटाओं का हुआ होगा, उतना सरोवर के बनाव चुनाव का नहीं; इसलिये संक्षेप करने की आवश्यकता हुई।

४–टेनिसन की भाँति छेकानुप्रास (alliterative compounds) का पांडित्य तुलसीदास में भी है। 'विचित्र बनावा'—आह कौन जान सकता है कि इस विनम्र चारुता से उच्चारण किए आनेवाली

शब्द-योजना के व्यवहार से कदाचित् यह भी अभिप्राय हो कि यह योजना जो एक मानवीय चित्र की वानगी है, अन्य मानवीय चित्रकारी के वर्णन के लिये अत्यंत उपयुक्त है।

'विमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥'

१-मैंने पहले बतलाया है कि "शृङ्गार रस" के अक्षर कौन से हैं। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि काव्य के अलंकार भी प्राकृतिक रहस्यों के प्रतिचित्र हैं। वास्तव में यदि आप कोई स्वादिष्ट वस्तु खायँ या किसी कारण से आनंद की उमंग या प्रेम की तल्लीनता में हों, तो जिह्वा पर अधिकतर वे ही अक्षर आवेंगे; अर्थात स, व, ल आदि। ऊपर के चरण में प्रारंभ में स, र, की अधिकता है। पर आनंद की बाढ़ के समय अधिकतर 'र' अक्षर 'ल' का रूप धारण कर लेता है—जैसा स्वभावतः हुआ करता है—और अंतिम गूँज में मानो इस आनंद की असीम बाढ़ के कारण जीभ बंद हुई जाती है। ये कविता के ऐसे विनोद-विजड़ित रहस्य हैं जिनसे काव्य-मर्मज्ञ ही आनंद उठा सकते हैं और जिनकी व्याख्या करना उस मादकता में रंग चढ़ाना है।

२-रंगों का भी कितना सुंदर क्रम है! बिल्लौर के समान स्वच्छ पानी के धरातल पर रंग रंग के कमल खिले हैं।

३-"सरसिज"—शब्दों के चुनने में कैसी व्युत्पन्नता है! कमल के अनेक नाम हैं; फिर कवि ने "पंकज" क्यों नहीं लिखा? सरसिज ही क्यों रखा?

क—"सर" शब्द के साथ "सरसिज" ही उपयुक्त है।

ख—"पंकज" का अर्थ "कीचड़ से उत्पन्न हुआ" है, इसलिये इस स्थान पर जहाँ कमल की सुंदरता के साथ उसके जन्म की बुराई दिखानी होती, जैसे-"कीच" से कमल का ध्यान बँधाना होता तो, वह शब्द उपयुक्त होता। पर जहाँ "विमल" (मैल से रहित) शब्द पहले व्यवहृत किया जा चुका है, वहाँ "सरसिज" के अति-

रिक्त और कोई नाम ठीक नहीं बैठता। तुलसी ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है,—

"जान सकहु तो जानहु, निर्गुन सगुन सरूप।
मम हृद पङ्कज भृंग इव, बसहु राम नर रूप॥"

अपने हृदय को "पंकज" की उपमा देकर कितनी सुंदर चाहना प्रकट की गई है। यदि आपका हृदय आत्मिक विकास से "कमल" के समान पवित्र और स्वच्छ है, तो उसका मूल पहले किन अपवित्र मानवीय भावों में था, यह पंकज के लाने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। साथ ही यह भी आशय हो सकता है कि जो मानवीय भावना से अत्यंत उच्च वेदांत के आकाश पर केवल आनुमानिक उड़ान लगा रहे हैं, उन्हें छोड़कर 'जिनके ईश्वरीय प्रेम का कारण अब भी मानवीय भावना है, उनके लिये प्रेम और भक्ति ही मुक्ति के द्वार हो सकते हैं। और कौतुक यह है कि ईश्वर ऐसे हृदय पर भ्रमर की भाँति स्वयं मस्त होकर लट्टू होता है। प्रिय पाठकवृंद, शब्दों की परख में भी क्या आनंद है!

४—'जल खग कूजत' कैसा अविकल ध्वन्यात्मक कथन है!

५—'गुंजत भृंगा' शब्दों में भी कैसी गूँज है। भौंरा सचमुच ऐसे अवसर पर "भृङ्ग" है, "मधुप" नहीं। क्या इस चित्ताकर्षक निरीक्षण से भी राम और सीता के हृदयों में सौंदर्य के परखने-वाले भाव न जन्मे होंगे?

बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु, हरषे बंधु समेत।
परम रम्य आरामु यह, जो रामहिं सुख देत॥

१–तुलसी बिल्कुल यूनानी नाटक के "कारस" (Chorus) का काम करते हैं। 'कोरस' का यह काम था कि कहीं तो उस भाव और गति को कर दिखावे जो अभिनेता नहीं कर सकते और कहीं नाटक की घटनाओं, व्यक्तित्व और वर्णनों पर सम्मति दे या उनसे शिक्षाप्रद परिणाम निकाले।

२-प्रभावजनक अभिनय रचयिताओं की व्यावहारिक गति पर तुलसीदास का भी आदर्श यही है। "जादू वह जो सर पे चढ़के बोले।" या यों कहिएः—

"सूरत ववीं, हालम् मपुर्स"*

ऊपर के दोनों सिद्धांतों के अनुसार जो वस्तु सुमन-सुगंधि से बसी है, उसे सामने लाकर उस सुमन की प्रशंसा करता है। जो व्यक्ति किसी भाव से प्रभावित है, उसे सामने करके, उस भाव और उसके कारण का गुण गाता है। इस अलंकार का श्रेष्ठ उदाहरण आगे आवेगा जिसकी तुलना उचित अवसर पर की जायगी। अँगरेजी काव्य में कोलरिज (Coleridge) के Ancient Marine पद्य से बढ़कर इस रचना की अन्य उपमा नहीं है। इससे एक मुख्य लाभ यह है कि कवि की अत्युक्ति नहीं होने पाती।

३-"प्रभु"

क-तुलसीदास स्वयं ग्रंथकार हैं; अतएव राम के लिये वे उस विशेष शब्द का जो उनको बहुत प्रिय है, व्यवहार करते हैं।

ख-जो अपना "प्रभु" अवश्य होगा, वही दूसरे का भी प्रभु हो सकेगा। सजग आत्मा को सुख देनेवाली वस्तु (बाग) की क्या बात?

ग-जब ऐसे "प्रभु" के लिये वहाँ आनंद का ढेर है, तब औरों के लिये भी वह अवश्य आनंद का कारण होगा।

४-"रम्य" "आराम" और "राम" के "र" और "म" की पुनरुक्ति का आनंद कितना रुचिकर है। ऐसा जान पड़ता है कि ये तीनों शाब्दिक रत्न इसी प्रकार जड़े जाने के लिये बनाए गए थे।

(क) "राम" का शाब्दिक अर्थ है-"हर जगह रमा हुआ"। ऐसे राम को यदि किसी स्थानिक पदार्थ से विशेष आनंद मिलता है,

* सूरत देख लो, हाल न पूछो। आकृति से ही आन्तरिक अवस्था का पता चल जायगा।

तो यह कहने में विलंब ही क्या है कि सारे ब्रह्मांड में उससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं !

(ख) "राम" और "रम्य" में धातु-रूपांतर की कैसी अलंकार-छटा है।

५-"बंधु समेत"-कवि भाई की उपस्थिति पर इधर, और उधर "सयानी सखियों" की उपस्थिति पर, समय समय पर विशेष ध्यान दिलाना चाहता है। इससे ये अभिप्राय हैं—

(क) मिल्टन (Milton) के सिद्धांतानुसार अपने से विचार रखनेवाले के साथ आनंद का उपभोग करना बहुत ही अधिक सुख-दायी होता है।

(ख) जहाँतक केवल सौंदर्य-परिचायक शक्ति और उसके आनंद का संबंध है, वहाँ तक दोनों एक ही अवस्था में हैं। परंतु केवल विचारों में अंतर होने के कारण और "सो सब कारन जान विधाता" के दैवी प्रभाव की प्रतिकूलता से प्रेम के वे आवेश जो राम के हृदय में उत्पन्न हुए, लक्ष्मण के हृदय में नहीं हुए।

(ग) दोनों ओर (राम और सीता) के साथ में सहचर और सहचरियों का होना और उनके आने का कारण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह निश्चित भेंट सदाचार के विपरीत न थी।

चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥

१-"चहुँ दिसि चितइ"-इस पर टीकाकारों में मतभेद है:-

(क) कोई कहता है कि चारों ओर देखना मालियों की खोज से संबंध रखता है। परंतु मालियों का वहीं उपस्थित होना, जैसा कि तत्काल ही 'पूछि' के आ जाने से प्रकट है, इस व्याख्या के विप-रीत है।

(ख)-कोई कहता है कि चारों ओर इसलिये देखा कि राज-वाटिका है, कहीं स्त्रियाँ यहाँ पर न हों। परंतु प्रारंभ से इस समय तक इस बात का संकेत भी नहीं किया गया कि यह वाटिका

विशेष रूप से स्त्रियों के लिये है। गौरी जी के मंदिर का होना, यह होते हुए भी कि गौरी की उपासक सामान्यतः स्त्रियाँ होती हैं, इस बात का कोई विशेष प्रमाण नहीं है। और वाटिका का दूरस्थित होना ही, जहाँ केवल सखियों की संरक्षता ही में जाना उचित हो, इस विचार को काट देता है। और यदि ऐसा होने की भी कल्पना कर ली जाय तो पहले भीतर तक बेधड़क चले जाना और फिर यह झिझक! इसका क्या अर्थ?

मेरा विचार यह है कि तुलसीदास ऐसा मार्मिक कवि, रचना के अभिप्राय के लिये क्षुद्र, गति वा काम को व्यवहार में लाए बिना नहीं रह सकता।

(क) दोनों राजकुमार अभी एक पटरी से आकर, जल-कुंड के पास खड़े हुए हैं तो स्वाभाविक याचना यह है कि अपने चारों ओर देखें; और काव्योद्देश यह है कि एक पटरी का वर्णन चारों ओर के लिये ठीक हो जाय और इस प्रकार इच्छुक राम को चारों ओर की सैर हो जाय तथा दूसरी ओर सौंदर्य-वर्णन चौगुना हो जाय।

(ख) चारों ओर देखने का अभिप्राय यह भी था कि प्रत्येक ओर देखकर पूजा के योग्य 'दल, फूल' लिए जायें।

२–"पूछि मालीगन"–राम का अन्यतम सदाचार उनकी प्रत्येक गति और काम से प्रकट है।

३–"लगे लेन दल फूल"–में "ल" का बार बार आना–पहले दो शब्दों के प्रारंभ में और दूसरे दो के अन्त में–बहुत ही भला जान पड़ता है।

४–"मुदित मन" कवि का अभिप्राय. राम को इसी अवस्था में पहुँचाने का था। और जब उधर सीता जी भी ऐसी अवस्था में पहुँच जाती हैं, तो उसी समय एक को दूसरे के दर्शन होते हैं। (यह मुक्त पुरुष "राम" की शाश्वत अवस्था है और इसमें अनिवार्य

प्रभाव है। तनिक देर के लिये, जैसे सीताहरण के समय, इसमें विपर्य्यय होता है; पर वह समुद्र की ऊपरी तरंगों से अधिक गहरा नहीं।) अभिनय-लेखन के गुणों पर विचार कीजिए,—

(क) प्रवेश (Enter) और प्रस्थान (Exit) कैसा सुंदर है कि न एक क्षण समय से पहले और न एक क्षण समय से पीछे। ज्यों ही 'राम' 'मुदित मन' की श्रृंगारावस्था में पहुँचते हैं, हमारी प्रधान पात्री सीता भी वाटिका में प्रवेश करती है।

(ख) जिस समय सीता वाटिका में प्रवेश करती है, उस समय कवि ने किस सुंदरता और उपयुक्तता से राम को फूल इत्यादि लेने में लगा दिया है जिसमें सीता जी आँख से बचकर निकल जायँ और उनके हार्दिक भावों को भी उसी "मुदित मन" की श्रेणी तक विकसित होने का अवसर मिले। कितना सुंदर चित्रपट है कि राम फूल तोड़ते हुए जल-कुंड से किसी ओर को अलग निकल जाते हैं जिसमें सीता इत्यादि को जल-कुंड पर आने का समय मिले। यदि, "चहुँ दिसि चितइ" के समय महारानी जी वहाँ होतीं तो यह अवसर कभी न हाथ आता। सारांश, एक क्षण भी समय से पहले महारानी जी वहाँ नहीं लाई गई।

(ग) अभिनय-स्थल पर वार्तालाप के अतिरिक्त मन को आकर्षित करनेवाली अन्य सामग्री भी पर्याप्त है जो नाटक के दर्शकों के लिये अत्यंत मन लुभानेवाली हुआ करती है।

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥

१—पहले दो शब्दों की व्याख्या ऊपर नाट्य-लेखन कला के गुण वर्णन करने में की जा चुकी है। 'अवसर' शब्द इस बात का प्रमाण है कि कवि ने आने जाने का यह क्रम जान बूझकर रखा है। अनेक अवसरों पर इससे भी अधिक स्पष्ट प्रकट हो जायगा कि तुलसीदास को अपनी इस काव्य-मर्मज्ञता का ज्ञान था।

२—'पठाई' और 'आई' में 'ई' स्पष्ट कह रही है कि सुकुमार,

नववयस्का सीता केवल एक राजकुमारी के समान लाई जा रही है। नववयस्कता के कारण भावों की अनभिज्ञता आदि के प्रकट करने का आनन्द आ गया है।

३—'ज' का दूसरे चरण में कई बार आना बड़ा भला लगता है।

४—"गिरिजा" (महाराज हिमाचलकी कन्या) इस उपाधि से एक कन्या का (सीता का) उन्हें पूजना अत्यंत उपयुक्त है। फिर यह कि इसी अवतार में पार्वती जी की वह सारी तपस्या अपने पति के लिये थी जिसके कारण आगे उनको प्रशंसा में 'सुतीय मँहु, मातु प्रथम तव रेख' कहा गया है। इस अवसर पर पातिव्रत धर्मवाले भावों को उभारने के लिये देवी के इस अवतार की पूजा अत्यंत उपयुक्त है।

५—'जननि पठाई' की टीका "लेन प्रसून चले दोउ भाई"-में हो चुकी है।

संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी।

१—पहले चरण में 'स' की और दूसरे चरण के प्रथम दो शब्दों में 'ग' और अंतिम दो में 'न' की पुनरुक्ति-वृत्यानुप्रास-उच्चारण में बड़ी सुखदायक है। कवि ने इन परिवर्त्तनों से 'आगमन' का प्रभाव किस सुंदरता से मिटा दिया।

२—यहाँ भी आँख और कान का सहयोग एक साथ है जिससे तल्लीनता और अधीनता पूरी हो।

३—'सब' छोटा सा शब्द इस बात को प्रकट करता है कि एक अद्भुत अन्यतम समूह है जिसमें प्रत्येक सौंदर्य्य की प्रतिमा है।

४—'सुभग'-का अर्थ सुडौल है। इसमें उनके रूप-सौंदर्य्य का जो अनन्द है, उसे 'सयानी' का आचारिक सौंदर्य्य दूना कर रहा है। 'सुभग' का आनन्द तो सौंदर्य्य को समादृत करनेवाली आँखों ने तत्काल पा ही लिया। "सयानी" के आनन्द को कवि ने आगे आनेवाली चौपाइयों में जिस सुंदरता से दिखाया है, वह वास्तव में उसी

का काम है। यदि प्रत्येक व्यक्ति यह न कह उठे कि वास्तव में ऐसी ही सयानी सखियों की आवश्यकता थी, तो बात ही क्या है!

सूचना:—इस "स" के अनुप्रास ने उनकी सहयोगिता को और भी स्पष्ट कर दिया है।

५—'गावहिं गीत'-कौन? वह मनोहर वाणीवाली सखियाँ! "श्रृंगाररस" रूप-सौंदर्य्य स्वभाव-सौंदर्य्य के साथ उमड़ा आता है। सौंदर्य्य का कैसा पूर्ण चित्र है!

६—जो लोग अभिनय मंचों पर अच्छे नाटक देखते हैं, वे ऐसे हर्षप्रद आगमन की अवश्य प्रशंसा करेंगे।

[सूचना—आर्य्य सभ्यता में कोई रीति गाने के बिना नहीं होती। गाना, जो संसार में अधिकतर तात्विक अभिप्राय के लिये व्यवहार में आता है, आर्य सभ्यता में आत्मिक और धर्म का विशेष अंश होकर घर पर प्रत्येक रीति के साथ सम्बद्ध है। क्या स्नान के मेलों में स्त्रियों को शांत रसवाले भजन गाते हुए, 'भक्ति में तल्लीन' दल बाँधकर जाते हुए आपने नहीं देखा?]

कैसा प्राकृतिक दृश्य है कि एक हिंदू राजकुमारी शांत रस के गीत गानेवाली सुंदर सखियों के साथ गिरिजा पूजने जा रही है। यदि तुलसीदास काव्य और अभिनय रचना के कोई अलंकार उपयोग में लाता है तो इस प्रकार कि प्राकृतिक सत्य कहीं हाथ से नहीं जाने पाता है।

७—गीत का विवरण इसलिये नहीं किया गया कि बहुत संभव है-गीत स्वयं "शांत रस" वाले हों तो श्रृंगार में त्रुटि पड़े। और यह भी कारण था कि दूर से मनोहर वाणी तो सुनाई देती है, पर शब्द स्पष्ट नहीं जान पड़ते। श्रृंगार रस के लिये 'मनोहर बानी' पर्याप्त है।

८—'बानी' शब्द स्वयं ही सुंदर ध्वनि के लिये आता है। उस पर मनोहर, फिर वह भी, ऐसी सखियों के मुँह से जो रूप-सौंदर्य्य

और स्वभाव-सौंदर्य्य की देवियाँ हैं। ऐसे गाने का क्या कहना! वास्तव में बात भी यही है कि 'गाना' किसी छवि-प्रतिमा के मुँह से विशेषकर जब सौंदर्य्य के साथ सदाचारिता भी हो, एक निराली पवित्रता और हृदय-निमग्नता का प्रभाव उत्पन्न करता है।

सर समीप गिरिजा-गृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा।

१—"सर समीप गिरिजा-गृह"—कैसी सुंदर शब्द-योजना (alliterative) है।

२—संसार में जितने सुंदर निकेतन हैं (जैसे ताजगंज का रौज़ा) वे सब अधिकतर जल-तट पर निर्मित हैं, और यह इसलिये कि उनका मनोहर प्रतिबिम्ब लहरों के हिण्डोले में लहराकर दृश्य के आनन्द को दूना कर दे।

३—धार्मिक उद्देश, जैसे स्नान आदि करना, भी मंदिर को ऐसे ही स्थान पर बनाने की प्रेरणा करते हैं।

४—तुलसीदास ने मानवीय व्यक्तित्व और प्राकृतिक दृश्य को परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया है कि वे कारण और कार्य्य बनकर एक दूसरे पर अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करें।

टेनिसन के पद्यों में भी प्रायः (जैसे Œnone और The Lotus Eaters में) यही दशा पाई जाती है। ज्यों ज्यों दृश्य आगे बढ़ता है, यह आनन्द भी बढ़ता जाता है। यहाँ.. ... ."लता ओट तब सखिन लखाये"—और अंत में "देखन मिसु मृग बिहँग तरु"—में यह संलग्नता का आनन्द अत्यंत स्पष्ट और मनोहर ढंग पर पाया जाता है।

पाठकवृंद! तुलसीदास अपना काम प्रायः ऐसे ही ढग से करते हैं कि प्रकट में उसका पता भी नहीं लगता। पर गंभीर साहित्य-प्रेमी तत्काल ताड़ जाते हैं। जैसे "परम रम्य" आदि पर प्रकट रूप से वाटिका की प्रशंसा समाप्त हो जाती है; परंतु उसका वह भाग जो मानवीय व्यक्तित्व के प्राकृतिक भावों से संलग्न है और

जिसमें राम और सीता सौंदर्य्य के निरालेपन से लिपटे हुए हैं, क्रमशः दृश्य के अंत तक पाया जाता है।

५—"बरनि न जाइ देखि मन मोहा"—पहले ही "गुंजत भृंगा" की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार आनन्द की अधिकता से जिह्वा वंद हुई जाती है। आगे चलकर मानवीय व्यक्तित्व से वर्णन में वाक् शक्ति ने कुछ सहायता की; किन्तु जिस समय फिर वही प्राकृतिक दृश्य सामने आते हैं, प्रशंसा करना कठिन है, मन मोहा जाता है। यदि इस चौपाई को प्रशंसा की पूर्णता के इस क्रम में न रखें तो "बरनि न जाइ"-केवल पाद-पूरणार्थ रह जाता है जो काव्य का एक दोष होगा।

मज्जनु करि सर सखी समेता। गई मुदित मन गौरि-निकेता।

बाग सीता जी आदि का देखा हुआ है, इसलिये उनके आने में उस की ओर विशेष ध्यान दिलाने की आवश्यकता न थी। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष बचा लिया गया। दूसरे, राग की तल्लीनता में संभव है कि ध्यान न गया हो, यद्यपि इस अवसर पर प्राकृतिक दृश्य के प्रभाव ने राग की उमंग को अवश्य दूना कर दिया होगा।

१—'मज्जनु करि सर सखी समेता':—

क—पूजा के लिए स्नान आवश्यक है।

ख—'सखी समेता'—पर विशेष जोर इसलिये है कि संकेत से नववयस्का सखियों के साथ जलक्रीड़ा का दृश्य शीघ्रता के साथ आँखों के सामने से निकल जाय। फिर भी तुलसीदास ने 'शृंगार रस' की उमंग का वह अंश इच्छापूर्वक नहीं उत्पन्न होने दिया जो मलिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' में सखियों के साथ स्नान करने में रखा गया है और जो इस अवसर पर "शांत रस" (जो पूजा के लिये आवश्यक है) और सदाचार के विपरीत होता। हाँ, इतना अवश्य है कि "मुदित मन" की अवस्था आ जाय। प्रातःकाल, गायन-संलग्नता, आनन्द-पूर्ण कानन, उसमें मनोहर सरोवर

उस सरोवर में सीता के साथ सखियों का मज्जन करना मुदित अवस्था लाने के लिये पर्याप्त है।

२—"मुदित मन"—प्रकट रहे कि कवि ने इसके पहले राम को भी इसी अवस्था में पहुँचा दिया है। जनकपुर में और विशेषतः सखी मंडली में शृंगार का वास पहले ही से है। इसलिये सुंदरता के भावों को जगाने के लिये यहाँ इतना प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं अनुभूत हुई जितना कि मुनि की संरक्षता में सुधार-प्राप्त राम के लिये करना पड़ा था।

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग वर माँगा॥

१—"अधिक अनुरागा" :—

क—शब्द योजना (alliterative) का आनन्द पहले ही का सा है।

ख—जीवन में एक विशेष विपर्य्यास घटित होनेवाला है, ऐसा प्रेम प्राकृतिक है, विशेषकर जब यह न ज्ञात हो कि परिणाम क्या होगा।

२—दूसरा चरण अत्यंत अमूल्य है। उत्तम काव्य उस कौशल का उदाहरण है कि एक चित्र में दो विभिन्न भाव (जो लगभग विपरीत हों) देख पड़ें। जिन्होंने ऐसे चित्र देखे हैं जो एक ओर से देखने में कुछ और और दूसरी ओर से कुछ और देख पड़ते हैं, वे इसको भली प्रकार समझते हैं कि शिवजी और पार्वती जी के ऐसे चित्र प्रायः हाट बाट में बिका करते हैं। किंतु एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों को, जिनमें कुछ वैपरीत्य अवश्य हो, एक ही चित्र में दिखाना और भी आनन्ददायक है। एक ओर (सीता जी के मन में) प्राकृतिक ढंग पर कुछ सौंदर्य गर्व भी पाया जाता है। शृंगार रस की अवस्था में सौंदर्य की गुण-ग्राहकता हृदय और नयन का होना भी प्रकट है। दूसरी ओर सीता जी जैसे वर की अधिकारिणी थीं, उससे

उत्तम की इच्छा नहीं है। लज्जा ने प्रार्थना में केवल यही कहने दिया कि—"जैसी मैं हूँ, वैसा ही पति मिले।"

३—देवी के सामने सच्चे प्रेम का प्रकाशन ठीक है। इसलिये संसार की जितनी प्रधान पात्री हैं, क्या मिरेंडा (Miranda) क्या शकुंतला, कोई अपने सच्चे भावों को प्रकट करने में अनुचित लज्जा और संकोच से काम नहीं लेती; क्योंकि बनावट की तो वहाँ चर्चा ही नहीं है। हाँ, शकुंतला कण्व ऋषि के संरक्षण के कारण, प्राकृतिक "शांत रस" में पलने के कारण और सीता "जनक" ऐसे ज्ञानी राजा के राजप्रासाद में "शांत रस" में परिपालित होने से, बहुत स्पष्ट शब्दों में भावों को व्यक्त नहीं करतीं। जार्ज मेराडिथ (George Meradith) का शिक्षा का वह आदर्श जिसमें सुधार प्राकृतिक और प्रकृति सुधार-प्राप्त हो, यही है।

"चु यावद वूए-गुल ख़्वाहद कि बीनद।
चु बीनद रूए गुल ख़्वाहद कि चीनद॥"*

ऊपर के पद्य में किसी कवि ने प्रेम-भाव की अवस्थाएँ किस सुंदरता से बतलाई हैं। यद्यपि कवि ने केवल दो अवस्थाओं का विवरण दिया है, परंतु संकेत से सब अवस्थाओं को बतला दिया है।

जनकपुर की सैर से लेकर धनुषयज्ञ के अंत तक, दो तीन दिन के भीतर, इन सब अवस्थाओं की पूर्त्ति तुलसीदास ने जिस पांडित्य से की है, उसको काव्य-गुण-ग्राही सरलता से समझ सकते हैं।

राम को गुरु के यहाँ के शांत रस से शृंगार की मुदित अवस्था तक लाना था। किंतु सीता जनकपुर में, जहाँ शृंगार उस समय बस रहा था, उपस्थित ही थीं। आपने देखा कि प्रेम की प्रथम

---

* सौरभ पाने पर सुमन को देखने की इच्छा होती है; और देखने पर, सुमन का रंग रूप देखने पर, जी चाहता है कि उसको तोड़ लिया जाय।

अवस्था पार करने में राम को सीता की अपेक्षा कितना अधिक समय लगा।

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई।

१—तुलसीदास ने उस सखी के जाने का समाचार इतने विलंब के पश्चात् क्यों दिया?

क—इसलिये कि दूसरी दशा में पाठकों का आधा ध्यान उसके साथ बँट जाता। क्या केवल यही कारण था? महाकवियों में रचना-कौशल के उद्देश प्रकृति के विपरीत नहीं हुआ करते। कारण निम्न लिखित हैं:—

ख—सखी ऐसे साधारण हृदय की थी कि जिसे "सिय संगु" जो ऐसा मनोहर था, छोड़कर फुलवाड़ी देखना अधिक प्रिय था। इसलिये सखियों में भी संभवतः किसी ने उसके चले जाने का अनुभव नहीं किया।

ग—"एक सखी" गुणवाचक शब्द का प्रयोग न होना भी इस बात का प्रमाण है कि उस सखी में कोई विशेषता न थी।

घ—"सिय संगु बिहाई"—कैसी सखी है कि उसको सीता का साथ छोड़कर फुलवाड़ी की सैर सूझी है।

२—परंतु आवश्यकता भी ऐसी ही सखी की थी। फूल की सुगंध के लिये भी ऐसी कोमल वस्तु की आवश्यकता होती है, जिसके छिद्रों में वह तत्काल प्रवेश कर जाय। ठोस और भारी वस्तु का काम नहीं। उसकी सखी में यह स्पष्ट रूप से प्रकट है कि कम से कम प्राकृतिक सौंदर्य के परिचय की शक्ति उसमें विकास पा चुकी है। इसी लिये तो वाटिका-विहार उसे अधिक प्रिय है। सीता को छोड़कर वाटिका देखने के लिये जाना इसका प्रमाण है।

३—राम-रूपी फूल की सुगंध सीता के मस्तिष्क तक पहुँचाने के लिये ऐसे ही स्वभाव की "शृंगार रस" वाली सखी की आव-

श्यकता थी, जिस के रोम रोम में राम-सौरभ बसकर,......(तासु दसा देखी सखिन्ह) सीता तक पहुँचे ।

पलक मारते ही सखी पर प्रभाव पड़ता है और तत्काल, इसके पहले कि राजकुमार वाटिका से लौट जायँ या सीता जी लौट सकें, सीताजी तक राम का सौरभ पहुँच जाता है ।

पाठकों को स्मरण रहे कि सीताजी के प्रेम की "चु यावद बूए गुल" अवस्था का वर्णन है । इसलिये प्रातःसमीर का गुण रखनेवाली सखी, जिसे फूलों के देखने का चाव उत्पन्न हुआ है, पाठकों के विचार-केन्द्र के भीतर उस समय लाई जाती है, जब सीताजी अपने जीवन के परिवर्त्तन की चिंतना में, यदि पागल और खिन्न नहीं हैं तो, चिंतित अवश्य हैं । और जब कि वह सखी प्रातः समीर के रूप में प्रियतम की "बूए गुल" लाने के लिये राम के समीप है, यह भी एक कारण इस समय सम्वाद देने का था ।

तेइ दोउ बन्धु बिलोकेउ जाई । प्रेमबिबस सीता पहँ आई ।

[सूचना-यहाँ "दोउ" रखते समय-स्वयं सखी के मुँह से निकले हुए—आनेवाले "दोउ" का भी विचार कर लिया गया है जिससे पुनर्वार व्याख्या न करनी पड़ी ।]

१—"दोउ" इसमें (उ) कितना सुंदर साङ्केतिक अर्थ-सूचक है । इस शब्द का व्यवहार और थोड़ा सा पारस्परिक वार्तालाप जो उसके पश्चात् है, इस बात को किस सुंदरता से प्रकट करता है कि पहले दिन का नगर—जनकपुर—विहार केवल लक्ष्मण के उत्सुक हृदय को शांत करने के अभिप्राय से न था, वरन् वह भी सीताजी के लिये इस "चु यावद बूए गुल" अवस्था का पहला रूप था । राजा महाराज दूर दूर से आ रहे थे और जनकपुर में ठहरे हुए थे। नगर-विहार अवसर और अवस्था के अनुरूप अवश्य ही होता रहा होगा: किंतु वह केवल एक पुनीत भावोंवाले क्षत्री राजकुमार ही की सैर थी कि नगर भर को मोहित कर लिया । याज्ञवल्क्य ऋषि के

समय के दर्शन-योगी राजा जनक के राजप्रासाद का वर्णन है। ऐसे सदाचारपूर्ण जल-वायु में और ऐसे राजप्रासाद में सामान्य राजकुमारों का सम्वाद पहुँचना भी कठिन था। और बहुत सम्भव था कि महाराज राम जैसे राजकुमार का भी सम्वाद वहाँ न पहुँचता। यदि सम्पूर्ण नगर मोहित न हो गया होता तो बहुत सम्भव था कि फुलवाड़ी देखनेवाली सखी पर यदि कुछ प्रभाव पड़ता भी, तो इस धारणा के साथ कि सीता सी राजकुमारी के योग्य हैं; और यदि ऐसा न होता तो सीता के मस्तिष्क तक "बूए गुल" कैसे पहुँचती? "दाउ" का शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सखी के हृदय में उनका सौंदर्य्य, उनकी कौटुम्बिक प्रतिष्ठा आदि का विचार इस विचार के साथ ही कि यह वही राजकुँवर हैं जो अगले दिन जनकपुर की सैर कर चुके हैं, बिजली के समान कौंध गया।

जिस अलकार के उपक्रम से सौरभ की परख होती है, उसकी क्रमिक-उत्तमता (Climax) विचारणीय है। पहले जनकपुर के साधारण लोग कसौटी की भाँति व्यवहार किए जाते हैं। कितने राजकुमार आए होंगे और कितनों ने लोगों को मोहित किया होगा। परन्तु कोई इस परख में खरा न उतरा कि सम्पूर्ण जनकपुर को मोहित करता। पर नगर का मोहित हो जाना केवल इसी लिये बस था कि राजभवन की सखियों के चित्ताकर्षण का कारण हो; क्योंकि राजभवन की निम्न श्रेणीवाली सखी का भी आदर्श जन साधारण से बढ़कर होना चाहिए। तत्पश्चात् सामान्य, पर रँगीले स्वभाव की राज-सखी पर प्रभाव डाला जाता है। परन्तु वह भी यथेष्ट नहीं। . क्योंकि सौंदर्य्य-परिचय के लिये एक राजकुमारी का आचारिक आदर्श विशेषकर ऐसी सामान्य सखी के आदर्श से अवश्य ही ऊँचा होगा। वे स्वयं चतुर सखियाँ, जो अपने विवेक और बुद्धि के कारण इस योग्य थीं कि उनके संरक्षण में सीता की माता उसको भेज सकी, राम के रूप-सौंदर्य्य और स्वभाव सौंदर्य्य

से इतनी प्रभावित हो जाती हैं कि उनके मुँह से एकाएक......'अवसि देखिये देखन जोगू' निकलता है। इसी से सीताजी भी प्रभावित होती हैं। यह बात भी विचारणीय है कि किस भलेपन से एक अवस्था अपने पीछेवाली ऊँची अवस्था के लिये कारण बनकर श्रेणी का काम देती है।

२—'देखन' और 'विलोकेउ' का अंतर ध्यान देने योग्य है। पहला सामान्य शब्द सखी के सामान्य अभिप्राय—फुलवारी की सैर—को प्रकट करता है; किंतु पीछे से मनोहर जोड़ी के देखने में, उसकी निरीक्षण-गति में जो विपर्य्यय घटित होता है, उसके उचित वर्णन के लिये "विलोकेउ" शब्द ही उपयुक्त है।

३—यह बात अधिक ध्यान देने के योग्य है कि जहाँ प्रथम चरण समाप्त होता है, वहीं वह अवसर है जब, कम से कम कुछ क्षण के लिये, यह सखी "मनोहर जोड़ी" की छवि देखकर ठिठक गई होगी।

४—उस तल्लीनता की ठिठक को किस सुंदरता के साथ "प्रेम विवस" की योजना दिखलाती है। इस तल्लीनता में यदि कोई आचारिक भूल भी हो जाती है, तो कवि उस पर तरस खाता है और कहता है:—

जंजीरे जनूँ * कड़ी न पड़ियो। दीवाने † का पाँव दरमियाँ है।

—"नसीम"

परंतु, सदाचार देखिए कि एक साधारण सखी ने भी श्रेणी-विवेक नहीं भुलाया। वह राजकुँवर को राजकुमारी के योग्य समझ कर पहली ठिठक के पीछे ही, तत्काल सीता के पास लौट आती है। ठिठक कितने कम समय तक रही होगी कि कवि ने केवल दोनों चरणों के मध्यवर्ती उच्चारण के अंतर से उसको प्रकट करना उचित समझा है। लखनऊ निवासी "नसीम" कहते हैं:—

* उन्मत्तता की शृंखला † उन्मत्त (प्रेमोन्मत्त)

उल्फ़त है बिरादरी में ज़ेबा। निस्बत है बराबरी में ज़ेबा।

५—"सीता पहँ आई" उसी पद्य-पाद में "पहुँचना", "प्रभाव पड़ना", "रुकना" और "लौट आना" या आलङ्कारिक-रूपात्मक-भाषा में यों कहिए कि प्रातःसमीर के फूल तक पहुँचने, तत्काल रुकते ही सौरभान्वित होने और निस्वार्थ उदारता के साथ लोगों के मस्तिष्क तक सौरभ-सुमन ले जाने का वर्णन करने में किस असाधारण द्रुत-गति से काम लिया गया है।

तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन॥

"मृगमद वही है जो स्वयं सुगंध दे, न कि अत्तार को कहना पड़े" के सिद्धांतानुकूल इस चौपाई में किस प्रकार सखी की दशा वर्णन करके 'राम' के सौंदर्य की प्रशंसा की गई है। वास्तव में सौंदर्य का गुण-गान करने में वाणी असमर्थ है। 'पुलक गात' से रोम रोम में प्रेम और प्रसन्नता की एकरूपता का भाव प्रत्यक्ष है। "जल-नैन" दोनों शब्द काव्योत्कृष्टता की किस उत्तम श्रेणी का वर्णन करते हैं। भाषाभिज्ञ स्वयं समझते होंगे कि पानी और जल में क्या अंतर है और आँख कब 'नैन' बन जाती है। प्रेम की विवशता का भाव राम के रूप से बसी हुई आँखों में प्रेम और आनन्द के जल के रूप में प्रकट है।

२—जिज्ञासा (Curiosity) की प्रथम श्रेणी किस सौंदर्य से सामने रखी गई है और 'कहु' का सरल प्रश्न कितना उपयुक्त है? महाकवि के कथन में शब्दों का स्थान भी एक विशेष बात होती है, और रस्किन (Ruskin) के कथनानुसार शब्दक्रम के परिवर्त्तन में आनंद जाता रहता है। यदि 'कहु' शब्द 'कारन' के पीछे हो जाता तो अस्वाभाविक होता, क्योंकि उस समय सरलता जाती रहती और प्रेम की सहजता (Spontaneity) को प्रकट न कर सकता।

इस दोहे से आरम्भ होकर आगेवाले दोहे तक कवि की लेखनी सखियों के वाणी द्वारा प्रकटित हृद्गत भावों की व्यञ्जक है और सखियों की वाणी सीता के मनोभावों की द्योतक। क्यों? इसलिये कि जब किसी भाव का अनुभव प्रथम बार किसी के हृदय में होता है, तो वह स्वयं नहीं समझ सकता कि वह भाव वास्तव में क्या है। केवल एक प्रकार की व्याकुलता सी अनुभूत होती है। परंतु यदि कोई सहानुभवी उसकी व्याख्या करने लगता है, तो व्याकुल हृदय भी उसका अनुमोदन करता जाता है। 'सयानी' सखियाँ कितनी आवश्यक हैं कि अछूते, कोमल, सूक्ष्म और प्राथमिक प्रेम भाव की उत्पत्ति को अनुभव करनेवाले हृदय की वेदना की व्यञ्जक बनें और सीता को स्वयं उसके मनोगत भावों के समझने में सहायता दें।

३—'सब' कितना छोटा किंतु कितना अर्थपूर्ण शब्द है! कोई सखी भी इतना न कर सकी कि इस बात की प्रतीक्षा करती कि एक का पूछना ही अलम् होगा। वरन् उस प्रेम का प्रभाव बिजली की तरह सब पर एक साथ ही पड़ता है और प्रत्येक के मुख से विना विचारे दशा जानने का प्रश्न निकल ही जाता है।

४—'मृदु बैन' एक तो 'बैन' शब्द ही कोमल वाणी को व्यक्त करता है; क्योंकि सुंदर राजकुमारी की सहेलियाँ हैं। उस पर 'मृदु' शब्द सोने में सुहागे का काम करता है। यह प्रभाव भी उसी प्रेम और आनन्द का है जिसने एक सखी से सब सखियों पर अपना अधिकार उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया है। प्रेम-भाव से प्रभावित होकर कठोर वाणी भी कोमल हो जाती है (दुष्ट की वाणी भी अपने प्रेमिक के प्रेम में मृदु हो जाती है)। फिर भला सुंदर सयानी सखियों की वाणी में, जो स्वभावतः ही कोमल हो, ऐसे भावों के प्रभाव से कितना माधुर्य आ जायगा, इसका केवल अनुमान कर लेना ही पर्याप्त होगा। परंतु पाठकवर्ग! सीता जी के भाव अतुलनीय हैं। सीता जी के मुख पर ऐसा कोई प्रश्न नहीं है जो उनके हृदय में अवश्य

हो। क्योंकि सखियों की वाणी उन्हीं की हृदय-व्यञ्जिका तो है। बेशक—कुछ तो है जिसकी परदादारी है। फिर सीता जी गम्भीरता और गुरुता की देवी भी तो हैं।

देखन बाग कुँवर दोउ आये। वय किशोर सब भाँति सुहाये॥

१—एक ओर तो प्रेम-मग्नता है जो वाणी पर चुप्पी का ताला लगाती है; और दूसरी ओर सखियों का प्रश्न वर्णन का उत्सुक है। कैसी द्विधा है और इस द्विधा का चित्र तुलसीदास ने पाठकों को दिखलाया है। यदि यही संदिग्धता रहती तो शायद सखी का मुख ही न खुलता। परंतु सीता को सूचना देने का वह बलवान् विचार जो उसे पर्य्यवेक्षण के पश्चात् ही इधर खींच लाता है, चुप्पी के ताले की ताली बन जाता है। सीता जैसी राजकुमारी के लिये केवल बाह्य रूप का वर्णन पर्याप्त न होगा, जब तक कि राजकुमार की कुल-प्रतिष्ठा तथा शील आदि का वृत्तांत उनको ज्ञात न हो जाय। इन सब बातों की व्याख्या के लिये एक दफ्तर चाहिए और यहाँ वाणी तक निमग्नता में बंद हो जाती है। काव्य-विशारद कवि ने जितने कम शब्दों में ये सब बातें सखी के द्वारा व्यक्त हो सकती थी, व्यक्त कर दीं। और सयानी सखियों का वार्तालाप व्यञ्जक बनकर उन की व्याख्या के लिये मौजूद है जिससे सीता को कुल बातों का पता चल जाय। यदि संक्षिप्तता बुद्धिमत्ता का गुण है तो इस कोटि की संक्षिप्तता, कि विषय का भाव समझने में कोई त्रुटि शेष न रह जाय, कितनी अच्छी है! सब राम-दर्शन के विचार में व्याकुला थीं। अधिक वार्त्तालाप का अवकाश किसे था? यहाँ संक्षिप्तता की स्वाभाविक आवश्यकता थी।

२—'कुँवर' शब्द से उनका राजकुमार होना प्रकट है। और, 'दोउ' शब्द से संकेत रूप से उनकी कुल प्रतिष्ठा और शील आदि का पता लगता है। परंतु व्याख्या की जो आवश्यकता शेष है, वह सखियों के वार्तालाप से पूर्ण हो जाती है। क्योंकि सखी साधारण

श्रेणी की है, इसलिये उसकी भाषा भी वैसी ही है। दूसरी सखी जो उससे अधिक संस्कृत है, 'नृप सुत, आली' आदि शब्दों का प्रयोग करती है।

३—अभी तक शृंगार की अधिक चर्चा नहीं है, इसलिये सखी की वाणी में रुकावट नहीं। परंतु वे प्यारे दो शब्द 'वय किशोर' जो दोनों भाइयों के यौवन-रूप का चित्र सामने खड़ा करते हैं, वाणी पर आते ही हृदय में प्रेम की लहर उमड़ उठती है और सखी की वाणी साथ नही देती। वह विवश होती है कि विना पूर्णतावोधक शब्द लाए केवल इन्हीं दो शब्दों पर अपना वर्णन समाप्त करे और सिवा 'सब भाँति सुहाये' के और कुछ न कह सके। साधारण लेखकों और महाकवियों में अंतर यही है कि साधारण लेखक ऐसे वाक्य जैसे "वर्णनातीत हैं" आरम्भ में लिखकर अपनी वर्णन-त्रुटि का साक्ष्य देते हैं; और काव्य-मर्मज्ञ कवि ऐसे वाक्यों को ऐसे ही अवसरों पर प्रयुक्त करता है जिनसे एक आवश्यक अंग का वर्णन हो जाय और उन वाक्यों के सिवा किसी प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति ही न हो सके।

४—"सुहाये" कैसा अनूठा ठेठ सरल शब्द है जो अपनी सरलता में मन पर एक अद्भुत प्रभाव डालता है।

श्याम गौर किमि कहौं वखानी। गिरा अनैन नैन विनु वानी॥

१—एक बार फिर कुछ वर्णन करने का उद्योग किया जाता है। परंतु, आह! इस बार शृंगार रस का पूर्ण साम्राज्य है। उतने शब्द भी नहीं निकलते जितने पहले निकले थे। केवल "श्याम गौर" से राजकुमारों के यौवन-रूप का सांकेतिक वर्णन करके वाणी मौन हो जाती है और सखी के मन में प्रकृत्या यह प्रश्न उठता है कि वर्णन-सामर्थ्य क्यों नहीं? यह प्रश्न भी केवल काव्य-पूर्ति के लिये नहीं है, वरन् इसका भाव भी स्वाभाविक है। निस्संदेह कविता कोई कृत्रिम पदार्थ नही। सच्चे भावों का स्वाभाविक प्रकाशन प्रायः कविता के

हो। क्योंकि सखियों की वाणी उन्हीं की हृदय-व्यञ्जिका तो है। बेशक—कुछ तो है जिसकी परदादारी है। फिर सीता जी गम्भीरता और गुरुता की देवी भी तो हैं।

देखन बाग कुँवर दोउ आये। वय किशोर सब भाँति सुहाये॥

१—एक ओर तो प्रेम-मग्नता है जो वाणी पर चुप्पी का ताला लगाती है; और दूसरी ओर सखियों का प्रश्न वर्णन का उत्सुक है। कैसी द्विधा है और इस द्विधा का चित्र तुलसीदास ने पाठकों को दिखलाया है। यदि यही संदिग्धता रहती तो शायद सखी का मुख ही न खुलता। परंतु सीता को सूचना देने का वह बलवान् विचार जो उसे पर्य्यवेक्षण के पश्चात् ही इधर खींच लाता है, चुप्पी के ताले की ताली बन जाता है। सीता जैसी राजकुमारी के लिये केवल बाह्य रूप का वर्णन पर्याप्त न होगा, जब तक कि राजकुमार की कुल-प्रतिष्ठा तथा शील आदि का वृत्तांत उनको ज्ञात न हो जाय। इन सब बातों की व्याख्या के लिये एक दफ्तर चाहिए और यहाँ वाणी तक निमग्नता में बंद हो जाती है। काव्य-विशारद कवि ने जितने कम शब्दों में ये सब बातें सखी के द्वारा व्यक्त हो सकती थीं, व्यक्त कर दीं। और सयानी सखियों का वार्तालाप व्यञ्जक बनकर उन की व्याख्या के लिये मौजूद है जिससे सीता को कुल बातों का पता चल जाय। यदि संक्षिप्तता बुद्धिमत्ता का गुण है तो इस कोटि की संक्षिप्तता, कि विषय का भाव समझने में कोई त्रुटि शेष न रह जाय, कितनी अच्छी है! सब राम-दर्शन के विचार में व्याकुला थीं। अधिक वार्त्तालाप का अवकाश किसे था? यहाँ संक्षिप्तता की स्वाभाविक आवश्यकता थी।

२—'कुँवर' शब्द से उनका राजकुमार होना प्रकट है। और, 'दोउ' शब्द से संकेत रूप से उनकी कुल प्रतिष्ठा और शील आदि का पता लगता है। परंतु व्याख्या की जो आवश्यकता शेष है, वह सखियों के वार्तालाप से पूर्ण हो जाती है। क्योंकि सखी साधारण

श्रेणी की है, इसलिये उसकी भाषा भी वैसी ही है। दूसरी सखी जो उससे अधिक संस्कृत है, 'नृप सुत, आली' आदि शब्दों का प्रयोग करती है।

३—अभी तक शृंगार की अधिक चर्चा नहीं है, इसलिये सखी की वाणी में रुकावट नहीं। परंतु वे प्यारे दो शब्द 'वय किशोर' जो दोनों भाइयों के यौवन-रूप का चित्र सामने खड़ा करते हैं, वाणी पर आते ही हृदय में प्रेम की लहर उमड़ उठती है और सखी की वाणी साथ नहीं देती। वह विवश होती है कि विना पूर्णतावोधक शब्द लाए केवल इन्हीं दो शब्दों पर अपना वर्णन समाप्त करे और सिवा 'सब भाँति सुहाये' के और कुछ न कह सके। साधारण लेखकों और महाकवियों में अंतर यही है कि साधारण लेखक ऐसे वाक्य जैसे "वर्णनातीत हैं" आरम्भ में लिखकर अपनी वर्णन-त्रुटि का साक्ष्य देते हैं; और काव्य-मर्मज्ञ कवि ऐसे वाक्यों को ऐसे ही अवसरों पर प्रयुक्त करता है जिनसे एक आवश्यक अंग का वर्णन हो जाय और उन वाक्यों के सिवा किसी प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति ही न हो सके।

४—"सुहाये" कैसा अनूठा ठेठ सरल शब्द है जो अपनी सरलता में मन पर एक अद्भुत प्रभाव डालता है।

श्याम गौर किमि कहौं वखानी। गिरा अनैन नैन बिनु वानी॥

१—एक बार फिर कुछ वर्णन करने का उद्योग किया जाता है। परंतु, आह! इस बार शृंगार रस का पूर्ण साम्राज्य है। उतने शब्द भी नहीं निकलते जितने पहले निकले थे। केवल "श्याम गौर" से राजकुमारों के यौवन-रूप का सांकेतिक वर्णन करके वाणी मौन हो जाती है और सखी के मन में प्रकृत्या यह प्रश्न उठता है कि वर्णन-सामर्थ्य क्यों नहीं? यह प्रश्न भी केवल काव्य-पूर्ति के लिये नहीं है, वरन् इसका भाव भी स्वाभाविक है। निस्संदेह कविता कोई कृत्रिम पदार्थ नहीं। सच्चे भावों का स्वाभाविक प्रकाशन प्रायः कविता के

रूप में होता है, चाहे प्रकाशक उसका स्वयं भी अनुभव न करे। इसी लिये तो कहते हैं कि भावुकतामय वार्तालाप गीत बन जाता है। कृत्रिमता वस्तुतः कविता की त्रुटि है। सखी की प्रेम-पराकाष्ठा की दशा प्रत्यक्ष है। दो बार के प्रबल प्रयत्न से भी जिह्वा इच्छानुसार नहीं खुलती, मस्तिष्क चकराता है। कारण क्या है ? ऐसी दशा में कैसा अच्छा सूक्ष्म विचार ऐसे रूप में उपस्थित किया जाता है कि कविता अपनी कृत्रिमता को उस पर निछावर करके फेंक दे। "गिरा अनैन नैन बिनु बानी" कैसा प्रभावपूर्ण सारल्य है ! और फिर सखी का कुल वार्तालाप वरन् सखी भी सरलता की मूर्ति है, इसलिये यह सारल्य और भी उपयुक्त है। बेचारी वाणी जो कुछ वर्णन करने का प्रयत्न कर रही है, उसने राजकुमारों को देखा ही नहीं; और जिन आँखों ने देखा है, उनके जिह्वा नहीं। अहा ! कैसी विवशता है। यह चौपाई और यह :—

सुनहु पवन-सुत रहन हमारी। जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी॥

(जो विभीषण ने अपनी दशा का चित्र खींचते हुए हनुमान जी से कहा था) ऐसी सरलता के दृष्टान्त हैं जिनमें कवित्व कूट कूटकर भरा है। तुलसीदास से पहले किसी कवि ने इन्हें छंदोबद्ध ही नहीं किया।

२—कैसा शब्दक्रम है कि यदि "नैन बिनु बानो" वाले शब्द पहले रख दिए जायँ तो वह आनंद ही उड़ जाय जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। वाणी से संबद्ध शब्द का पहले होना इसलिये और भी उपयुक्त है कि वाणी के सहायता न करने के कारण मस्तिष्क को चिन्ता हुई और इसलिये कि पहले उसी से सम्बद्ध उत्तर की आवश्यकता थी।

३—"वय किशोर, कुँवर दोऊ, श्याम गौर" इन शब्दों में सारा जादू भरा हुआ है और सौंदर्य के संबंध में यही शब्द सखी की जिह्वा पर आ सकते हैं। 'बानी' इन्हीं की सजावट है, यद्यपि ऐसे

ढंग पर कि जिह्वा के बंद होते होते पूर्णता की सीमा आ जाय। कविता के इस उच्च कक्षा पर पहुँचते ही शब्दों में स्वयं कुछ उत्तमता आ ही जाती है। इसी लिये वर्डस्वर्थ यद्यपि सरलता-प्रेमी था, तथापि जब वह कविता के किसी उच्च स्थल पर पहुँचता है तो बिना किसी बनावट के उसके शब्दों में भी उत्तमता प्रकट हो जाती है। कालरिज (Coleridge) ने ठीक ही कहा है कि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) ने अपने कविता के सिद्धांतों को ऐसे शब्दों में व्यक्त किया है जो परिवर्तन की सीमा से बाहर हैं और इसी लिये सर्वत्र उन्हें नहीं निभा सका। इसमें संदेह नहीं कि बिना किसी बनावट के भी कवि की उत्तम भाषा भावाभिव्यक्ति के समय साधारण बोलचाल से स्वय ही पृथक् हो जाती है। वह सादी सखी भी मानो इस पद पर पहुँचकर सुंदर शब्दों से बनी हुई एक मोती की लड़ी पिरोकर पेश करती है। "गिरा अनैन नैन बिनु बानी" यहाँ 'न' के अनुप्रास की गूँज भी निमग्नता में कैसी भली जान पड़ती है।

सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी॥

१—ऐसे आनंद का वर्णन सुनकर प्रसन्न होना एक तो प्राकृतिक है। फिर सीता के मन में उत्कंठा देखकर और भी अधिक प्रसन्नता हुई।

२—जब दूसरा चरण पहले चरण के कारण और पहले और दूसरे चरण के क्रम और समाप्ति के कारण चौपाई की रचना पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, तो फिर यह क्रम क्यों? कारण यह है कि यद्यपि हर्ष का मूल कारण दूसरे चरण में व्यक्त किया गया है, तथापि और भी कारण हैं। जैसे, बिना किसी अन्य कारण के ऐसे अवसर पर प्रसन्नता का होना। यदि दूसरा चरण पहले होता तो हर्ष बिलकुल ही उक्त चरण से बँध जाता और किसी अन्य कारण का ध्यान भी कठिन होता। परंतु तुलसीदास के क्रम में बड़ी उत्तमता के साथ इसके लिये स्थान है; वरन् जब तक कि शब्द 'सयानी'

और दूसरे चरण तक न पहुँचा जाय, तब तक यही जान पड़ता है कि यह प्रसन्नता बिलकुल स्वाभाविक है। और इसमें भावों का यह अंतर भी आ जाता है कि वर्त्तमान शब्दक्रम में सखियों की भावुकता की प्रसन्नता भी ज्यों की त्यों रहती है। यही नहीं कि किसी पत्र की भाँति अपना कोई विशेष भाव ही न हो।

३—'सयानी' (१) यह शब्द सखियों का लगभग स्थायी संबोधन बन गया है और विशेषतः ऐसे अवसर पर प्रयुक्त किया जाता है जहाँ वह गुण उपयुक्त हो। यह नहीं कि यूनानी कवियों की भाँति ऐसा संबोधन निरा निरर्थक हो। स्थायी संबोधन (Permanent epithet) का ऐसा प्रयोग टेनिसन के Passing of Arthur नामक पद्य में Bold Sir Bedivere के संबंध में अत्युत्तम है। (२) यहाँ 'सयानी' इसलिये कहा गया है कि (अ) सीता की उत्कंठा को वह तुरत उसी के चेहरे से ताड़ जाती है, (आ) निस्स्वार्थ प्रसन्नता किसी धीमान् हृदय में ही उत्पन्न हो सकती है, (इ) सीता के भविष्य का विचार कर लेती है।

४—'सिय हिय' में अनुप्रास का आनन्द भी मौजूद है। बिलकुल स्वाभाविक और सरल शब्द 'हिय' प्राकृतिक निर्दोष भावों के लिये बहुत ही उपयुक्त है और सखियों के समीपी संबंध के कारण 'सिय' नाम भी (जिससे सहेलियाँ सदा ही उन्हें संबोधन करती रही होंगी और जो उनके शैशव स्वाभाविक भावों का संकेत बन गया है) भी अत्युपयुक्त है।

५—'अति' के कारण उपर्युक्त प्रसन्नता के कारणों का आनन्द द्विगुण हो जाता है।

इसके पीछे आनेवाली चौपाइयों से पहले तो वार्तालाप में नाटकीय सजीवता उत्पन्न हो जाती है; दूसरे पहली सखी के कहे हुए शब्द 'दोऊ' की व्याख्या हो जाती है। तीसरे सीता के प्रेम-भाव के लिये एक और अंकुश बन जाता है और सीता के भावों को

'अवशि देखिये' की लालसा के पद पर पहुँचा देता है। परंतु फिर भी सखियों का भाव कैसा स्वाभाविक है! जो अधिक अभिज्ञ है वह ऐसे अवसर पर प्रेम की वदान्यता के साथ उसे व्यक्त किए बिना नहीं रह सकती। यह किस गर्व से कहा गया होगा, इसका अनुमान मर्मज्ञ पाठक स्वयं ही कर सकते हैं।

एक कहहि नृप सुत ते आली। सुने जे मुनि सँग आये काली॥

१—'नृप सुत' (अ) 'भूप' की व्याख्या करते समय पहले बताया जा चुका है कि जब राजकुमार का मनुष्योत्तर वर्णन करना अभीष्ट हो तो 'नृप वा नरपति' शब्द प्रयुक्त किया जायगा। (आ) यहाँ 'कुँवर' के स्थान में यह शब्द होना सखी की अच्छी शिक्षा और संस्कृति का साक्ष्य है। वार्तालाप में शाही दरबार का भी पास करना आवश्यक समझा जाता है और सखी के लिये 'आली' शब्द इसीका प्रमाण है। (इ) एक और कारण यह भी है कि जिसे सम्बोधित किया जाता है, उसके विचार से उपयुक्त भाषण बनाना पड़ता है। पहली सखी ऐसी निमग्न थी कि उसको यह ध्यान भी न था।

२—'सुने' जनकपुर का भ्रमण-वृत्तान्त राज-भवन तक पहुँचने और उसके प्रभाव आदि का विवरण 'दोऊ' की व्याख्या करते समय वर्णन किया जा चुका है। जनकपुर-भ्रमण का दृश्य इस प्रकार एक आवश्यक अंग बन गया है; क्योंकि सखी के वर्णन का अभिप्राय यह है कि उनकी कुल-प्रतिष्ठा प्रकट हो जाय; और साथ ही साथ उनके आचारिक संस्कार का भी पता "मुनि संग आये" से लग जाय। यहाँ पहली और दूसरी सखी के वार्तालाप की तुलना साहित्यिक रोचकता से शून्य न होगी:—

(अ) पहली सखी शृंगाररस में निमग्न है। इसलिये उसने केवल ऊपरी सौंदर्य की प्रशंसा की है। परंतु दूसरी सखी, जो उससे उच्च कुल की जान पड़ती है और जिसकी शिक्षा और संस्कार का अधिक अच्छा होना भी प्रत्यक्ष है, पहले नायक के राजकुल और सुसंस्कृति

का संकेत करती है, तत्पश्चात् शृंगार रस की प्रशंसा करती है।

(आ) दूसरी सखी अधिक सयानी है। सीता के भावों तथा संस्कारों को खूब समझती है; और भली भाँति जानती है कि शृंगार रस के अनुसार केवल मनोहर कुँवर का प्रभाव न पड़ेगा जब तक कि कुल, शील तथा उन्नत संस्कारों का पता न लगे। इसलिये पहले इन दोनों बातों का जिक्र करती है जिसमें 'अति उत्कंठा' को और भी उभारे। तत्पश्चात् आनंदमय शृङ्गाररस को लाती है कि दर्शन के लिये लालच उत्पन्न हो जाय।

(इ) पहली सखी शृङ्गार रस में इतनी निमग्न है कि केवल शृङ्गार ही का वर्णन उसके लिये उपयुक्त था। दूसरे उसने प्रेमी का प्रताप अभी स्वयं देखा है, परतु दूसरी सखी ने केवल उसकी प्रशंसा ही सुनी है। उसकी निमग्नता उतनी गहरी नहीं है। इसलिये सुंदर वर्णन के लिये दूसरी सखी ही ठीक है, विशेषतः उनकी कुल-प्रतिष्ठा और संस्कृति की व्याख्या के लिये।

(ई) तो भी मन में इतना ज्ञान अवश्य है जिससे प्रत्यक्त है कि दर्शनाभिलाषा में किसी को विशेष वार्तालाप का अवकाश नहीं। कौन से मुनि, कौन राजा, इसकी व्याख्या जनकपुर के दृश्य में हो चुकी है और रनवास तक सूचना पहुँचाई जा चुकी है।

३-'मुनिसंग' विशेषतः राजकुमारों की आचारिक संस्कृति की ओर संकेत करने के अभिप्राय से लाया गया है।

४-'काली' (अ) नाटकीय स्वाभाविकता (Dramatic Reality) के प्रभाव पर ध्यान दीजिए। (अ) आह ! क्या जादू है कि एक दिन में उनके बाह्य और आंतरिक सौंदर्य की सूचनाएँ समस्त नगर ही नहीं, राजभवन तक में पहुँच गईं। प्रत्येक व्यक्ति को रोचकता होने के कारण सारी बातें (कुल शील विषयक) भी पूछी जाकर प्रत्येक को विदित हो गईं। इनके पूर्व और पश्चात् कितने ही राजकुमार आए होंगे, परंतु यह अद्भुत चमत्कार किसी में न था।

निज निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्ववस सकल नर नारी॥

१—इस सखी का वार्तालाप "नृपसुत" से आरंभ होता है। वहाँ से "देखन जोगू" तक एक वाक्य है। ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, शृङ्गार रस भी वृद्धिगत होता जाता है। इस स्पष्ट भाषण से शृङ्गार रस के भाव में तल्लीन होना प्रत्यक्ष है और यह भी अभीष्ट है कि प्रेमी के दर्शनों में विलंब न हो। एक वाक्य में सारा वर्णन समाप्त करके दर्शनों की तैयारी की जाय।

२—क्योंकि समस्त नगर के नर-नारियों का निमग्न करना अभीष्ट है। अतः 'निज निज' पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुतः ये दोनों भाई मानवी गुणों के विचार से एक दूसरे के पूरक (Supplement) हैं। मनोहर जोड़ी में सभी भिन्न भिन्न गुण सन्निविष्ट हैं। इसलिये सब प्रकार के मनुष्यों के लिये निमग्नता की सामग्री समुपस्थित है। आगे चलकर धनुष यज्ञ के आरंभ में राम का चित्र "जाकी रही भावना जैसी" आदि लाकर प्रत्येक रंग में खींचा गया है; और इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकृति के पुरुषों को मोहित किया गया है। यहाँ भी यदि एक 'साँवला' है तो दूसरा 'गोरा'। अर्थात् रंग के विचार से भिन्न भिन्न स्वभाववालों के लिये उत्कंठा की सामग्री विद्यमान है। 'वय किसोर' में उनकी रूप-भिन्नता का वर्णन है। यदि एक गाम्भीर्य्य की मूर्ति है, तो दूसरा क्षात्र उत्साह का आदर्श। सारांश, दोनों में मिलकर सत, रज, तम तीनों गुण विद्यमान हैं। बस, सभी प्रकृति के लोगों की लीनता का द्वार खुला हुआ है।

३—बहुधा टीकाकार "मोह न नारि नारि के रूपा" इसके और इसी अर्थ के अन्य छंदों का उदाहरण देकर तुलसीदास पर विपरीत-वर्णन का दोषारोपण करते हैं। पाठकवर्ग! जिस मोह की चर्चा इस चरण में है, उस 'मोह' और इस 'स्ववस' में अंतर है। जब एक स्त्री अन्य सुरूपा स्त्री को देखती है अथवा एक पुरुष किसी

पुरुष को देखता है तो अनुराग अवश्य उत्पन्न होता है, फिर चाहे वह किसी दूसरे ढंग का भले ही हो।

४—"मोहनी डारी" में मोहनी मंत्र का रूपक है जिसके 'वशीकरण' प्रभाव के विचार से 'स्ववस' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ कोई कृत्रिम मंत्र नहीं है, वरन् केवल रूप का प्राकृतिक चमत्कार है।

५—वास्तव में सीधे सादे राजकुमारों का अभिप्राय कदापि न था कि प्रभाव डालने के लिये भ्रमण किया जाय। नवीन नगर के भ्रमण की इच्छा सर्वथा स्वाभाविक थी, जैसा कि उन शब्दों से स्पष्ट विदित है जिनमें राम ने गुरु जी से जनकपुर जाने की आज्ञा माँगी है। परंतु उनके सौंदर्य के जादू का स्वाभाविक प्रभाव यही पड़ा। "आसक्त हृदय प्रेमिका की प्रत्येक गति-मति को, चाहे वह कितनी ही अनिच्छित क्यों न हो, उसके आचार व्यवहार से संबद्ध कर देना है" यह 'ताज्जुल' का सर्वमान्य सिद्धांत है। जार्ज मेरीडिथ (George Meredith) भी एक स्थल पर अपनी सरल-प्रकृति नायिका के प्रभाव के विषय में लिखता है—

She used quite common words and used them no doubt to express a common simple meaning. But to him, she was uttering magic-casting spells.

अर्थात् उसने बहुत ही साधारण शब्दों का प्रयोग किया और निस्संदेह उनको बहुत ही सामान्य अर्थ प्रकाशित करने के लिये प्रयुक्त किया था। परंतु उसके (आसक्त के) लिये मानो उसने मंत्र पढ़े और जादू डाला। ऐसे विरोध का नाटकीय प्रभाव कैसा विशेष आनंददायी है।

६—'नगर नर नारी' का अनुप्रास ध्यान देने योग्य है।

७—पहली सखी के साधारण वर्णन की इस रूपकमय वर्णन से तुलना करना उन दोनों के विवेकांतर तथा दोनों पर भिन्न भिन्न

श्रेणी के प्रभाव को स्पष्टतया प्रकट करता है। (व्याख्या पहले की जा चुकी है।)

बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिये देखन जोगू॥

१—पहले चरण में अभी कल के आए हुए राजकुमारों के सौंदर्य से समस्त नगर-निवासियों के मोहित होने तथा नगर में यत्र तत्र यही बातचीत होने का चित्र सामने है।

२—'छवि'–प्रेमी के सौंदर्य के प्रकाश का वह भाग है जो दूसरे को प्रभावित करता है। जनसाधारण ऐसे शिक्षित नहीं होते जैसे कि राजभवन के स्त्री-पुरुष। इसलिये उनमें राम की विनय आदि की चर्चा नहीं है। और फिर शृङ्गार रस इस समय जनकपुर में भर रहा है, इसलिये छवि ही का वर्णन लोगों में है। 'लोगों' से तुलसीदास का अभिप्राय ठीक उस श्रेणी के जन साधारण से है जिनकी चर्चा (Common People) की भाँति शेक्सपियर ने जूलियस सीज़र में की है (उसकी गति-मति का चित्र धनुषयज्ञ में स्पष्ट रूप से है। उस समय इन दोनों मिलते जुलते कवियों की तुलना अधिक रोचक होगी)।

३—'जहँ तहँ' नगर के रहनेवालों का स्थल स्थल पर टोलियों में एकत्र होना और राम के सौंदर्य का गुणगान उनके मुख पर आना कल्पना के लिये समस्त नगर का भाव-चित्र बनाने के लिये अत्यानंदवर्धक है।

४—दूसरा चरण भावों की सरलता के लिये एक अर्थपूर्ण और उत्तम उदाहरण है और तुलसीदास के गुण का वह नमूना है जो प्रत्येक के मुख पर आ रहा है। 'अवशि' में इच्छाशक्ति के बल का प्रकाशन और 'देखन जोगू' में प्रशंसा की पूर्णता अत्युत्तम है। वास्तव में 'सुना हुआ यूसुफ़' (चाहे उसका वर्णन कितना ही सुंदर और विस्तृत क्यों न हो) 'देखे हुए यूसुफ़' के समान नहीं हो सकता। इसलिये प्रेमिक की प्रशंसा इससे बढ़कर

क्या हो सकती है कि "बस देखने से ही संबंध है।" परंतु जैसा कि "सब भाँति सुहाये" के विषय में पहले कहा गया है, ऐसे शब्द भाषा पर अधिकार रखनेवाले कवि उसी समय प्रयुक्त करते हैं जब वर्णन करनेवाला विवश हो। यहाँ दूसरी सखी के वर्णन में उपर्युक्त कारणों से अधिक स्पष्टता है। परंतु वह भी अंत में वर्णन करने में असमर्थ होती है और उसको भी कहना पडता है कि प्यारे राजकुमारों की यही प्रशंसा हो सकती है कि "देखन जोगू" हैं और बस ।

तासु बचन अति सियहिं सुहाने । दरस लागि लोचन अकुलाने ॥

१—अहा! पहले ही इस बात के कहने से, कि सखियाँ सीता के मनोगत भावों की व्यञ्जक हैं, और तुलसीदास की लेखनी, सखियों की वाणी और सीता के हृदय का भाव कक्षा में समान है, मेरा यही अभिप्राय था। सीता को 'अवशि देखिये देखन जोगू' वाले शब्द कितने अच्छे जान पड़े कि अब स्वयं उनके भाव भी उसी का समर्थन करते हैं। 'सुहाने' शब्द की स्वाभाविकता और अर्थ-पूर्णता की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। यहाँ 'सिया' के साथ उसका अनुप्रास कितना अच्छा है!

२—'अकुलाने' शब्द उस संस्करण में है जिससे मैं लिख रहा हूँ। परंतु, अन्य संस्करणों में 'ललचाने' शब्द है जो मेरे विचार में निम्नाङ्कित कारणों से अधिक अच्छा है:—

(अ) 'ल' का सुंदर शृंगार रसपूर्ण अनुप्रास पूरा होता है। 'लागि लोचन ललचाने' ऐसा सुंदर अनुप्रास है जिसकी प्रशंसा वर्णनातीत है। इसलिये 'नैन, लोचन' दो शब्द जो सुंदर आँखों के वर्णन में लाए जाते हैं, उनमें से 'लोचन' शब्द चुना गया है।

(इ) 'अकुलाने' में जो व्याकुलता है वह भी अनुचित है। और उस अवस्था में पहुँचने के लिये अभी सीता सी पवित्र आचारवाली कन्या के लिये नारद मुनि के वचन स्मरण करने की आवश्यक-

कता है। उसके पश्चात् वह व्याकुलता उत्पन्न होगी जिसकी चर्चा आगे आनेवाले दोहे में स्पष्ट रूप से की गई है।

३—एक अल्प अवस्था की कन्या के लिये एक सुन्दर वस्तु देखने की अभिलाषा में 'ललचाने' शब्द अधिक उपयुक्त है। दूसरे, एक आचारवाली कन्या के लिये 'देखन जोगू' के साथ केवल 'ललचाना' काफ़ी है। जब दर्शन से अथवा नारद मुनि की भविष्यद्वाणी के स्मरण से प्रेम-भाव उत्पन्न होगा, उस समय अलबत्ता व्याकुलता की आवश्यकता होगी। ललचाने में जो लड़कपन प्रकट होता है, उसका वह भाग जो सीता के वयानुकूल है, आवश्यक है। और वह भाग जो आचार के विचार से अनुचित होता, 'दरस' से पवित्र शब्द के आ जाने से दूर हो गया।

४—'अकुलाने' शब्द यदि इसी समय आ जाय तो फिर नारद के वचन और उनके स्मरण से प्रीति उत्पन्न होने में जो भाव-वृद्धि होती है और जिससे 'चकित' की व्याकुल अवस्था उत्पन्न होती है, उसका वर्णन करने के लिये कौन सा विवेचक शब्द लाया जायगा। हाँ 'अकुलाने' के अनुकूल केवल एक बात हो सकती है। वह यह कि जिस हृदय पर विशेष प्रभाव पड़ता है, उसका भाव सखियों के भाव से गम्भीरतर होना चाहिए। और ललचाने में भावों का अंतर इतना स्पष्ट दृष्टि नहीं पड़ता। परंतु फिर भी 'दरस लागि' के साथ इस शब्द के प्रयोग से अंतर स्पष्ट विदित है और उपर्युक्त कारणों की तुलना में यह यदि कोई कारण है भी तो बहुत छोटा।

५—'दरस' और 'देखने' का अंतर विचारणीय है। प्रेमिक के अवलोकन के लिये 'देखना' शब्द निम्न श्रेणी का है। परंतु सयानी सखियाँ सीता सी सदाचारिणी कन्या को बड़ी सावधानी के साथ सम्बोधन करती हैं; क्योंकि यदि उसे यह विचार उत्पन्न हो जाय कि ये सखियाँ मुझको शृंगार-रस की अनुचित सीमा तक ले जाना चाहती हैं, तो दर्शनों की अभिलाषा के स्थान में घृणा उत्पन्न हो।

जाय। इसलिये केवल इतना ही कहती हैं कि "देखने के योग्य हैं, अवश्य देखिए।" परंतु सीता की आँख के लिये जिसमें प्रेम का पवित्र भाव भरा हुआ है, 'दरस' के अतिरिक्त और कोई निम्न श्रेणी का शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था। 'दरस' के साथ भावों की पवित्रता भी विचारणीय है। सीता केवल एक सुरूप अपरिचित को देखने के लिये कभी तैयार न होगी, जब तक उसके भाव में प्रकृत्या, पर्याप्त कारणों से (जिनमें से बहुधा अभी गुप्त दशा में ही क्यों न हों), "प्रीति पुरातन लखे न कोई" ऐसे 'दरस' की उत्कंठा उत्पन्न न हो जाय। इसी 'जिज्ञासा' की श्रेणी पर इस समय यह लेख समाप्त किया जाता है।

---

(१३) तुलसी और रहीम

(लेखक—पं० सुखराम चौबे और श्रीयुक्त राजेंद्रसिंह व्योहार)

अब्दुलरहीम खानखाना गोसाइँ जी के समकालीन थे और दोनों में मित्रता भी थी। विधर्मी होकर भी एक दूसरे से मित्रता रखना, उक्त महापुरुषों की सहृदयता का परिचायक है। मुसलमान होकर भी इन्होंने कृष्ण-भक्ति और हिंदी में कविता करना अपना गौरव समझा। अवश्य ही इन पर गोसाइँ जी का प्रभाव पड़ा होगा।

रहीम की जो कुछ भी थोड़ी बहुत रचना मिलती है, वह बड़ी ही सरस और हृदय-ग्राहिणी है। गोसाइँ जी के समान इन्होंने भी नीति के दोहे कहे हैं। दोनों कवियों की रचनाएँ कहीं कहीं एक सी मालूम होती है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

आप (रहीम) भावी को बडी प्रबल मानते हैं—

"राम न जाते हरिन संग, सीय न रावण साथ।
जो रहीम भावी कहूँ, होत आपने हाथ॥"

* * * *

गोसाइँ जी भी कहते हैं—

"तुलसी जस भवितव्यता, तैसइ मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पहँ, ताहि तहाँ लै जाय॥"

गोसाइँ जी ने दुष्टों की खूब व्याज-निन्दा की है। पर हमेशा यही उपदेश है कि :—

"उमा संत की यही बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई॥"

परंतु रहीम दुष्टों को सजा देने का आदेश देते हैं—

"खीरा को मुख काटि कै, मलियत लोन लगाय।
रहिमन करुए मुखन की, चाहिय यही सजाय॥"

दोनों कवियों ने संत-प्रशंसा और दुष्टों की निन्दा की है।

उनका मत था कि कुसंग में भी संत शुद्ध बने रहते हैं :—

"जो रहीम उत्तम रहनि, का करि सकत कुसंग ।"

गोसाईं जी इस बात को मानते हुए भी कहते हैं कि यद्यपि संत अलिप्त हैं, तथापि दुष्टों से सदा बचे रहना ही अच्छा है; क्योंकि—

"अतिशय रगड़ करै जो कोई । अनल प्रगट चंदन ते होई ॥"

दुष्टजन आप तो कुछ उपकार करते नहीं, पर दूसरे को भी ऐसा करने से रोकते हैं—

"आप न काहू काम के, डार, पात, फल, फूल ।
औरन को रोकत फिरै "रहिमन" पेड बबूल ॥"

* * * *

दुष्टता का एक दर्जा और है जिसका वर्णन रहीम ने नहीं किया। उन्होंने सिर्फ उन्हीं दुष्टों का वर्णन किया है जो दूसरे को कष्ट तो देते हैं, पर स्वयं कष्ट नहीं सहते; पर गोसाईं जी ने ऐसे दुष्टों का भी पता लगा लिया है जो दूसरे के अपशकुन के लिये अपनी नाक काटते हैं—

"जिमि हिम उपल कृषी दल गरहीं ।"

ओले आप तो नष्ट होते ही हैं, पर खेती को भी जरूर ही नुक्सान पहुँचाते हैं।

सच्चा मित्र वही है जो विपत्ति में साथ दे:—

"रहिमन सोई मीत है भीर परे ठहराय ॥"

गोसाईं जी कहते हैं—

"आपत काल परखिये चारी । धीरज धरम मित्र अरु नारी ॥"

मछली के प्रेम की तारीफ में रहीम कहते हैं:—

"जाल परे बहि जात जल, तजि मीनन को मोह ।
रहिमन मछरी नीर को, तऊ न छाँड़त छोह ॥"

गोसाईं जी का कथन है:-

"मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास ।
तुलसी प्रीति सराहिये, मुए मीत की आस ॥"

किसी वस्तु का अच्छा बुरा होना उसकी संगति पर निर्भर है:—

"मुक्ता करै कपूर करि, चातक जीवन जोय।
एतो बड़ो रहीम जल, ब्याल बदन विष होय॥"

* * * *

"धूम कुसंगति कारिख होई"

"सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जल-जीवन दाता॥"

"होय कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलक्षण लोग"॥ —तुलसी।

सुसंग से खल सुधर सकते हैं, पर उनका स्वभाव नहीं जाता:—

"रहिमन लाख भली करौ, अगुनी अगुन न जाय।
राग सुनत पय पियत हूँ, साँप सहज धरि खाय॥"

* * * *

"भलहु करै खल पाय सुसंगू।
मिटहि न मलिन स्वभाव अभंगू॥" —तुलसी।

"चोरहिं चाँदनि रात न भावा।" —तुलसी।

"शशि की सुंदर चांदनी, सीतल सबहिं सुहाय।
लगै चोर चित में लटी, घटि रहीम मन आय॥" —रहीम।

"कहि रहीम पर-काज हित, संपति सँचहि सुजान।"—रहीम।

"तुलसी संत सुअम्ब तरु, फूलि, फरहिं पर हेत।" —तुलसी।

रहीम की समझ में सब से प्रीति रखनी चाहिए; विरोध किसी से भला नहीं:—

"रीति प्रीति सब सों भली, वैर न हित मित गोत।"

परन्तु गोसाइँ जी दुष्टों से प्रीति करने की सलाह नहीं देते। उनकी राय में उदासीन रहना ही अच्छा है:—

"खल सन कलह न भल सन प्रीती।"

"उदासीन ह्वै रहिय गुसाइँ। खल परिहरिय स्वान की नाइँ॥"

"दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे माहि।" —रहीम।

"अर्थ अमित अति आखर थोरे।" —तुलसी।

"रहिमन धोखे भाव से, मुख से निकसे राम।
पावत पूरन परम गति, कामादिक को धाम॥" —रहीम।

"तुलसी जिनके मुखन से, धोखेहु निकसत राम।
तिनके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम॥"—तुलसी।

दोनों महात्माओं ने चातक और मीन के प्रेम की प्रशंसा की है और अपने लिये वैसा ही प्रेम माँगा है—

"जेहि रहीम चित आपनो, कीन्हों चतुर चकोर।
निसि वासर लाग्यो रहै, कृष्णचन्द्र की ओर॥" —रहीम।

* * * *

"एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घन-श्याम हित, चातक तुलसीदास॥" —तुलसी।

अन्त में दोनों भक्त इस निर्णय पर पहुँचते हैं—

"गहि शरणागत राम की, भव-सागर की नाव।
रहिमन जगत्-उधार को, और न कछू उपाव॥"

(१४) तुलसीदास तथा केशवदास

[लेखक—प० सुखराम चौबे और श्री राजेन्द्रसिंह व्योहार ।]

तुलनात्मक समालोचना

आज हम उन दो महाकवियों की तुलना करने बैठे हैं जिन्होंने अपनी अमृत-वर्षिणी वाणी से रामायण गाकर अपनी वाणी तथा हिन्दी भाषा को पवित्र किया है। दोनों ही कवियों ने अपूर्व महाकाव्य रचकर साहित्य-भाण्डार में अपूर्व रत्न भरे हैं। एक ने रामचरित-मानस में हमारे मन-मानस को स्नान कराके उसे परम पावन बनाया और दूसरे ने राम की अपूर्व चंद्रिका छिटकाकर हमारे मानस-कुमुद को खिलाया।

केशवदास तुलसीदास के समकालीन थे तथा दोनों ही बुँदेलखण्ड के निवासी (!) थे। केशव ने राज-मान स्वीकार किया; किन्तु तुलसीदास ने उसको घृणा की दृष्टि से देखकर केवल राम-मान स्वीकार किया। दोनों ही ने रामशाह की बादशाहत स्वीकार की।

एक ने ओड़छा के राजकुमार रामशाह* की बादशाहत स्वीकार की और दूसरे ने अवध-राजकुमार राम की।

केशवदास राजमंत्री, राजगुरु, दरबारी तथा ज्योतिषी थे। तुलसी को इन बातों से कुछ मतलब न था। केशव युद्ध-वीर भी थे और धर्म-वीर भी; किन्तु तुलसी ने इंद्रियों के जीतने ही में सारी वीरता का प्रयोग किया था।

केशव ज्ञानी भक्त थे और तुलसी भक्त। वे केशव के समान ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठता न देते थे।

---

* ओड़छाधिपति मधुकर शाह के ज्येष्ठ पुत्र का नाम रामशाह था जिनकी कीर्ति केशव ने गाई है।

कविता

उद्देश्य—केशवदास ने राम-चरित्र वर्णन तो किया, किंतु उनका उद्देश्य केवल राम को प्रसन्न करना न था। नर-पति के अतिरिक्त नर-पति को प्रसन्न करना भी उनका उद्देश्य था। अवधपति के अतिरिक्त ओड़छा-पति को भी प्रसन्न करने के लिये उन्होंने काव्य रचना की। कई काव्य तो उन्होंने केवल ओडछाधिपति के ही लिये रचे। जिनसे अयोध्यापति की प्रीति ही नहीं, उलटे अप्रीति होने की संभावना है, यथा—"रतन बावनी" "वीरसिंहदेव-चरित्र" "कवि-प्रिया" और "रसिक-प्रिया।"

तुलसी नर-काव्य करने के विरोधी थे। उन्होंने केवल अपनी आत्मा के सुख, संसार के हित तथा अपनी वाणी को पवित्र करने ही के उद्देश्य से कविता की।

इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर तुलसीदास ने केवल राम यश गाया तथा धर्म-संबंधी बातों ही का वर्णन किया; और केशव ने राम-यश के साथ नर-काव्य तथा सांसारिक बातों का भी वर्णन किया।

यहाँ हम केवल उन्हीं बातों में दोनों की तुलना करेंगे जिनका दोनों ने वर्णन किया है। अतः मानस और रामचद्रिंका की ही तुलना करना सब से अधिक उपयुक्त होगा।

काव्य-भाषा

तुलसीदास सरल तथा सरस कविता तथा केशवदास कठिन श्लेषमय काव्य के लिये लब्धप्रतिष्ठ हैं। काव्य की कठिनता भी केशव की कविता के अधिक प्रचार न होने का एक कारण है। इसी कठिनता के कारण उनका काव्य "प्रेत-काव्य" भी कहा गया है।

केशव की भाषा सस्कृत-प्रचुर है, उनकी कविता में सस्कृत के अनेकों अप्रचलित तथा क्लिष्ट सामासिक शब्द भरे पड़े हैं। उनकी कविता में-संस्कृत पढने का सा आनंद आता है। तुलसीदास की भाषा इतनी अधिक कठिन और संस्कृत-प्रचुर नहीं है।

केशव के काव्य में ऐसे ऐसे अप्रचलित शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ समझना भी कठिन है और जो तुलसी की कविता में या और कहीं भी उतने नहीं पाए जाते। उन्होंने अनेकों शब्दों को गढ़कर उन्हें नया अर्थ दे दिया है। तुलसी ने भी कुछ शब्द गढ़े हैं, किंतु केशव के समान नहीं। केशव के कुछ कठिन शब्द इस प्रकार हैं—सद्मिनी=हवेली, अलोभ = बदनामी, अनंता = पृथ्वी, वेझा = निशाना, आशीविष = सर्प, चंद्रव = कपूर, उडुर = चूहा, राघव की निशि = राम-नवमी, मखमित्र = ऋषि, परिवेष = घेरा, उदधिनंद = चंद्र, विजय = भोजन, मदप्रण = कस्तूरी, नैऋत्य = राक्षस, वैकुंठ = पवित्रात्मा, मृगमित्र = चंद्र, विपमय = जलपूर्ण, नंदनता = वंदनीयता, विमला = सरस्वती, इत्यादि।

इससे पाठकों को विदित हो जायगा कि केशवदास का संस्कृत ज्ञान कैसा था। हमारी समझ में उनका यह ज्ञान तुलसीदास से कुछ अधिक था।

श्लेषों तथा संस्कृत शब्दों के कारण उनकी भाषा और भी कठिन हो जाती है। उनका भाषा पर इतना प्रभुत्व था कि एक एक शब्द में तीन तीन चार चार अर्थ लगा देते थे। कठिनता के निवारणार्थ तुलसीदास ने श्लेषों का प्रयोग बहुत कम किया है। केशव का एक उदाहरण दे देना काफी होगाः—

"तिन नगरी तिन नागरी, प्रतिपद हंसक हीन।
जलज हार शोभित न तहँ, प्रगट पयोधर पीन॥"

अनुप्रास—तुलसी की भाषा स्वाभाविक, सरल तथा सरस अनुप्रासों के कारण और भी ललित हो गई है; किंतु केशव की भाषा स्वभावत: ही कठिन होने के कारण उनके अधिकांश अनुप्रास भी क्लिष्ट तथा कर्कश हैं; तो भी ललित अनुप्रास भी उनकी कविता में कम नहीं हैं। नीचे के उदाहरणों से यह बात प्रगट हो जायगी—

"पूरब की पूरा पूरी पापर पुरी से
ततवा पुरी वे दूरि ही ते पावन परति है।
दक्षिण की पक्षिनी सी गच्छै अन्तरिक्ष मग
पश्चिम को पक्षहीन पक्षी ज्यों उडति है॥"

* * * * *

सब जाति फटी, दुख की दुपटी।

केशवदास ने तुलसीदास की अपेक्षा बहुत अधिक छंदों का प्रयोग किया है। केशव ने संस्कृत छंदों का विशेष प्रयोग किया है। उनकी छंद-प्रचुरता देखकर ऐसा मालूम होता है, मानो छंदःशास्त्र से खोज खोजकर उन्होंने छंदों की सूची पूरी करने के लिये विविध छंदों की भरमार की है। उनके काव्य में ऐसे छंद मिलते हैं जिनका कभी नाम भी न सुना हो। इसके अतिरिक्त उनके छंद इतनी जल्दी बदलते हैं कि आश्चर्य्य होता है। छंद इतनी जल्दी जल्दी बदलने के कारण कभी कभी कथा का रोचकता भी बिगड जाती है। कथा की अपेक्षा केशवदास का छंदों की बदलावट पर अधिक ध्यान दिखाई देता है।

इसके विरुद्ध, तुलसीदास ने जो छंद उठाया, उसी में पूरा ग्रन्थ और केशव के सारे ग्रन्थों को मिलाकर उनसे भी बडा ग्रन्थ पूरा कर दिया। अगर केशवदास को इसी प्रकार एक ही छंद में काव्य करना पड़ता, तो शायद वे उतने सफल न होते। और यदि तुलसीदास को केशव के समान विविध छंदों में कविता करने का कहा जाता, तो शायद वे भी उतने सफल न होते।

तुलसी ने एक ही छंद को निबाहने में सफलता पाई और केशव ने अनन्त छंदों को निबाहने में।

इन अनन्त छंदों के प्रयोग से केशव का संस्कृत तथा छंदःशास्त्र का ज्ञान प्रगट होता है।

दोनों ही कवियों ने अलंकार के भंडार को अच्छा भरा है।

इनके काव्यों में प्रायः सभी अलंकारों के उदाहरण पाए जाते हैं। वैसे तो सभी अलंकारों में दोनों महाकवियों ने सफलता पाई है, किंतु तुलसीदास के रूपक तथा केशव की उत्प्रेक्षा विशेष हृदयग्राहिणी हैं। तुलसी के अनेक उत्तमोत्तम रूपकों के सामने केशव के बहुत कम रूपक ठहर सकते हैं; और केशव की उत्प्रेक्षाओं की लड़ी के समान तुलसी के काव्य में कम उत्प्रेक्षाएँ मिलेंगी। केशव एक ही बात के लिये अनेकों उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग करते चले गए हैं। ऐसे उदाहरण तुलसी की कविता में कम मिलते हैं। केशव की कविता से चुने हुए कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

"पावक पवन मणि पन्नग पतंग।" रा० च० (१७)

* * *

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुँ केशवदास कोकनद कोक-प्रेम-मय॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र क्रोध भभक्यो माणिक पियूष पट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह मिल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को॥

* * * * *

"चलो गगन तरु धाय दिनकर वानर अरुण मुख।
कीन्हो झुकि झहराय सकल तारका कुसुम बिनु॥"
पसरे कर कुमुदिन काज मनो। (रा० च० १६)

* * *

व्योम में मुनि देखिये।

* * * *

गंगा जल की पाग सिर,
यदपि भृगुटि रघुराय की।
श्रवण मकर कुंडल लसत,
(रा० च० ३३)

* *

अलि वदन शोभ सरसी सुरंग (३४)

श्याम हुओ मग लाल (३५)

पहिरे वसन सुरंग (३६)

किधौं यह राज-पुत्री (५६)

यह सूर किरण तम दुःख हारि (११३-३६-४२)

केशव ने वीर, रौद्र तथा शृंगार-रस का विशेष वर्णन किया है और तुलसी ने वीर, शान्त, करुण तथा वात्सल्य का। शृंगार-रस की ओर तुलसी ने ध्यान ही नहीं दिया। अतः इसमें दोनों की तुलना ही नहीं हो सकती। केशव ने शृंगार-रस का पूर्ण तथा सजीव वर्णन किया है। वीर-रस में भी केशव बाजी मारते जायँगे। उनके छंद वीर-रस के लिये अधिक उपयुक्त हैं। उनकी क्लिष्ट भाषा भी वीर-रस की भाषा है। साधारण बातें तथा अन्य रस भी वे वीर-रस ही के शब्दों में कहते हैं। केशवदास स्वयं वीर योद्धा थे और अनेकों युद्धों में रह भी चुके थे। अतः वे तुलसीदास की अपेक्षा अधिक सजीव वर्णन कर सकते हैं।

शान्त रस का भी दोनों कवियों ने अच्छा वर्णन किया है। विज्ञान-गीता तथा रामचंद्रिका सप्तम् प्रकाश (उत्तर) काण्ड में शान्तरस का अच्छा वर्णन है। इनकी तुलना तुलसीदास के उत्तमोत्तम वर्णनों से अच्छी तरह की जा सकती है। उदाहरणः—

को है दमयन्ती (३६)

श्री शोभिजै सखि सुन्दरी

युद्ध को आजु भरथ चढ़े। (६७)

हिमांशु सूर सों लगै (६१)

उडै दिशा दिशा कपीश (१४३)

रण इन्द्रजीत अजीत (१४५)

खैंचत लोभ दशों दिशि को गहि (१८४)

ज्ञान निकेतन ज्ञाननि को कहि (१८५)

प्रकृति-निरीक्षण

केशव का प्रकृति-निरीक्षण तुलसी की अपेक्षा अधिक बढ़ा चढ़ा है। उन्होंने ऋतु, चंद्र-सूर्योदय, प्रकृति-छटाओं आदि के बहुत अच्छे अच्छे वर्णन किए हैं। तुलसीदास ने अगर प्रकृति-वर्णन किए भी हैं तो वे बहुत संक्षिप्त हैं। केशव के वर्णन अधिक कवित्त्व-पूर्ण तथा विस्तृत हैं। नवीन नवीन उपमाओं आदि से केशव के वर्णन सुन्दर हो गए हैं। तुलसी के वर्णन चाहे जितने कम और संक्षिप्त हों, किंतु वे अपनी स्वाभाविक सरसता के कारण अत्यन्त ललित हो गए हैं। यथाः—

देखि बाग अनुराग उपज्जिय	(रा० च० ५)
तरु तालीस तमाल ताल हिंताल०	(रा० च० १३)
अरुण गात अतिप्रात०	(१२)
तड़ाग नीर हीन ते सनीर होत	(६०)
पांडव की प्रतिभा सम लेखौ	(७८)
सुन्दर सेत सरोरुह में	(६२)
चिलकै दुति सूक्षम शोभति	(१६३)
भूतल की वेणी सी त्रिवेणी	(१६४)

अन्य वर्णन

तुलसीदास सभा-समाजों के वर्णन, वार्तालाप-वर्णन, घटनाओं के जीते जागते चित्र खींचने, धर्म-तत्व तथा उपदेश-वर्णन करने में केशवदास की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं। उनके वर्णन बहुत विस्तृत तथा सजीव है। तुलसी का नगर-वर्णन केशव ही के समान है। राम-राज्य के वर्णन भी दोनों के अच्छे हैं: किंतु केशव का यह वर्णन अधिक कवित्व-पूर्ण तथा युक्ति-पूर्ण है। दोनों ही ने राम-राज्य को आदर्श धर्म-राज्य बना दिया है। स्वयंवर, धनुष-यज्ञ पुष्प-वाटिका तथा राम-भरत-संवाद आदि के समान कोई भी वर्णन

केशवदास के काव्य में नहीं है। तुलसी के उक्त वर्णन के सामने केशव का कोई वर्णन नहीं टिक सकता।

लोगों के मनोभावों का भी तुलसीदास ने अद्वितीय वर्णन किया है। केशवदास शृंगार-रस के सिवा अन्य मानव भावों के वर्णन में सफल नहीं हुए। मानस तथा राम-चन्द्रिका के रावण-अंगद-वाद उत्तमता में बहुत कुछ एक से हैं। तुलसीदास का परशुराम-वाद केशव के परशुराम-वाद से कहीं अच्छा है।

पुष्पवाटिका के वर्णन में तुलसीदास ने मानवी मनोभावों का वर्णन किया है और केशव ने प्रकृति-छटा का। तुलसीदास ने अन्तर्जगत् के रहस्य खोले हैं और केशव ने बहिर्जगत् के।

केशवदास के मुक्ति-वर्णन, सरयू-वर्णन, राम-नख-शिख, पुष्पवाटिका, वन-छवि, ऋतु-वर्णन, सूर्योदय-वर्णन, आदि बहुत उत्तम हैं। इनमें से सीता-दर्शन में उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की अद्भुत छटा है।

शोभ द्रोण गिरिगण शिखर ऊपर (रा० ६)
मूलन ही की जहाँ अधोगति (रा० च० ८)
अमल, सजल घनश्याम वपु (४०)
वासौं मृग अंक के हैं (६१)
कलित कलंक केतु (६२)
भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर (१०१)
कलहंस कलानिधि खंजन कंज
दन्तावलि कुन्द समान मनो (१०२)
भावै जहाँ व्यभिचारी (२११)
जूझहि में कलह कलह प्रिय नारदै (२१२)

कथा-प्रसंग

दोनों ही कवियों ने वाल्मीकि ही को अपना आधार माना है। तुलसीदास ने वाल्मीकि-वर्णित कथा का अवलम्बन नहीं किया;

किन्तु केशव ने वाल्मीकि की कथा का ही ज्यों का त्यों अवलम्बन किया है। रामचन्द्रिका में परशुराम बरात को रास्ते में मिलते हैं, मानस के समान धनुष-यज्ञ में नहीं। केशव ने उत्तरराम-चरित का भी वर्णन किया है जिसमें,सीता-त्याग तथा लवकुश-युद्ध भी आ जाता है।

सिद्धान्त

दोनों ही कवियों ने राम- जी को परब्रह्म का अवतार माना है और वेदान्त मत का अनुसरण किया है।

ब्राह्मणों की भक्ति, तीर्थों का मान, मूर्ति-पूजन आदि हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों का दोनों के हृदय में आदर था।

दोनों के धार्मिक विचार एक ही से हैं। अतः यहाँ उनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। इतना अन्तर उल्लेखनीय है कि केशव ज्ञान-मार्ग के तथा तुलसी भक्ति-मार्ग के पक्षपाती और अनुयायी थे।

केशव में अपनी जाति का बहुत पक्षपात दिखाई पड़ता है। यदि निम्नलिखित पद्य उन्हीं का है तो इससे वे बड़े अनुदार तथा पक्षपाती सिद्ध होते हैं। राम के गुण-वर्णन करते हुए वे कहते हैं:—

"छाड़ि ऋषि द्विज देव ऋषिराज सब सुख पाए प्रगट सकल सनौढियन के पूजे पाय।"

क्या राम जी के समय में भी सनाढ्य आदि भेद थे?

तुलसीदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे। उन्होंने अपने किसी विशेष जाति के होने को जरा भी महत्व नहीं दिया—

रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोई।
धूत कहौ अवधूत कहौ। इत्यादि।

गोसाईं जी—"जाति पाँति धन धरमु बड़ाई।" आदि सब बातों से ऊँची एक वस्तु मानते थे और वह थी "राम-भक्ति"।

पातिव्रत धर्म के विषय में दोनों के एक से विचार थे।

दोनों ही कवियों में विश्व-प्रेम तथा देश-भक्ति का अङ्कुर था। भारतवर्ष की राष्ट्रीयता तथा उसकी एकता का दोनों को ज्ञान एवं अभिमान था। अपने ग्रन्थों में उन्होंने भारतवर्ष का सम्मान तथा पूज्य दृष्टि से अनेकों जगह उल्लेख किया है।

चरित्र-चित्रण

तुलसीदास मानव-चरित्र-चित्रण में अद्वितीय हैं। केशव के काव्य में मानव-चरित्र बिलकुल विकसित नहीं हो सका है। उनका लक्ष्य कवित्व पर ही अधिक रहा है। चरित्र-चित्रण पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। अतः चरित्र-चित्रण में केशवदास तुलसी की बिलकुल बराबरी नहीं कर सकते।

केशव ने केवल एक जगह राम-चरित्र पर कुछ प्रकाश डाला है। राजगद्दी के समय देव, किन्नर आदि ने जो स्तुति की है, उसमें राम के मानव-चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस स्तुति का अंश यहाँ उद्धृत कर देने से राम-चरित्र की विशेषताएँ प्रगट हो जाती हैं।

"काय वच मन नेम जानत शिला सम पर नारि।"

* * *

"साधु होय असाधु राखत द्विजन ही को मान॥"

* * *

"सूर सुन्दर सरस रवि रतिकरत रति कहँ लालि।
एक पत्नीव्रत निबाहत मदन को मद घालि॥
सुखद सुहृद सपूत सोदर हनन नृप जा काज।
पलक में सोइ राज छोड़्यो मातु-पितु की लाज॥
मंथरा सों मोद मानत बिपिन पठयो पेलि।
शूर्पनखा की नाक काटी करन आई केलि॥

* * *

अश्व ज्यों सीता विलोकी व्यग्र भ्रमत अनेक॥
सापराध असाधु अति सुग्रीव कीन्हों मित्र।
अपराध बिनु अति साधु बालहिं हन्यो जानि अमित्र॥
बाण बेझहिं आन को लगि नाम अपनो लेत।
काल सों रिपु आपु हति जय-पत्र औरहिं देत॥
पुण्यकाल न देत विप्रन तौलि तौलि कनंक।
शत्रु सोदर को दई सब स्वर्ण ही की लंक॥
एक पल बिनु पात खाये बार बार जम्हात।
वर्ष चौदह नींद भूख पियास छोड़ी गात॥
छमै वर अपराध अपने कोटि कोटि कराल।
अपराध एक न छम्यो गो-द्विज दीन को सब काल॥
यद्‌पि लक्ष्मण करी सेवा, सर्व भाँति सभेव।
तद्‌पि मानत सर्वथा करि भरत ही की सेव॥
कहत इनको सर्व साँचे सकल राना राव।
ननक सेवा दास की कहैं कोटि गुणित बनाव॥
एक पल उर माँझ आये, हरत सब संसार।
आय के संसार महँ इन हरेउ भूतल-भार॥"

उक्त वर्णन में और सब बातें तो राम-चरित्र की महत्ता की बोधक हैं, केवल दो बातें हमारे चित्त में नहीं जमतीं। एक तो यह कि उन्होंने अपराधी-पुत्र सुग्रीव को मित्र जान स्वीकार किया और शत्रु बालि को निरपराध होने पर भी मार डाला। यह सरासर अन्याय है। यह कोई चरित्र की महत्ता नहीं कि निरपराध शत्रु मारा जाय। राम ने उसे दुश्चरित्र जानकर ही मारा था, शत्रु समझकर नहीं।

दूसरी बात यह कि लक्ष्मण की प्रचुर सेवा पर कुछ ध्यान न देते हुए भरत का ही उन्होंने आदर किया। इसमें क्या महत्ता हुई? उलटे अगर राम ने ऐसा किया तो ठीक नहीं किया। भरत की

भक्ति लक्ष्मण की सेवा से कहीं अधिक थी; किंतु राम जी सब पर समान भाव से प्रेम रखते थे।

चरित्र-संबंधी एक और छंद उल्लेखनीय हैः—

बोलि न बोल्यो बोल (रा० पृ० ३)

अन्य चरित्रों पर केशवदास ने बहुत कम प्रकाश डाला है। उनके काव्य में चरित्र-चित्रण बिलकुल ही विकसित नहीं हो सका है। तुलसी की चरित्र-चित्रण योग्यता से केशवदास की तुलना ही नहीं की जा सकती।

हम संक्षेप में दोनों महाकवियों की तुलना करके, अपनी अल्प बुद्धि तथा अपने परिमित अध्ययन के अनुसार जो हमारे विचार थे, ऊपर लिख चुके।

दो वस्तुओं, मनुष्यों या कवियों की तुलना करते समय लोगों के हृदय में सहज ही यह विचार उठता है कि इन दोनों में अच्छा या बड़ा कौन है? किंतु सर्वदा एक चीज दूसरी चीज से सब बातों में श्रेष्ठ नहीं हुआ करती। किसी बात में एक चढ़ी-बढ़ी होती है तो दूसरी बातों में दूसरी। यही बात इन कवियों के विषय में भी ठीक माननी चाहिए।

हिंदी में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध हैः—

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केशवदास।"

इसके अनुसार सूरदास तथा तुलसीदास को तो अत्यन्त उच्च पद दिया जाता है और केशवदास को अत्यन्त ही क्षुद्र स्थान। हमारा तो विश्वास है कि लोगों ने अभी तक केशवसाद की कविता का आस्वादन ही नहीं किया, अन्यथा वे ऐसी बात न कहते। अन्य दो महाकवियों को चंद्र-सूर्य कहना और केशवदास को केवल तारा समझना उनके प्रति—नहीं, समस्त हिंदी–साहित्य के प्रति—अपमान तथा अन्याय करना है। हमारा तो दृढ़ विश्वास है, और यह विश्वास अध्ययन और विचार करने पर हुआ है कि केशवदास

को किसी से ऊँचा नहीं तो नीचा स्थान भी नहीं दिया जा सकता। यदि सूरदास सरसता और पूर्णता के लिये अनन्य हैं तथा तुलसीदास अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के लिये और सरस तथा सरल कवित्व के लिये अनन्य हैं, तो केशवदास भी अपनी गम्भरीता तथा अर्थ-गौरवता के लिये हिंदी में अद्वितीय हैं।

अपनी इस भाव-गम्भीरता ही के कारण वे लोगों में इतने प्रसिद्ध न हो सके। उनके काव्य को लोग कठिनता के कारण प्रेतकाव्य कहकर छोड़ देते हैं। एक महाकवि के प्रति इतनी उपेक्षा हमारी बुद्धि की ही उपेक्षा है।

यदि धर्म के सांगोपांग-विवेचन में, अमृत वाणी के धाराप्रवाह में, सरस कवित्व में केशवदास लोगों को तुलसीदास के समान सामग्री नही दे सकते तो गंभीर कवित्व और अर्थ-गौरव की दृष्टि से ही उनके काव्य के अधिक प्रचार की बहुत आवश्यकता है।

---

(१५) बरवै-रामायण

[लेखक—पं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए० एल एल बी०]

परिचय

संसार-साहित्य के मुकुट महात्मा तुलसीदास जी की पुनीत रचनाओं में 'बरवै रामायण' का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। क्रमबद्ध रामचरित वर्णन करनेवाली रचनाओं में यह ग्रंथ छोटा होने पर भी बड़ा ही महत्वपूर्ण है। कविवर रहीम को छोड़कर गोस्वामी जी के समान और कोई कवि बरवै छंद का सफलतापूर्वक प्रयोग करने में समर्थ नहीं हुआ है। ३८ मात्रा के इस छोटे से छंद में खूब विस्तृत भाव दिखलाकर गोस्वामी जी ने अपनी प्रतिभा का अनूठा परिचय दिया है। बरवै रामायण में कुल ६९ बरवै हैं। इन्हीं ६९ बरवों के अंतर्गत अति संक्षेप में राम-चरित का वर्णन किया गया है। प्रति कांड के वर्णन में बरवों का हिसाब इस प्रकार है—

बालकांड	बरवै संख्या	१९
अयोध्या कांड	”	८
अरण्य कांड	”	६
किष्किंधा कांड	”	२
सुंदर कांड	”	६
लंका कांड	”	१
उत्तर कांड	”	२७
		६९

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बरवै रामायण में विशेष करके बालकांड और उत्तर कांडवाले रामचरित का ही प्राधान्य है। 'बरवै' छंद को बरवा, ध्रुव, कुरंग तथा मोहनी भी कहते हैं।

मोहनी और बरवै में कुछ आचार्यों ने इतना भेद माना है कि बरवै के अंत में जगण और मोहनी के अंत में सगण होना चाहिए। इस छंद में ३८ मात्राएँ होती हैं और यति १२ और ७ पर होती है।

भाषा

बरवै छंद में कविता करनेवाले प्राचीन तथा आधुनिक कवि कुछ शब्दों को प्रायः एक दूसरे ही रूप में व्यवहार करते हैं। इस छंद में आते न आते 'उरोज' 'उरोजवा' और 'करेज' 'करेजवा' रूप पा जाता है। इस प्रकार बहुत से शब्दों में कवि जान बूझकर परिवर्तन कर देते हैं। इस परिवर्तन से कभी कभी प्रान्त विशेष की बोली को लक्ष्य में रखते हुए छंद में स्वाभाविकता का संचार हो जाता है; क्योंकि 'करेजवा' आदि शब्द विशेष घरेलू होने से हृदय पर अधिक प्रभाव डालते हैं। फिर भी कभी कभी ऐसे शब्दों के व्यवहार से छंद में कृत्रिमता और ग्राम्यता की छाया भी झलकने लगती है। दोनों प्रकार के उदाहरण लीजिए—

लहरत लहर लहरिया, अजब बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार॥
जस मदमातल हथिया हुमकत जाति।
चितवत जाति तरुनियाँ मन मुसकाति॥

उपर्युक्त दोनों ही 'बरवै' सुकवि रहीम की सरस रचनाएँ हैं। हमारी राय है कि प्रथम छंद में स्वाभाविकता है, पर दूसरे में कृत्रिमता और ग्राम्यता की भी छाया मौजूद है। 'लहरिया' और 'किनरिया' का जो प्रभाव हृदय पर पड़ता है, वह 'तरुनिया' का नहीं पड़ता; क्योंकि 'तरुणी' शब्द साहित्यिक भाषा का है, उसका व्यवहार सहज बातचीत में, घरों में बहुत कम होता है। तब उसी 'तरुणी' से जो 'तरुनियाँ' बनाया गया है, वह और भी कृत्रिम है। हर्ष की बात है कि गोस्वामी जी ने 'बरवै [illegible]' में इस प्रकार के शब्द-परिवर्तन बहुत कम किए हैं। उनकी

समूह सुष्ट योजना से भूपित हैं एवं पद्यप्रवाह नितांत स्वाभाविक है। उदाहरण लीजिए:—

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥
कोउ कह नर नारायन हरिहर कोउ।
कोउ कह विहरत बन मधु मनसिज दोउ॥

अलंकार

इस पुस्तक में अनेकानेक 'बरवै' ऐसे बन पड़े हैं, मानों गोस्वामी जी ने उन्हें अलंकार विशेष के उदाहरण के लिये ही रचा हो। कुछ उदाहरण लीजिए:—

जटा मुकुट कर सर धनु संग मरीच।
चितवनि वसति कनखियनु अँखियनु बीच॥ (स्वभावोक्ति)

अब जीवन की है कपि आस न कोय।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होय॥ (अतिशयोक्ति)

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वहु निसि दिन यह विगसाय॥ (व्यतिरेक)

गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि सूरति सिय कै छाँह॥ (प्रतीप)

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥ (तद्गुण)

वर्णन-शैली

गोस्वामी जी का भाव अभिव्यक्त करने का ढंग बिलकुल निराला है। वे जिस बात को कहना चाहते हैं, उसे इतने कौशल से कहते हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। उनके वर्णनों में कला और स्वाभाविकता का विछोह नहीं होने पाता। चाहे कला की दृष्टि से लीजिए, चाहे स्वाभाविकता की दृष्टि से, गोसामी जी दोनों ही का

परिस्फुटन मार्मिकता के साथ करते हुए दिखाई देते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए।

(१) कुंकुम तिलक भाल श्रुति कुंडल लोल।
काकपच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल॥

कितनी मनोहर शब्द-योजना है! कला का कैसा सुंदर सजीव नमूना है! उधर स्वाभाविकता की भी कैसी मनोमोहिनी बहार है! श्रीराम की किशोरावस्था का चित्र अंतर्चक्षुओं के सामने कितनी स्पष्टता के साथ जगमगा रहा है! क्या मजाल कि छंद में एक मात्रा भी व्यर्थ हो।

(२) श्रीराम और जानकी अंतःपुर में उपस्थित हैं। सीता जी की सखियाँ भी वहीं मौजूद हैं। दंपति को सुखद विहार करने में सखियों की उपस्थिति में संकोच होगा, यही सोचकर सखियाँ वहाँ से टल जाना चाहती हैं। एक सखी कुछ हँसती हुई मीठी वाणी से कहती है—चलो, यहाँ से चलें; दंपति के नेत्र उनींदे हो रहे हैं। उन्हें सोने दें।

यह कथन कितनी चतुरता का है। इसमें सरसता और विदग्धता का कैसा मनोरम चमत्कार है। यहाँ पर भी स्वाभाविकता ने कला का पल्ला नहीं छोड़ा है। परिहास कितना सुकुमार और चुटीला है! अश्लीलता के भाव की परछाँही भी नहीं पड़ने पाई है। कैसा अमूल्य बरवै है!

उठो सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुवर के भये उनींदे नैन॥

कविवर बिहारीलाल ने भी इस भाव से मिलता जुलता एक भाव अपने दोहे में अभिव्यक्त किया है। उसे भी पाठकगण देख लें।

पति रति की बतियाँ कहीं सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥

यहाँ बात ही दूसरी है। सखियों में इतनी समझ नहीं कि स्वयं

टल जायँ। पति में इतना संकोच नहीं कि सखियों के सामने रति के प्रस्ताव से विरत रहे। उधर पत्नी भी इतनी कामातुरा है कि तुरंत सखियों को चलता कर देती है। उसे बात छिपाने का ढंग भी नहीं मालूम है, क्योंकि उसकी मुसकराहट से सखियाँ हृदय की बात तत्काल समझ जाती है। इसमें अश्लीलता की छाया पूर्ण रीति से पड़ रही है। गोस्वामीजी के बरवै में शृंगार का जो पुनीत चित्र है, वह दोहे में कामुकता के कलंक से मलिन हो गया है।

(३) शूर्पणखा श्री राम के पास जाती है और विवाह का प्रस्ताव करती है। वे उसे लक्ष्मण के पास भेजते हैं तथा नाक-कान काट लेने का इशारा भी करते हैं। इस भाव को गोस्वामी जी ने एक ही 'बरवै' में दर्शाया है। श्री राम ने चतुरता से इशारा किया था। गोस्वामी जी ने उसका वर्णन भी कौशल के साथ किया है। श्री राम वेद और आकाश शब्दों का उच्चारण करते हैं और फिर अंगुलि-निर्देश से उनके काट लेने का भाव जताते हैं। स्मरण रहे कि वेद का पर्याय श्रुति भी है और श्रुति का अर्थ वेद और कान दोनों हैं। इसी प्रकार आकाश का पर्याय नाक भी है। सो लक्ष्मण जी वेद और आकाश के यथार्थ अर्थ को तत्काल समझ लेते हैं और श्री राम की आज्ञा का पालन कर डालते हैं।

वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥

(४) जंगल में घास के समान तुलसी का महत्व और क्या है? पर देखो, राम नाम जपने का यह प्रभाव हुआ कि 'तुलसी' तुलसी-दास कहे जाने लगे। कैसा मार्के का 'बरवै' है!

केहि गनती मँह गनती जस बन घास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥

इस छंद द्वारा गोस्वामी जी ने अपनी हीनता, राम-जप की महत्ता तथा उसी के संयोग से अपने समादृत होने का परिचय दे

डाला है। तुलसी की बनघास से बड़ी अच्छी उपमा हुई है। ठाकुर जी पर चढ़ने के कारण ही तुलसी (घास) का इतना आदर है। उधर रामभक्त होने के कारण ही महात्मा तुलसीदास विश्व-विदित हैं।

मुख्य विषय

बरवै रामायण का मुख्य विषय राम-नाम-महिमा का बखान है। उत्तर कांड का अधिक भाग नाम-महिमा के निरूपण में ही लगाया गया है। रामचरित मानस में बालकांड में गोस्वामी जी ने इस संबंध में जो कुछ कहा है, प्रायः वही सब बरवों में भी कहा गया है। इतना होने पर भी दोनों वर्णन विलग और नवीन मालूम होते हैं। धन्य गोस्वामी जी का राम-नाम-स्नेह !

तुलसी राम नाम जपु आलस छाँड़ु।
राम विमुख कलिकाल को भयो न भाँड़ु॥
तुलसी राम नाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु॥
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु॥

सदृश भाव

३८ मात्राओं के बरवै छंद में गोस्वामी जी ने जो भाव भरा है, उसे अन्य बड़े बड़े कवि अपेक्षाकृत लंबे छंदों में भी नहीं व्यक्त कर पाए हैं। गोस्वामी जी के पूर्ववर्ती बड़े बड़े कवियों ने इनके छोटे से बरवै में दिए हुए भाव को अपनाने का उद्योग किया है। केवल एक इसी बात से बरवै रामायण का महत्व प्रतिपादित हो जाता है। उदाहरण के लिये कुछ सदृश भाव नीचे दिए जाते हैं।

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाय।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाय॥ —तुलसी।

रंच न लखियत पहिरिये कंचन से तन बाल।
कुम्हिलाने जानी परै उर चंपे की माल॥ —बिहारी

अब जीवन कै है कपि आस न कोय।
कनगुरिया के मुँदरी कंकन होय॥ —तुलसी।

तुम पूछत कहि मुद्रिकै मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई तुम बिनु या कहँ राम॥ —केशव।

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत॥ —तुलसी।

मुकुत हार हरि के हिये मरकत मनिमय होत।
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत॥ —मतिराम।

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाय।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुताय॥ —तुलसी।

सखियाँ ह्वै मेरी मोहिं अँखिया न सीचतीं तौ
याही रतिया में जाती छतिया छूट्क ह्वै॥ —देव।

ऊपर जो दो चार उदाहरण दिए गए हैं, उनको देखकर पाठक-गण स्वयं निर्णय कर सकते है कि पूर्ववर्ती कवि के भाव का अपहरण करके भी परवर्ती कवि भाव में किसी नूतन चमत्कार का समावेश नहीं कर सके हैं।

मतिराम ने मुख-मुसकानि की आभा से पूर्व रूप का आविर्भाव करने में कुछ चतुरता अवश्य दिखलाई है, पर गोस्वामी जी के आगे नहीं निकल सके हैं। बिहारी ने तो सीधी चोरी की है। उन्होंने दोहे में 'कंचनतन' जोड़कर कोई खूबी नहीं पैदा की। केशव का वर्णन बिलकुल बिलग है। संभव है कि यह तुलसीदास के बरवै को देखकर न बना हो और 'प्रसन्न राघव' या 'हनुमन्नाटक' के इसी भाववाले श्लोक का अनुवाद मात्र हो। कुछ भी हो गोस्वामी जी

का भाव इस तुलना में भी बढ़कर है। देव ने आँखों को सखी का पद प्रदान किया है और उन्हीं के द्वारा नायिका के जीवन की रक्षा करवाई है क्योंकि यदि आँखें अश्रु-सिंचन न करतीं तो छाती टूक टूक हो जाती और नायिका मर जाती। रोने से दुख हलका होता है, इस श्लोक-प्रसिद्ध ज्ञान का समावेश देव जी ने अच्छे ढंग से किया है। अश्रु-प्रवाह से दुःख में कमी होगी और इस तरह जीवन-रक्षा होगी। यह काम आँखे करती हैं, इसलिये उन्हें 'सखियाँ' कहना वाजिब है। देव ने भाव में इतनी ही नूतनता पैदा की है। इस प्रयत्न के कारण यद्यपि वे चोरी के इलज़ाम से बरी होते हैं, फिर भी तुलसीदास के भाव के आगे वे भी नही निकल सके हैं। विरह-विधुरा सीता विरहताप में अपने प्राण गँवाने के लिये तुली बैठी हैं; परंतु आँखें उनके इस काम में बाधा डालती हैं, इसलिये सचमुच वे शत्रुता का काम कर रही हैं। सो गोस्वामी जी का उनको 'बैरिनि' कहना कितना उपयुक्त है। बरवै में निराशा और कातरता का भाव जिस खूबी से प्रकट किया गया है, वह देव के छंद में नहीं है।

सारांश

बरवै रामायण एक बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। यह अत्यंत छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा नितान्त प्रांजल, शुद्ध और सरल है। अन्य बरवै-कारों के समान गोस्वामी जी के छंदों में शब्द विशेष रूपों में बहुत कम व्यवहृत किए गए हैं। प्रत्येक 'बरवै' कला की दृष्टि से अनुपम बन पड़ा है। अनेक अलकारों के उदाहरण स्वरूप 'बरवै रामायण' के छंद उद्धृत किए जा सकते हैं। इन बरवों में स्वाभाविकता भी कूट कूटकर भरी है। गोस्वामी जी की वर्णन-शैली भी अनूठी है। उसमें कला और स्वाभाविकता का मनोरम संयोग पाया जाता है। बरवै रामायण में मुख्यतया राम नाम की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। बरवै रामायण में बहुत से

ऐसे भाव भी हैं जो रामचरित मानस में विस्तार के साथ कहे ग
हैं। परवर्ती कवियों ने अनेक बरवों के भावों को अपनाने की चे
की है, पर गोस्वामी जी के आगे निकलने का सौभाग्य कि
कवि को नहीं प्राप्त हुआ। सब बातों पर विचार कर चुकने के ब
निष्कर्ष यही निकलता है कि 'बरवै रामायण' भाषा-साहित्य का ए
उत्कृष्ट ग्रंथ है और हिंदी-भाषा-भाषियों को अपने साहित्य-भंडार
इसे मौजूद पाकर हर्ष होता है। जिन कवि-कुल-कलश गोस्वा
तुलसीदास जी ने हमारे लिये इस ग्रंथ की रचना की, क्या उन
हम कभी भूल सकते हैं ?

---

(१६) महाकवि तुलसीदास

[लेखक—श्रीयुत बा० जयशंकर प्रसाद]

(चतुर्दशपदी)

"अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा।
सकल चराचर जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा॥"
इस शुभ सत्ता को जिसने प्रत्यक्ष किया था।
मानवता को सदय राम का रूप दिया था॥
नाम निरूपण किया, रत्न से मूल्य निकाला।
अंधकार भवबीच नाम-मणिदीपक वाला॥
दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था।
भक्ति-सुधा से जो संताप हरण करता था॥
प्रभुका निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना।
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना॥
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का।
अनुभव था संपूर्ण जिसे उसकी विभुता का॥
राम छोड़कर और की, जिसने कभी न आस की।
'राम चरितमानस कमल' जय हो तुलसीदासकी॥
